दयानन्द युगीन स्मृतियाँ

रामनाथ 'सुमन'

छायावादयुगीन स्मृतियाँ

रामनाथ 'सुमन'

जब नवीन उपासक दीक्षा ले रहे थे तब साहित्य में ऐसे भी गुरुजन थे जिनका जीवन उपासना की वेदी पर अर्पित हो चुका था। इन्हीं गुरुजनों और साथियों में से कुछ की स्मृतियां और उनके व्यक्तित्वों की एक रूपरेखा इस रचना में मोहैया की गई हैं। कुछ ऐसे लोग जो लेखक की वंदना या स्नेह के पात्र रहे यहां उद्धृत नहीं हो पाए हैं, इसलिए नहीं कि उनका महत्व कम था या लेखक की स्मृति कमजोर थी ; बल्कि उनमें से अनेक लेखक की जीवन-रचना, व्यक्तित्व एवं हृदय की गूढ़तम अभिव्यक्तियों के प्रियतम साथियों में रहे हैं। उनका स्मरण फिर किया जाएगा।

काशी की स्मृति और चेतना इस ग्रंथ में उजागर हुई है।

मूल्य : 20.00

[illegible] – पृ० 146

पुस्तं मार्गदर्शक - पृ 145

छायावादयुगीन स्मृतियां

छायावादयुगीन स्मृतियाँ

रामनाथ 'सुमन'

M

दि मैकमिलन कंपनी ग्राफ इंडिया लिमिटेड
दिल्ली बंबई मद्रास कलकत्ता
समस्त विश्व में सहयोगी कंपनियां

प्रथम सस्करण : 1975

इस पुस्तक में भारत सरकार से रियायती दर
पर प्राप्त कागज इस्तेमाल किया गया है।

एस० जी० वसानी द्वारा मैकमिलन कंपनी ग्राफ इंडिया लिमिटेड के लिए प्रकाशित
ग्रौर स्वॅन प्रेस ग्राफ लाहौर, 3, चमेलियन रोड, दिल्ली-110006 द्वारा मुद्रित

Râmnath 'Suman': CHHAYAWADYUGEEN SMRITIYAN

भूमिका

'छायावादयुगीन स्मृतियां' की भूमिका क्या होगी, जब पुस्तक स्वयं ही अपनी और उस युग की भूमिका है। उसमें जिन महाप्राण साहित्यकारों की चर्चा है, उनमें से एक-एक पर स्वतंत्र ग्रंथ लिखे जा सकते हैं—लिखे भी गये हैं श्रौर बराबर लिखे जा रहे हैं। मैंने तो उनके जीवन के 'स्नैप' मात्र दिये हैं। कुछ क्षण मात्र हैं जो पकड़ में आ गये हैं किंतु कभी कभी एक क्षण भी शाश्वत हो जाता है। भौतिक दृष्टि से जो बीत गया है उस विगत की सूखी हड्डियों में जीवन की संवेदना का रक्त भर देने का ही नाम है संस्मरण। स्मृति भूत को वर्तमान से जोड़ती है श्रौर अपने इंगित से भविष्य का प्रक्षेपण करती है। इसीलिए बीते दिनों की याद में प्राणों का सम्मोहन है; यहां कुछ भी भूत या मृत नहीं, सब में जीवित का स्पर्श और स्पंदन है।

इन पृष्ठों में छायावाद युग के श्रनेक व्यक्तित्व लेखक के संपर्क में आते हैं। सब प्रकार के खंडन-मंडन और परस्पर-विरोधी वक्तव्यों के बावजूद 'छायावाद' युग हमारे साहित्य का 'रिनैसां' काल है। इसमें अपूर्व जागरण है; इसमें यौवन की श्रंगड़ाई और मीड़ है; इसमें गहरी संवेदनाएं और संभावनाएं हैं और जीवन जिससे जीवन है, उस प्रेम तथा शृंगार की एक स्वत: उच्छ्वसित, घनीभूत और परिष्कृत अभिव्यक्ति है जिसकी साकारता में निराकारता की झलक है। यहां साहित्य में जीवन ने सौ-सौ मनोरम भंगिमाओं में श्रपने को व्यक्त और दृढ़ ('असर्ट') किया है।

इस युग पर दृष्टि डालते हैं तो ज्ञात होता है कि न केवल काव्य में, अपितु साहित्य की प्रत्येक विधा में अभूतपूर्व जागरण, प्रसार एवं प्रगति का स्वर है। युग के मंच पर एक से एक प्रतिभाएं आती हैं और बिना विशेष पुरस्कार या अपेक्षा के, ईमानदारी के साथ श्रपना अभिनय करती हैं। मैथिलीशरण और हरिऔध, रत्नाकर और भारतीय श्रात्मा, श्यामसुंदर दास और रामचंद्र शुक्ल, पद्मसिंह शर्मा श्रौर मिश्रबंधु, प्रसाद और प्रेमचंद जैसी प्रौढ़ प्रतिभाएं एक साथ और किस युग में अवतीर्ण हुई हैं ? यह भी कि युग इन्हीं में जीकर समाप्त नहीं हो गया; अनेकानेक तरुण प्रतिभाओं ने उस समय मुकुलित

होकर अपने अग्रजों की प्रतिष्ठा—परंपरा को न केवल कायम रखा वरं आगे भी बढ़ाया। निराला, पंत और महादेवी, द्विज, दिनकर और नेपाली, नवीन, प्रभात और केसरी, उग्र और बेढब, माधव और विनोद, हजारीप्रसाद द्विवेदी और नन्ददुलारे वाजपेयी, इत्यादि ने आगे चलकर काव्य, उपन्यास, नाटक तथा समीक्षा के क्षेत्र में कीर्तिमान स्थापित किये। ब्रजभाषा की काव्य-परंपरा तथा पुरानी विधा के आचार्यत्व के क्षेत्र में भी जगन्नाथप्रसाद 'भानु', कन्हैयालाल पोद्दार, अजमेरी, शंकर, सनेही, अनूप इत्यादि ने सामर्थ्य का परिचय दिया और यश प्राप्त किया। इनमें से कई ने पुरानी काव्य तथा काव्यांग-परंपरा में नवीन उद्भावनाएं स्थापित कीं। इसी प्रकार पत्रकारिता में यशस्वी नाम महावीरप्रसाद द्विवेदी, लक्ष्मणनारायण गर्दे, अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी, बाबूराव विष्णु पराड़कर इत्यादि प्रायः उसी युग से संबद्ध हैं। और भी कितने ही यशस्वी नाम हैं परंतु सबको गिनाना आवश्यक नहीं। मतलब कि प्रत्येक क्षेत्र और विधा में छायावाद युग, जो मोटे तौर पर 1915 से 1965 ई० तक के लंबे 50 वर्षों में फैला रहा है, एक गौरवशाली परंपरा छोड़ गया है और आधुनिक युग के लिए उसकी देन अपूर्व है।

जब 1918 में मेरी प्रथम कविता प्रकाशित हुई तो एक नवीन युग के जागरण और आलोड़न का अस्पष्ट अनुभव मुझे होने लगा था। इसे मैं उपलब्धि और क्षमता की अपेक्षा अपना सौभाग्य ही मानता हूं कि उस युग के प्रधान अभिनेताओं में से अनेकानेक के व्यक्तिगत संपर्क एवं स्नेह का लाभ मुझे प्राप्त हुआ। इस प्रकार मैं मानो युग की हृदयस्थली में उठने वाली तरंगों और उनकी अमित संभावनाओं का एक साक्षी था। इन पचास वर्षों के कालाभिनय में मैं दर्शक भी रहा हूं और अभिनेता भी। इसलिए मैंने उस स्वर्णिम युग की, जो किसी न किसी रूप या अंश में आज भी वर्तमान है, कुछ रेखाएं, कुछ स्नैप यहां प्रस्तुत किये हैं। जिन्हें मैं भूलकर भी किसी तरह भूल नहीं पाता हूं, उनके कुछ आकृति-चित्र, इन स्मृतियों में आपको मिलेंगे। जो कहा गया है उससे बहुत अधिक अनकहा रह गया है। जीवन में बहुत कुछ ऐसा होता है जिसे वाणी पकड़ नहीं पाती। फिर भी जो कभी पकड़ में आ जाता है, वही है साहित्य। मैं समझता हूं कि साहित्य के सहृदय पाठकों एवं शोध कार्य में लगे हुए अध्येताओं के लिए भी ये स्मृतियां एक ज्योति-रेखा का काम देंगी।

रामनाथ 'सुमन'

77/156 लूकरगंज,
इलाहाबाद-1
23-8-75

अनुक्रम

1

वाराणसी और छायावाद

वाराणसी और छायावाद दोनों का हिंदी के आधुनिक साहित्य में प्रमुख स्थान है। संपूर्ण छायावाद युग और उसके प्रधान अभिनेताओं से मेरा बड़ा घनिष्ठ और दीर्घ संपर्क रहा है। उनमें से बहुतेरे आज चले गए हैं, कुछ बच गए हैं किंतु लड़खड़ा रहे हैं; पता नहीं, कब चले जाएंगे। मैं भी इन्हीं में से एक हूं। इसलिए उस स्वर्णिम युग की जितनी भी झांकियां मैं छोड़ जा सकूं, छोड़ जाना चाहता हूं। इनमें से अधिकांश वाराणसी या काशी के परिप्रेक्ष्य में हैं।

वाराणसी और छायावाद दोनों शब्द ऐसे हैं कि जब भी कानों में पड़ते हैं, मुझे बेचैन कर देते हैं। अगणित स्मृतियां करवट लेने लगती हैं; पुराने, भूल से रहे सपने साकार हो जाते हैं और सोया मन आंखें मलने लगता है। हृदय की मौन जिह्वा मुखर हो उठती है।

वाराणसी में जन्मा; वाराणसी की मिट्टी में पला। वहां खेला; वहां सपने देखे—बचपन के और किशोरावस्था के सपने। किशोरावस्था और यौवन के उमंगों से भरे दिन, जहां हजार-हजार सपने साकार होते हैं; टूटते हैं, मिटते हैं और फिर साकार होते हैं; जहां दिल खोता है और पाता है, पाता है और खोता है—मानो खोने में ही पाने का आनंद है। हां, तो ऐसे सोने और रूप के दिन जहां बीते हों, उस वाराणसी का नाम सुनते ही एक अदृश्य जगत् प्रत्यक्ष हो जाता है।

यह वाराणसी केवल मेरी जन्मभूमि नहीं है: अपनी जन्मभूमि किसे प्रिय नहीं होती?—'जननीजन्मभूमि श्च स्वर्गादपि गरीयसी।' यहां तो जननी भी थी, जिसने हमारे लिए इतना सहा है कि वाणी मौन रहकर ही अपनी लाज बचा सकती है, और जन्मभूमि भी। किंतु वाराणसी केवल मेरी जन्मभूमि नहीं, यह भारतीय संस्कृति की केंद्रभूमि है; यह हिंदू धर्म की जन्मभूमि है; यह संस्कृत विद्या की पोषण-भूमि है; यह शास्त्र-मर्यादा की रक्षक भूमि है; यह

शिव की लीलाभूमि है—हिंदू धर्म के आचार्यों में से कोई जहां से विजयी होकर नहीं लौटा, मां—जिसके आगे सब ने मस्तक टेक दिया है; सबको, अशरण को शरण देने वाली मेरी वह जन्मभूमि—'येषां क्वापि गतिर्नास्ति तेषां वाराणसीगतिः ।'

मेरे स्मृतिपट पर उभर रहा है एक दृश्य । दोपहर हो चली है । आद्य शंकराचार्य वाराणसी की एक संकरी गली से जल्दी-जल्दी स्नानार्थ गंगातट की ओर चले जा रहे हैं । स्नान को देर हो गई है । मार्ग में एक चांडाल, कुत्तों के साथ, आगे-आगे चला जा रहा है । शंकर को, आगे बढ़ने में, बाधा पड़ती है । कहते हैं : 'हटो चांडाल, नहीं तो मैं अपवित्र हो जाऊंगा ।'

चांडाल घूमकर शंकर की ओर देखता है; फिर उनकी ओर जरा बढ़ आता है । पूछता है : 'किसे हटने को कहते हो संन्यासी ? मेरे शरीर को, जो नश्वर है, असत् है ? या मुझमें निहित ब्रह्म को, जो तुममें मुझमें और सब में एक समान व्याप्त है ?'

शंकर की आंखें खुल जाती हैं और उन्हें अद्वैत का बोध होता है । चांडाल इसी बीच कहीं लुप्त हो जाता है । परंपरा की जिह्वा कहती है कि स्वयं भगवान विश्वनाथ ने चांडाल का रूप धारण करके, शंकर को यह आत्मबोध कराया था ।

मां की सर्वग्राहिणी की ममता : इस मां की ममता ऐसी है कि कहीं चले जाओ—कलकत्ता, बंबई, दिल्ली या समुद्र पार विदेशों में, उसकी गोद में पले को कहीं अच्छा नहीं लगता; कहीं उसे वह घरेलूपन, वह निजत्व नहीं मिलता, जो वाराणसी की अपनी विशेषता है, इसलिए बनारसी 'जीव' अन्यत्र शांति नहीं पाता, सहज-सरल नहीं हो पाता । मैं इस वेदना को जानता हूं क्योंकि जीविका, समाज-सेवा, साहित्य और राजनीति ने मुझे युगों तक उससे दूर रखा है । क्या कहूं अपना दुःख ! उससे यही कहता रहता हूं :

कुटिल करम लै जाय मोहिं । जहं-जहं अपनी बरियाई ।
तहं-तहं जनि छिन छोह, छांड़िए, कमठ-अंड की नाईं ।

छायावाद युग का आरंभ : परंतु केवल काशी या वाराणसी की ही तो कसक नहीं है; छायावाद युग की स्मृतियां भी साथ लगी हैं । छायावाद युग के आरंभ की कोई निश्चित तिथि नहीं बताई जा सकती, किंतु मनोवैज्ञानिक धरातल पर होने वाले परिवर्तनों की दृष्टि से प्रथम महायुद्ध के बाद ही उसका आरंभ मानना समीचीन होगा । वस्तुतः राष्ट्र के शरीर (राजनीति) और मानस (कला साहित्य) में एक साथ ही नया युग आया । भारतीय राजनीतिक क्षितिज पर गांधी का उदय और हिंदी साहित्य में एक नवीन भावोन्मेष का प्रारंभ, प्रायः एक साथ हुआ । तब से 1940 तक का युग छायावाद का युग

है, यद्यपि उस युग की परंपराएं, अनेक वादियों-प्रतिवादियों के आक्रमण के बाद भी, आज तक फूल-फल रही हैं।

अपनी बात : महायुद्ध के बाद मैंने होश संभाला ही था। अंग्रेजों की कुटिल शासन नीति का स्पष्ट आलोचक होने के कारण गांव के बहुत-से भाई 'जर्मनी' कहते थे। एक सर्वग्राही चेतना मेरे अंदर करवट ले रही थी। स्वभावतः उसमें जिज्ञासा थी और कुमारावस्था में समर्पण की जो सुप्त भावना होती है, वह भी थी। धार्मिक वृत्ति के कारण वह रहस्यमयी थी। इस प्रकार मैं ऐसे युग में उभरा जो एक अजीब मस्ती और रहस्य से भरा था। एक दीवानापन मस्तिष्क में, एक नशा आंखों में, एक सुरूर दिल में; तूफान में हिचकोले खाती हुई नाव-सी जिंदगी। इसी काल में राष्ट्रीयता एवं धर्म-जिज्ञासा का उन्मेष हुआ और इसी काल में हिंदी के अध्ययन एवं सेवा की तीव्र अभिलाषा भी जागृत हुई।

साहित्यकारों एवं विद्वानों का जमघट : सौभाग्य से उस युग की काशी विद्वानों, साहित्यकारों, आलोचकों, धर्मनेताओं और कलाकारों से ऐसी भरी थी जैसे सावन का आकाश वारिदमाला से भरा होता है। संस्कृत एवं हिंदी दोनों क्षेत्रों में उसकी समृद्धि का क्या कहना था! श्रद्धेय पं० मदनमोहन मालवीय के अलावा योगी विशुद्धानन्द, स्वामी ज्ञानानंद, स्वामी दयानंद, श्री प्रमथनाथ तर्कभूषण, श्री यादवेश्वर तर्करत्न, कविराज गोपीनाथ जी, गोस्वामी दामोदरलाल जी, कवि-चक्रवर्ती देवीप्रसाद, श्री भगवानदास जी, ज्योतिषी अयोध्यानाथ जी, पं० लक्ष्मण शास्त्री द्रविड़, पं० गोविंद नारायण मिश्र, पं० किशोरीलाल गोस्वामी, श्री जगन्नाथदास रत्नाकर, श्री श्यामसुंदर दास, श्री गोपालराम गहमरी, पं० रामनारायण मिश्र, लाला भगवानदीन, श्री जगन्मोहन वर्मा, श्री रामचंद्र शुक्ल, श्री रामचंद्र वर्मा, बाबू रायकृष्ण दास, श्री प्रेमचंद, आचार्य नरेंद्रदेव, श्री सम्पूर्णानंद, श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय, श्री रामदास गौड़, श्री बाबूराव विष्णु पराड़कर, श्री गंगाप्रसाद गुप्त, श्री रूपनारायण पाण्डेय, श्री कृष्णबिहारी मिश्र, श्री जयशंकर प्रसाद, श्री सांवल जी नागर, श्री ज्वालाराम नागर 'विलक्षण', श्री जनार्दन भट्ट, श्री केशवप्रसाद मिश्र, श्री दुर्गेकर इत्यादि अनेकानेक विद्वज्जनों, साहित्यकारों एवं संपादकों का एक जमघट-सा था। बीच-बीच में पं० लक्ष्मणनारायण गर्दे, श्री हरेकृष्ण जौहर इत्यादि भी आते रहते थे। हिंदी-उर्दू के प्रसिद्ध नाटककार आगा हश्र कश्मीरी भी अक्सर वहां आकर रहते थे। बंगला एवं मराठी के भी कई लेखक थे। निश्चय ही बहुत से नाम छूट गए होंगे, मेरे अपरिचय अथवा स्मृति की दुर्बलता के कारण। उन दिनों संगीत की दुनिया में भी काशी की धाक थी। संगीत, वाद्य एवं नृत्य के क्षेत्र में काशी का बड़ा नाम था।

आचार्य लाला भगवानदीन

जिन गुरुजनों से सबसे पहले परिचय हुआ उनमें स्व० आचार्य लाला भगवानदीन और स्व० केदारनाथ पाठक मुख्य थे। लाला जी अपने समय में खड़ी बोली में वीर रस के श्रेष्ठ कवि माने जाते थे और किसी समय उनका 'वीर पंचरत्न' काव्य बड़ी सजधज के साथ कलकत्ता से (यदि मैं भूलता नहीं तो रामलाल वर्मा की फर्म आर० एल० बर्मन एंड कम्पनी के यहां से) प्रकाशित हुआ था। वह मेरे गुरु थे इसलिए कोई अशोभन बात तो मैं नहीं कह सकता परंतु न उस समय, न आज की मेरी रस-ग्रहण शक्ति उनको बड़ा कवि मान पाई। फिकरेबाजी और मुहाविरों की बहार उनके काव्य में अवश्य थी; अलंकारों की छटा भी रहती थी। शायद उनकी प्रथम पत्नी 'बुंदेलाबाला' जी जीतीं तो उनसे अच्छी कवयित्री होतीं। परंतु काव्य-मर्मज्ञ, आचार्य एवं शिक्षक वह एक नंबर के थे। जीवन में मैं बहुत आचार्यों से मिला हूं—यहां मैं हिंदी आचार्यों की बात कर रहा हूं जिनकी बाढ़ में आजकल स्वयं हिंदी बही जा रही है—परंतु पढ़ाने के रस में अपने को खोकर पढ़ाने की जो तल्लीनता उनमें देखी, वह मुझे कहीं और दिखाई न पड़ी। वह पढ़ाते क्या थे, काव्य के मर्म में प्रवेश करते थे और वहां से संपूर्ण रस लेकर विद्यार्थी में उंडेल देते थे, काव्य के संपूर्ण अंग-उपांगों का ऐसा विश्लेषण करते थे कि एक-एक भाव चित्र की भांति स्पष्ट हो जाता था। केशव और बिहारी उनके परम प्रिय कवियों में थे। उस समय हिंदी भले इतनी फूली-फली न हो परंतु उस काल के साहित्य रसज्ञों एवं साहित्य सेवकों में अपने कर्त्तव्य के प्रति जो निष्ठा थी और साहित्य की सेवा के लिए जीवन व्रत की जो भावना थी, वह आज कहीं दिखाई नहीं देती। वह त्याग का, फकीरी का और उस फकीरी में ही गहरी मस्ती की अनुभूति का जमाना था। कैसी लौ थी उन लोगों में साहित्य के मर्म को पाने और उसका ज्ञान विद्यार्थियों को, शिष्यों को देने की। लाला जी को, उनकी पढ़ाई को देखता था तो हैरत होती थी।

नाटे, सांवले, दुबले-पतले, कुर्ता या कमीज, धोती, फेल्ट कैप या नंगे सिर, हाथ में छड़ी और 'जय रघुनंदन' का आशीर्वाद बिखेरते लाला जी सरलता के आदर्श थे। शाम को एक लालटेन जलाकर उसे साथ लिये वह मालती शारदा सदन पुस्तकालय (चौक और नीची बाग बनारस के बीच) के बाहरी बरामदे में या छत पर पढ़ाने आते और कक्षाएं लेते। न बिजली की बत्ती थी, न बाहरी टीमटाम थी। रामप्रसाद पाण्डेय, श्रीकृष्ण शुक्ल, कृष्णदेव प्रसाद गौड़ (बाद के 'बेढब' बनारसी), उग्र, विश्वनाथप्रसाद मिश्र इत्यादि वहां के उनके प्रमुख शिष्यों में थे। 'रामचन्द्रिका' पढ़ाते-पढ़ाते वह विभोर हो जाते थे। बाद में यह

विद्यालय कालिया साहब के नीचीबाग वाले भवन के आंगन में याँ या बरामदे में लगने लगा था। न कोई यश, न पैसा, न कोई और बाह्य प्रोत्साहन। केवल एक अंतःप्रेरणा, एक लगन थी, जो उनको इस प्रकार निरंतर निःशुल्क विद्यादान को प्रेरित करती थी। प्रायः वह अपने ही घर से तेल भरवाकर लालटेन तक लाते थे।

लाला जी और शुक्ल जी : लाला जी का समस्त जीवन अध्यापन कार्य में ही बीता। चाहे जहां काम करते परंतु शिष्य मंडली को पढ़ाने का कार्य स्थगित नहीं होता था। अध्यापन में जो गूढ़ काव्य दृष्टि, मस्ती, तुलनात्मक व्याख्या उनमें देखी, वह फिर कहीं न दिखाई पड़ी। आश्चर्य तो यह है कि वह सेंट्रल हिंदू कालेज में पहले फारसी के प्राध्यापक के रूप में आए थे किंतु अपनी पत्नी कवयित्री 'बुन्देला बाला' के सान्निध्य एवं प्रेरणा से उन्होंने हिंदी साहित्य और हिंदी काव्य का ऐसा उत्कृष्ट ज्ञान प्राप्त किया कि हिंदी विभाग के अध्यापक बना दिए गए। वह मध्ययुगीन हिंदी साहित्य के न केवल अध्यापक बल्कि मर्मज्ञ थे। हिंदी की आचार्य कोटि में उनका स्थान बहुत ऊंचा है। वह भाव विभोर होकर पढ़ाते थे और काव्य का एक-एक मर्म उनकी प्रतिभा से उद्घाटित हो उठता था। सूर, तुलसी, केशव, बिहारी का वैसा अध्यापन फिर किसी में नहीं पाया गया। वह हिंदी शब्द-सागर के संपादक मंडल में भी थे। यह कहना प्रचार के इस युग में शायद शेखी समझी जाएगी परंतु यह सत्य है कि श्री रामचंद्र शुक्ल में काव्य के प्रति जो गहरी दृष्टि बाद में विकसित हुई उसमें लाला जी के सत्संग एवं काव्यमर्मज्ञता तथा स्व० केदारनाथ जी पाठक की प्रेरणा एवं प्रोत्साहन का प्रभाव कुछ कम नहीं था। लाला जी भारतीय काव्य-शास्त्र परंपरा के, पुरानी शैली के, आलोचक थे; शुक्ल जी ने हमारी परंपरागत आलोचना को एक नया रूप दिया क्योंकि उन्हें पाश्चात्य आलोचना पद्धति का भी ज्ञान था और उससे वह बहुत प्रभावित भी थे। लाला जी में सौंदर्य बोध की वृत्ति बहुत सजग न थी; वह काव्यांगों की दृष्टि से आलोचना करते थे। अलंकार, छंद, भाषा, भाव-व्यंजना, प्रयोग-दोष इत्यादि उनकी आलोचना की कसौटी थे। काव्य में भद्दे प्रयोग को वह सहन न कर सकते थे और आलोचना में जरा भी रू-रियायत न करते थे।

उस युग के आंदोलन : यह वह जमाना था जब पं० पद्मसिंह शर्मा और लाला जी दोनों की आलोचना की बड़ी धूम थी। लोग इनसे डरते थे। दोनों तीखे तीर की तरह साहित्य के क्षेत्र में चलते आ रहे थे। दोनों निर्णायक आलोचना शैली के आचार्य थे। उस युग में भाषा एवं साहित्य के संबंध में कितने ही मार्के के शास्त्रार्थ हुए थे। ब्रजभाषा बनाम खड़ी बोली, सटाऊ या बिलगाऊ लेखन पद्धति अथवा विभक्तियां शब्दों के साथ लिखी जायें या अलग,

देव बड़े या बिहारी, काव्य की दृष्टि से सूर बड़े हैं या तुलसी ? उस समय के अधिकांश बड़े-बड़े कवि एवं आचार्य ब्रजभाषा के पक्ष में थे। उनका कहना था कि : 'खड़ी बोली भी कोई भाषा है? अत्यंत कर्कश, गद्यात्मक और काव्य के लिए सर्वथा अनुपयुक्त।' ब्रजभाषा की लोच, माधुर्य, परंपरा, लुनाई सब उनके पक्ष में थे। फिर भी युग खड़ी बोली के अनुकूल था। उस समय पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी, बाबू श्यामसुन्दर दास इत्यादि ने खड़ी बोली के पक्ष में बड़ा काम किया था। रचनात्मक दृष्टि से श्रीधर पाठक, 'हरिऔध' और बाद में 'प्रसाद' तथा 'भारतीय आत्मा' ने अपनी रसस्विनी कविताओं से खड़ी बोली (हिंदी) को बड़ा बल प्रदान किया था। इसी प्रकार सटाऊ और बिलगाऊ लेखन पद्धति के आंदोलन में पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, पं० रामावतार शर्मा, श्री रामदास गौड़ इत्यादि सटाऊ अथवा विभक्तियुक्त पद्धति के पक्ष में थे। दूसरे लोग इसके विरुद्ध थे। सटाऊ दल संस्कृत भाषा और व्याकरण का अनुकरण करता था; जब कि दूसरे दल के लोग हिंदी व्याकरण को स्वतंत्र मानकर स्वतंत्र लेखन पद्धति चलाना चाहते थे।

देव बनाम बिहारी : देव और बिहारी में कौन श्रेष्ठ है, इसे लेकर उस जमाने में बड़ा विवाद चला था। एक जमाना था कि देव हिंदी प्रेमियों में उतने प्रसिद्ध और लोकप्रिय न थे, जितने वह आज हैं। मैं समझता हूं कि मिश्र-बन्धुओं[1] ने पहली बार 'मिश्रबंधु विनोद' और बाद में 'हिंदी नवरत्न' में उन्हें प्रमुखता दी। उस समय बिहारी के छोटे-छोटे, अर्थ और भाव से भरे दोहे हमारे साहित्य में ऐसे लोकप्रिय थे कि शृंगार पक्ष का कोई दूसरा कवि आंखों में चढ़ता ही न था। इसमें कोई संदेह तब न था, न आज है कि इतने थोड़े शब्दों में इतना भाव और रस भर देने में कोई हिंदी कवि बिहारी के समकक्ष नहीं आता। सचमुच ही यह 'गागर में सागर' है। रूप और स्थूल शृंगार के ऐसे मोहक चित्र बिहारी ने दिए हैं कि उनकी पर्यवेक्षण शक्ति और अभिव्यक्ति क्षमता पर आश्चर्य होता है। यदि वह मध्ययुगीन काम शृंगार को सर्वथा देहगत न रखकर कुछ ऊपर उठा सके होते तो निश्चय ही वह बेजोड़ होते—वैसे दूसरे स्तर पर बेजोड़ तो वह आज भी हैं।

हां, तो मैं कह यह रहा था कि पद्मसिंह जी और लाला जी बिहारी के भक्तों में थे। पद्मसिंह जी ने अपने 'संजीवन भाष्य' की भूमिका में बिहारी को समस्त हिंदी एवं संस्कृत कवियों का सिरमौर सिद्ध करने की चेष्टा की। उधर देव के पक्ष में मिश्र बंधु और श्री कृष्णबिहारी मिश्र प्रमुख थे। मिश्रबंधुओं ने

1. पं० श्यामबिहारी मिश्र (जो उत्तर प्रदेश के कई जिलों में कलक्टर और मजिस्ट्रेट रहे) पं० शुकदेवबिहारी मिश्र (जो बुन्देलखंड के एकाधिक राज्यों में दीवान रहे) और पं० गणेशबिहारी मिश्र—ये तीनों 'मिश्रबंधु' के नाम से लिखा करते थे।

देव को आगे रक्खा परंतु विवाद से प्रायः दूर रहे। इनमें गणेशबिहारी तो कम ही लिखते थे; श्यामबिहारी एवं शुकदेवबिहारी अपने सरकारी पदों के कारण व्यस्ततावश या फिर अनिच्छा के कारण, शायद अप्रिय विवाद में न पड़े हों। इस प्रकार उन दिनों देव के पक्ष में मुख्यतः कृष्णबिहारी मिश्र रह गए थे। साहित्य संसार में बिहारी और देव या देव और बिहारी को लेकर गहरा द्वंद्व मचा था। इस द्वंद्व में लाला जी एक प्रमुख योद्धा थे और उन्होंने बिहारी के पक्ष में एक लेखमाला ही लिखी थी। निष्पक्ष पाठक इस आंधी को स्तब्ध और किंकर्त्तव्यविमूढ़ होकर देखते थे। मेरे समान लोगों के लिए तो दोनों महाकवि थे। जहां बिहारी में अर्थ गांभीर्य, भाषा की लोच, घनीभूत, भावव्यंजना, गहरी पर्यवेक्षण शक्ति और मुहाविरों का बढ़िया प्रयोग था, वहां देव में गहनता, विस्तार, सामाजिक चेतना, शब्द वैभव, अनुभूतियों का प्रकाश और कल्पना की उड़ान थी। मेरी समझ से कलापक्ष में बिहारी एवं भावपक्ष में देव श्रेष्ठ थे परंतु उस समय तो बात यह चल रही थी कि इस अखाड़े में आओ या उस अखाड़े में जाओ। अपना पक्ष समर्थन करते हुए परपक्ष पर तीव्र एवं कटु प्रहार उस काल की आलोचना की विशेषता थी। वहां नपे-तुले, कूटनीतिक शब्दों की भाषा नहीं होती थी; साफ-साफ दो टूक बातें होती थीं। मेरी समझ से काव्य वैभव के स्पष्टीकरण में निश्चय ही लाला जी आगे थे; परंतु आलोचना शास्त्र की दृष्टि से कृष्णबिहारी मिश्र की शैली अधिक संयत और उत्तम थी।

लाला जी और चतुर्वेदी जी : इसी प्रकार लाला जी और उस जमाने के प्रसिद्ध हास्यरस लेखक, कलकत्ता वाले श्री जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी में भी, भाषा एवं शब्द प्रयोग को लेकर गहरी भिड़न्त हो गई थी। लाला जी ने चौबे जी की आलोचना की। चौबे जी ने जवाब दिया, जिसका शीर्षक था : 'लाला की लन्तरानी।' लाला जी कब चुप रहने वाले ? उन्होंने उत्तर दिया, जिसका हेडिंग था : 'चौबे का चाइयांपन'। इन शब्दों से ही उस जमाने की आलोचना के मानदंड का अनुमान किया जा सकता है। परंतु उस समय पद्मसिंह जी की इस प्रकार नमक-मिर्च भरी चटपटी भाषा में लोगों को बड़ा स्वाद आता था। यह चाट सी चटपटी भाषा लोगों की अभिरुचि पर इतनी छा गई थी कि मध्य छायावादी युग में जब मैंने मुजफ्फरपुर हिंदी साहित्य सम्मेलन (1927 ई०) में उसके अध्यक्ष पद्मसिंह जी के, और सुमित्रानन्दन पन्त ने अपने काव्य संग्रह की भूमिका में 'कविकिंकर' के छद्मनाम से लिखे महावीरप्रसाद जी द्विवेदी के लेखगत आक्षेपों का करारा उत्तर दिया तो बड़े-बड़े लोगों के दिमाग भन्ना गए। एक तहलका मच गया और हम पर हर तरह का दवाव डाला गया। जो बनारसीदास जी चतुर्वेदी आज शहीदों एवं पीड़ितों के प्रधान पुरोहित बन गए

हैं, वे मेरी एक रचना प्रकाशित करने के लिए साहित्य के पूंजीपतियों के आगे क्षमा मांगते फिरे। पन्त जी की 'कविकिंकर' के प्रत्युत्तर वाली भूमिका प्रकाशकों पर दबाव डालकर पुस्तक से ही निकाल दी गई। मतलब यह है कि परंपरागत कसौटियों के अतिरिक्त, विश्व के बढ़ते हुए संसर्ग से उत्पन्न नई कसौटियों को सुनने-समझने के लिए लोग तैयार ही न थे। आलोचना में आलोचना तो नाम की होती थी; उपहास अधिक होता था।

'लक्ष्मी'-संपादक लाला जी : जो भी हो, उस समय आलोचना क्षेत्र में लाला जी की धाक थी। उग्र जी के और मेरे प्रति उनका बड़ा ममत्व था। 'उग्र' उस समय उनके प्रधान शिष्य थे। मुझे याद आता है कि जब वाराणसी टाउन हाल के एक कवि-सम्मेलन में लाला जी की ओर से, उग्र जी ने सद्यःपूर्ति के काले तख्ते पर लिखा :

'दीन' समस्या दीन, दीन दीन की अति कठिन,
पुरवहु सकल प्रवीन, अहै 'उग्र' की प्रार्थना।

तो बड़ी चखचख मची थी।

उस समय लाला जी 'लक्ष्मी' नाम की एक मासिक पत्रिका का संपादन करते थे। शायद 'सरस्वती' के वजन पर 'लक्ष्मी' निकाली गई थी परंतु शकल-सूरत से 'सरस्वती' लक्ष्मी और 'लक्ष्मी' सरस्वती थी। लक्ष्मी एक शीर्णकाय पत्रिका थी—वैभव एवं अलंकरण से हीन, मानो 'लक्ष्मी' नाम एक व्यंग्य हो, जब कि 'सरस्वती' मोटी-ताजी समृद्धिमती पत्रिका थी। यह भी एक आश्चर्य की बात थी कि 'लक्ष्मी' के संपादक थे 'दीन' और 'सरस्वती' के महावीर। अजब उल्टी-सी बात थी। परंतु 'लक्ष्मी' कृशतनु होकर भी साहित्यिक दृष्टि से उस जमाने की महत्त्वपूर्ण पत्रिका मानी जाती थी। वह सुरुचिपूर्ण साहित्यिक पत्रिका थी। लाला जी उसमें लिखने के लिए मुझे सदैव प्रेरित करते रहते थे और उसमें समय-समय पर मेरे कुछ लेख निकले भी। पत्रिका का संपादन वाराणसी में होता था और छपती तथा प्रकाशित होती थी गया (बिहार) से। इस प्रकार वह दो प्रमुख हिंदी प्रदेशों को जोड़ती भी थी। आज तो बिहार की तरुण संतति भी 'लक्ष्मी' को भूल गई है किंतु उस काल में उसके द्वारा बड़े साहस के साथ लाला जी ने साहित्य का मानदंड ऊंचा रखने का व्रत निभाया था।

संपादन का सारा कार्य वह अवैतनिक ही करते थे और संपादन के लिए उन्हें पांच या दस कापियां मुफ्त मिलती थीं, जिन्हें वह मित्रों एवं अपने विशेष छात्रों को, या जिन लेखों के लेखक स्थानीय होते थे, उन्हें बांट दिया करते थे।

मूलतः अध्यापक : बाद को वह हिंदू विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग में अध्यापक हो गए थे। पुरातन काव्य पढ़ाने में कोई उनका प्रतिद्वंद्वी नहीं था।

आजकल के प्रोफेसरों में से अधिकांश मूलपाठ एवं उसके अर्थज्ञान (टेक्स्टुएल नालेज) से कोरे होते हैं, क्योंकि न तो मूल ग्रंथों का गहन अध्ययन करने की ओर लोगों की रुचि है, न उनके पढ़ाने वाले ही अब अधिक रह गए हैं। आजकल की पढ़ाई में उड़नछू ज्ञान या तुलनात्मक आलोचना का महत्त्व अधिक दीख पड़ता है। पुराने आचार्य पहले मूल ग्रन्थ पढ़ने-पढ़ाने पर जोर दिया करते थे; एक-एक शब्द के प्रयोग की विशेषता पर विचार करते थे। लाला जी इसी कोटि के शिक्षक और काव्यमर्मज्ञ थे। उनकी टीकाएं उनके श्रम एवं प्रतिभा को प्रकाशित करती हैं। अलंकार के तो वह पंडित ही थे और उनका इस विषय का ग्रंथ 'अलंकार मंजूषा' उस जमाने में बड़ा प्रामाणिक समझा जाता था और लोकप्रिय भी था अपनी प्रामाणिक टीकाओं के कारण ठीक ही वह 'हिंदी के मल्लिनाथ' कहे जाते थे और जानकारों में आज भी कहे जाते हैं। वैसे वह अपने समय के वीर रस के श्रेष्ठ कवियों में गिने जाते थे। उनके 'वीर पंचरत्न' की उस समय लोगों में बड़ी चर्चा थी। बड़ी चुटीली और ओजस्विनी भाषा है उनके काव्य की। उसमें प्रसादगुण और स्पष्टता भी है।

परंतु सब मिलाकर देखते हैं तो वह एक आदर्श अध्यापक थे। स्व० जनार्दन झा 'द्विज'[1] ने उनके संबंध में ठीक ही लिखा था :

'साहित्य सागर के अगाध अंतर से निरंतर अनमोल मोती निकालते रहने वाले ज्ञानकुबेर, लाला भगवानदीन, सोने-चांदी के टुकड़ों पर बिकने वाली दुनिया के बीच सच्चे अर्थों में सदैव 'दीन' ही बने रहे। ज्ञान-ग्रहण और ज्ञान-दान की अपरिवर्तनीय स्नेहपूर्ण प्रवृत्ति के मूल में जिस नैतिकता और निस्पृहता की वृत्ति बसी रहती है उसने इन्हें 'लाला जी' के रूप में भी ब्राह्मणत्व की दिव्य विभूति से अलंकृत कर रखा है। यह वही विभूति है, जिसके बिरते पर ही कोई अध्यापक जैसी पवित्र संज्ञा का सच्चा अधिकारी समझा जा सकता है। और इसमें संदेह नहीं कि 'दीन' जी हिंदी संसार के अनुपम अध्यापक हैं। इनके समकालीन साहित्यिकों में से किसी की भी शिष्य मंडली इतनी बड़ी नहीं।'

उनके विषय में साहित्याचार्य पं० सीताराम चतुर्वेदी लिखते हैं :

'उनकी जिज्ञासा वृत्ति, अध्ययनशीलता, गंभीर पांडित्य और सूक्ष्म अध्ययन का ही परिणाम था कि नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा संपादित 'हिंदी शब्द सागर' में आए हुए अनेक उर्दू, फारसी और बुंदेलखंडी शब्दों की उन्होंने बड़ी सटीक व्युत्पत्ति की थी। किसी भी शब्द या पद का आंतरिक अर्थ

---

1. 1904–1964। 'द्विज' छायावाद युग के एक लोकप्रिय कवि, आलोचक और कहानीकार थे। बिहार के अनेक स्नातकोत्तर महाविद्यालय के प्रोफेसर और प्रिंसिपल भी रहे। वह लाला जी के छात्र थे।

सरलता और शीघ्रता से समझ लेने की उनमें अद्भुत प्रतिभा और मेधा थी। उन्होंने प्रत्येक भाषा और साहित्य की उस अभिव्यक्ति परंपरा को भली-भांति आत्मसात् कर लिया था, जिसमें कोई विशेष शब्द किसी विशेष प्रसंग में किसी विशेष अर्थ में प्रयुक्त होता है। इसीलिए जब कभी वे किसी प्रसंग की व्याख्या करने लगते तो उस प्रसंग में शब्दों के प्रयोग की उस परंपरा का परिचय भी देते जिससे उस अर्थ की सटीकता स्वयं प्रमाणित हो जाती। सूर, तुलसी, जायसी, केशव आदि महाकवियों की रचनाओं का सूक्ष्म शब्दात्मक अध्ययन करने के कारण उनकी यह सद्यः अर्थ-ग्रहण शक्ति इतनी प्रखर हो गई थी कि कठिन से कठिन प्रसंग का अर्थ लगाने में भी उन्हें तनिक विलंब न लगता। यद्यपि उन्होंने संस्कृत का कोई गंभीर अध्ययन नहीं किया था तथापि संस्कृत के जो शब्द हिंदी में तत्सम या तद्भव रूप में चले आए हैं, उनके अति अप्रचलित और अत्यंत विकृत रूप को भी तत्काल पहचान सकने की उनमें अद्भुत क्षमता थी।'

रामभक्त लाला जी : लाला जी काव्यमर्मज्ञ होने के साथ ही गहरे रामभक्त थे और सदा 'जय रघुनन्दन' कहकर नमस्कार का उत्तर दिया करते थे। उन्हें हनुमान का इष्ट भी था। कभी-कभी शारीरिक और मानसिक व्याधियों के लिए 'यंत्र' भी लिखकर दिया करते थे और वह कारगर होता था, यह मैं अपने व्यक्तिगत अनुभव से कह सकता हूं।

कर्मचक्र में मैं बहुत दिनों तक उनके साथ संपर्क बनाए न रख सका। राजनीति का तूफान मुझे ले उड़ा; काशी (वाराणसी) ही छूट गई, और मैं कभी यहां, कभी वहां मारा-मारा फिरता रहा। साहित्य से जीविकोपार्जन करना सदा ही कष्टप्रद होता है, फिर उस जमाने में, और तब जब देश में चारों ओर उथल-पुथल हो रही हो। फलतः कलकत्ता, बंबई, अजमेर, दिल्ली, वर्धा, अकोला, न जाने कहां-कहां फिरता रहा। मन में बसी काशी छूटती गई। फिर भी जब कभी काशी लौटता और लाला जी से भेंट होती तो वह मेरे प्रति पितृ तुल्य ममता प्रदर्शित करते। उनका प्रेम और स्नेह अद्भुत था। इतने दिन बीत गए हैं परंतु नीचे कुंडी खटखटाते ही उनका 'को है ?' आज भी मानो कानों में गूंज उठता है। नारियल बाजार से सराय (वाराणसी के मुहल्ले) की ओर जाने वाली गली में वह रहते थे; उनके अगल-बगल कुछ प्रसिद्ध तवायफों का निवास था। यह कहने पर कि 'आप यहां कहां रहते हैं' एक बार कहने लगे 'इधर भगवन्नाम का रस और काव्यानंद मिलता है, उधर से अनायास संगीत का लाभ भी मिलता रहता है। अंदर-बाहर दोनों ओर से रस ही रस तो मिलता है।' यही रस उनके अंदर भरा था और इसी कारण, गरीबी और अभाव के बीच रहकर अपना उपनाम ('दीन') पूर्णतः सार्थक

करते हुए भी, वह इतना समय अपने विद्यार्थियों को दे पाते थे। यह भी कोई बड़ी बात नहीं, परंतु बड़ी बात यह है कि वह जो कुछ देते थे, सचमुच देते थे। मानो बिना दिए वह सार्थक हो ही नहीं सकते थे।

अपने युग के वीर रस के कवियों, आलोचकों और मध्ययुगीन हिंदी काव्य के विद्वानों में लाला जी का प्रमुख स्थान था। अध्यापक तो वह प्रथम कोटि के थे ही, अच्छे पत्रकार भी थे। उर्दू, फारसी, बुंदेली, अवधी का उनका अध्ययन बड़ा गहन था। पाठ संशोधन के क्षेत्र में उन्होंने बड़ा कार्य किया और रामचरित मानस, कवितावली, विनयपत्रिका, ठाकुर शतक आदि ग्रन्थ उनकी पाठ-शुद्धि के प्रमाण हैं। टीकाकार तो हिंदी में वैसा कोई हुआ नहीं। उनमें भगवान की गरिमा और दीन का सर्वस्वार्पण था। साहित्य के लिए उन्होंने फकीरी ली। शान से जिए, शान से मरे। कभी-किसी के आगे हाथ फैलाया नहीं।

भगवानदीन नहीं दीनबंधु : लाला जी कितने सहृदय थे, इसे एक घटना[1] से समझा जा सकता है। समय 1929 ई०। स्थान हिंदू विश्वविद्यालय का एक वर्ग। वर्ग छात्र-छात्राओं से भरा हुआ है। लाला जी पढ़ा रहे हैं; संदर्भ में डूबकर पढ़ा रहे हैं निम्नलिखित सोरठा :

दीन जान्हि सब दीन, एक दुरायो दुसह दुख।
सोउ अब मोकहं दीन, कछू न राख्यौ बीरबल॥

व्याख्या समाप्त ही हुई थी कि पोस्टमैन ने एक इंश्योर्ड लेटर दीन जी के हवाले किया। दीन जी ने हस्ताक्षर करके लिफाफा खोला, रुपये गिने। फिर रुपये उसी लिफाफे में रखने वाले थे कि पीछे मुड़कर उन्होंने देखा, पोस्टमैन अभी खड़ा ही है। 'क्यों क्या बात है? काहे खड़े हो?' उन्होंने पूछा। पोस्टमैन तो 'टिप' पाने की आशा में खड़ा था, बोला : 'आए थे 'भगवान' के पास, पर निकले दीन ही।'

'क्या? क्या कहा?' दीन जी ने साश्चर्य पूछा। पोस्टमैन ने दोहराया : 'आए थे 'भगवान' के पास, पर निकले 'दीन' ही।' दीन जी सहसा आंतरिक उल्लास से चमत्कृत हो गए। पूरे सौ के नोट, जो उस लिफाफे में कहीं से आए थे, पोस्टमैन को देने लगे। बेचारा हक्का-बक्का होकर लेने से इनकार करने लगा। लाला जी ने जरा जोर से कहा : 'सुनो, भगवान दीन नहीं है, वह दीन-बंधु है,' और वे नोट उसकी जेब में ठूंस दिए।

अंतिम भेंट : एक बार की बात है, मैं बाहर से एक युग के बाद वाराणसी आया था। राह चलते मारवाड़ी अस्पताल के पास मिल गए। स्नेह से उनकी आंखें भर आईं। लगभग घंटे भर पहले साहित्य की, फिर घरेलू बातें करते रहे। उन दिनों उनके संरक्षण में गुजरात से आई दो लड़कियां थीं। उनके

1. देखिए सितंबर 1962 के 'नवनीत' में श्री रघुनाथ मिश्र की रचना।

भविष्य के लिए बड़े चिंतित दीख पड़े; मुझसे उनके लिए योग्य जीवनसाथी खोज देने का अनुरोध किया। विदा हुए तब भी आंखों में आंसू भरे थे। आशीर्वाद देते हुए बोले: 'तुम्हारी रचनाओं पर, तुम पर मुझे गर्व है।' मैंने कभी उन्हें इतना भावप्रवण नहीं देखा था। जीवन की संध्या निकट आ रही थी, और आलोचक दिन-दिन प्रेमी होता जा रहा था। वही मेरी-उनकी अंतिम भेंट थी। परंतु आज भी मामूली-सी कमीज पहने, पुरानी फेल्ट कैप लगाए, छड़ी लिये, काव्य के रस में डूबे-डूबे, सड़क पर चले जा रहे लाला जी या मास्टर साहब (इन्हीं दो नामों से वह पुकारे जाते थे) की मूर्ति आंखों के आगे खड़ी हो जाती है और साहित्य के यात्रापथ से गुजरने वाले यात्रियों से कहती है: 'जय रघुनन्दन!'

स्व० केदारनाथ पाठक

जिन लोगों से साहित्य की मंडी में मेरा प्रथम परिचय हुआ, उनमें लाला जी के साथ, दूसरा नाम मैंने स्व० श्री केदारनाथ पाठक का लिया है। केदारनाथ जी साहित्यकार न थे किंतु उनके गढ़ने वाले थे। अपनी प्रेरणा और पथदर्शन से उन्होंने कितने ही लोगों को हिंदी में लिखने के लिए तैयार किया, और जो पहले से लिख रहे थे, उनका मार्ग और प्रशस्त कर दिया। जिस समय मेरा-उनका परिचय हुआ, वह नागरी प्रचारिणी सभा के 'आर्यभाषा पुस्तकालय' के पुस्तकालयाध्यक्ष थे। हिंदी और हिंदी पुस्तकों के संबंध में, और इसीलिए हिंदी लेखकों के संबंध में भी, उनकी जानकारी बड़ी विस्तृत थी। कौन पुस्तक कहां से छपी है, और किस पुस्तक का कौन संस्करण कहां से निकला है, किसने लिखा है, किसने संपादित किया है, यह सब जानकारी वह तुरंत दे सकते थे। जैसे लाला जी 'हिंदी के मल्लिनाथ' थे, वैसे ही पाठक जी हिंदी के चलते-फिरते इनसाइक्लोपीडिया अथवा विश्वकोश थे। उनसे परिचय होने के बाद और उनकी प्रेरणा से हिंदी पुस्तकें पढ़ने की ऐसी धुन लगी कि मैं दीवाना सा हो गया। रोज दो-एक पुस्तकें पढ़कर समाप्त किए बिना चैन नहीं मिलता था। पहले उपन्यास और कहानियां पढ़ीं; फिर जीवनियां; फिर इतिहास, नीति ग्रंथ एवं धार्मिक पुस्तकें, फिर काव्य और काव्यांग। पढ़ने की यह हालत थी कि शाम हो गई है, अंधेरा छा गया है परंतु इस मोह में कि अब खत्म कर लें तब उठें, पढ़ते जा रहे हैं। बात के दौरान भी पढ़ते जा रहे हैं; सड़क पर चले जा रहे हैं और पढ़ते जा रहे हैं। कई बार लोगों से टकराये; इक्कों से दबते-दबते बचे और उसी पढ़ाई में आंखें भी कमजोर कर लीं परंतु एक नशा दिमाग पर ऐसा चढ़ गया था कि संयम करने, या रास्ते में या संध्या को न पढ़ने का किसी का उपदेश अच्छा ही न लगता था।

मेरी दिलचस्पी के स्थान: उस समय मेरी दिलचस्पी के या शाम की

बैठकी के तीन-चार स्थान थे—नागरी प्रचारिणी सभा, मनमोहन पुस्तकालय (नीचीबाग में किताबों की एक दुकान, जहां बाद में चौधरी ऐंड संज की किताबों की दुकान हो गई), भरतदास न्यूज एजेंट की दुकान (यहां एक टंडन शू स्टोर है), बाबा विश्वनाथ का मंदिर, श्री कमलापति त्रिपाठी (बाद में उत्तरप्रदेश के मुख्यमंत्री) का घर और बाद के दिनों में उग्र का कबीरचौरा का निवास। उन्हीं दिनों सर्वश्रेष्ठ राजनीतिक पत्रिका कानपुर की 'प्रभा' भी मेरी रचनाएं छापने लगी थी। पाठक जी मेरी रचनाओं को सदा ध्यान से देखते; जो भूलें होतीं उन्हें बताते एवं आगे बढ़ने को प्रेरित करते रहते थे।

घर में गरीबी थी; विक्टोरिया पार्क के पूर्वोत्तर हड़हासराय के एक मामूली मकान में हम लोग रहते थे। पैसे की जरूरत तो सदा ही रहती थी। उन दिनों बंगला के अनुवाद हिंदी में खूब चलते थे। स्व० श्री रामचन्द्र वर्मा, स्व० श्री रूपनारायण पाण्डेय और स्व० पं० चन्द्रशेखर पाठक ने अनेक पुस्तकों के अनुवाद किए थे। इन दिनों बाद के प्रसिद्ध क्रांतिकारी श्री मन्मथनाथ गुप्त से अच्छी घनिष्ठता हो चली थी; उनके पिता तो त्यागमूर्ति ही थे। मन्मथ से वह संबंध, हमारे राजनीतिक विचार-भेद के बावजूद, बराबर बना रहा। उसी मन्मथ से मैंने बंगला सीखी और वह मुझसे हिंदी सीखता रहा। अब तो वह हिंदी के प्रसिद्ध लेखकों में है। मैंने भी बंगला शिक्षण के पहले ही दिन बंकिमचन्द्र की 'युगलांगुरीय' कहानी का हिंदी अनुवाद कर डाला। उन दिनों कचौड़ी गली में बालमुकन्द वर्मा नाम के एक प्रकाशक थे—गोरे, मोटे, थुलथुल। उन्हें मैंने दस रुपये में वह अनुवाद बेच दिया। उस दिन जो खुशी हुई थी वह एक-एक लेख पर पांच सौ रुपये तक मिलने पर फिर भी नहीं हुई। फिर तो बंगला से मैंने अनेक पुस्तकें अनूदित कीं। भार्गव पुस्तकालय, गायघाट, वाराणसी के स्वत्वाधिकारी अध्यापक बाबू जगन्नाथ प्रसाद भार्गव तथा उसके तत्कालीन व्यवस्थापक बाबू श्यामलाल भार्गव ने बंगला तथा संस्कृत से अनूदित मेरी अनेक कृतियां प्रकाशित कीं, और अपनी पुरानी पुस्तकों का संपादन भी कराया। 'रहिमन चन्द्रिका' नामक ग्रंथ में रहीम के तब तक प्राप्त संपूर्ण काव्य का संपादन करके मैंने वहीं से प्रकाशित कराया था।

इन सब कार्यों में पाठक जी की सलाह और सहायता मुझे सदा प्राप्त होती रहती थी। वह न केवल हिंदी साहित्य की विस्तृत जानकारी रखते थे अपितु उन्हें अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य एवं लेखकों के विषय में भी पर्याप्त ज्ञान था। वह राजा दरवाजा की एक गली में रहते थे और अक्सर हम लोग बातचीत करते हुए, साथ-साथ घर लौटते थे। वह ऊंचा सुनते थे, इसलिए कई बार कुछ का कुछ समझकर बोलने लगते थे। उन्होंने 'बंग-महिला' की कहानियों का एक संकलन प्रकाशित किया था, तथा उस समय के एक अच्छे

कहानी-लेखक 'पार्वती-नन्दन' (स्व० गिरिजाकुमार घोष का यह उपनाम था) की रचना भी प्रकाशित की थी। मुझे यह देख कर बड़ा आश्चर्य होता है कि आज हिंदी कहानियों के विकास की एक रेखा देने वाले संग्रहों में भी कहीं उनका नाम नहीं आता है। 'पार्वती-नन्दन' को अनेक शोधकर्त्ता भी भूल गए हैं। कदाचित् इसलिए कि जिनकी देखरेख में ये शोध करते हैं उन्हें स्वयं ही हिंदी की जड़ में अपनी हड्डियों की खाद देने वालों का कुछ ज्ञान नहीं है।

हां, तो मैं पाठक जी की बात कह रहा था। अनुवाद तो उन्होंने कई पुस्तकों के किए थे; 'संत राबिया' नाम की एक पुस्तक लिखी भी थी। भाषा की चुस्ती, मुहाविरों के उचित प्रयोग और शब्दों के चुनाव के प्रति उस काल के आचार्य बड़ा ध्यान रखते थे। आजकल का जनतंत्रवाद साहित्य में न था, इसलिए उस काल के लेखक की कठिनाइयां आज से कहीं अधिक थीं। पाठक जी इन बातों का बड़ा ध्यान रखते थे। स्व० पं० रामचन्द्र शुक्ल को प्रेरणा देने वालों में वह प्रमुख थे।

उनके अंतिम दिन बड़े कष्ट से बीते। बीमारी, गृह-समस्याएं, गरीबी तीनों की मार से वह टूट गए थे। वह हृदय के कोमल परंतु स्वभाव के जिद्दी और मुंहफट व्यक्ति थे। बिना फब्ती कसे वह रह न सकते थे और जो कुछ मन में होता, उंडेल देते थे। रायकृष्णदास उनको मानते थे और जब-तब सहायता भी करते रहते थे। स्व० जयशंकर 'प्रसाद' जी के पास भी वह प्रायः आते रहते थे और वह भी उनकी कुछ न कुछ मदद करते ही रहते थे।

उनकी मृत्यु के साथ ही हमारे साहित्य एवं साहित्यकारों की अगणित स्मृतियों का लोप हो गया है। काशी और हिंदी साहित्यकारों के अनेक बहुमूल्य संस्मरण उनके साथ चले गए। पिछले चालीस वर्षों से मन में बराबर यह बात उठती रही है कि पुराने जो लोग बच गए हैं, उनके यहां जाऊं और उनके पास जो स्मृतियां हैं उनको एकत्र करूं। परंतु वह हो नहीं पाया। अब तो पुरानी पीढ़ी लगभग समाप्त हो चुकी है परंतु आज भी संस्कृत विद्या के कई पंडित और हिंदी के भी एकाध सेवक ऐसे हैं जिनसे काशी के संबंध में तथा साहित्यकारों, विद्वज्जनों के संबंध में शत-शत स्मृतियां एकत्र की जा सकती हैं और उनके संकलन एवं प्रकाशन से आगे का शोधकार्य प्रशस्त हो सकता है।

2
दो प्रेरक व्यक्तित्व

मुझ में जीवन की चेतनाएं एक साथ उभर रही थीं, जैसी कि वे समस्त राष्ट्र में उभर रही थीं। हिंदी का प्रेम जो उमड़ा तो उत्तम साहित्य के प्रचार और अध्ययन की दृष्टि से मैंने अपने दो-तीन साथियों के सहयोग से एक पुस्तकालय-वाचनालय घर पर ही खोल दिया। नाम था—'साहित्य-सुमन पुस्तकालय' हमारे परनाना, जिनके पास मैं उन दिनों रहता था, यों तो एक संत पुरुष थे, एक परम संत और योगी के शिष्य थे, जप की साधना में बहुत आगे बढ़े हुए थे किंतु फारसी के भक्त थे और हिंदी से उन्हें चिढ़ थी। इसलिए जब वह दिन में कचहरी चले जाते, तब यह पुस्तकालय खुलता था। पुस्तकालय तो क्या, वस्तुतः यह वाचनालय था। पुस्तकें बहुत थोड़ी थीं। काशी विद्यापीठ के वर्तमान सहायक मंत्री श्री विश्वनाथ शर्मा इस कार्य में मेरे मुख्य सहायक थे। विश्वनाथ जी तो हमारे घर के-से हो गये थे और मुझे बड़े भाई की तरह मानते थे। उन दिनों श्री राजाराम शास्त्री, जो बाद में काशी विद्यापीठ के उपकुलपति हुए, हमारे ही मकान के पास रहते थे और अक्सर मिलते रहते थे।

पं० रामनारायण मिश्र

मेरे पास जो पत्र-पत्रिकाएं आ जाती थीं, उन्हीं से इस पुस्तकालय का आरंभ हुआ था। इस पुस्तकालय के ही सिलसिले में स्व० श्री रामनारायण मिश्र से परिचय हुआ। मिश्र जी उस समय के छात्र समाज में अपने स्फूर्तिदायी व्यक्तित्व के कारण बहुत प्रसिद्ध थे। वह नागरी प्रचारिणी सभा काशी के जन्मदाताओं में थे। यद्यपि वह हिंदी बहुत अच्छी न लिख पाते थे और उनकी हिंदी पर पंजाबीपन की छाप थी परंतु राष्ट्रभाषा के रूप में हिंदी के प्रति उनका प्रेम अगाध था। फिर वह हिंदी के प्रेमी एवं

उन्नायक ही नहीं थे बल्कि जहां भी जाते थे, युवकों में अनुशासन, संयम, आत्मनिष्ठा की भावनाएं भरने का काम करते थे। बुकर टी० वाशिंगटन, एपिक्टेटस, महादेव गोविन्द रानाडे इत्यादि के विचार, कार्य और साहित्य से प्रभावित थे और इनके संबंध में स्वयं लिखकर हिंदी में कुछ पुस्तकें भी प्रकाशित कराई थीं। इनके अनेक छात्रों ने बाद के जीवन में देश एवं समाज की सेवा में बड़ा नाम कमाया। टी० एन० सिंह, एल० के० झा, रघुनाथ सिंह, लालबहादुर शास्त्री इत्यादि अपने प्रारंभिक छात्र जीवन में इनसे प्रभावित हुए थे।

मुझे याद है, मिश्र जी ने हम लोगों को खूब उत्साहित किया; अपनी लिखी तथा दूसरों की कुछ पुस्तकें पुस्तकालय के लिए दीं; औरों से दिलाने का भी वचन दिया। यही नहीं, घर पर आकर पुस्तकालय का निरीक्षण किया और सम्मति पुस्तिका में प्रोत्साहनपूर्ण प्रशंसात्मक सम्मति लिख दी। यद्यपि मिश्र जी को प्राचीन अथवा आधुनिक हिंदी साहित्य का कोई विशेष ज्ञान न था, न उनसे हमें साहित्य की भावधाराओं का ही कोई परिचय कभी मिला, परंतु स्वस्थ विचारों का बीज वह अवश्य हमारी मनोभूमि में बो गए। और जिन तत्त्वों ने मेरे निर्माण में भाग लिया है, उनमें मिश्र जी की सत्प्रेरणाओं का बड़ा महत्त्व है। मेरे बाहर चले जाने के कारण संपर्क बीच में टूट गया। युगों बाद हिंदी साहित्य सम्मेलन के मेरठ अधिवेशन में जब उन्हें 'साहित्य वाचस्पति' की उपाधि दी जा चुकी थी, एक दिन नल पर नहाते समय उन्हें देखा। बहुत वृद्ध हो गए थे। अपने ही हाथ से कपड़े धो रहे थे। मैंने देखा तो कपड़े छीन लिये; वह देते न थे किंतु जब मैंने कहा कि आपका एक प्राचीन शिष्य होने के नाते यह मेरा अधिकार है तो दे दिए, किंतु उनकी आंखों में पानी भर आया। उस वृद्धावस्था में भी उनमें वही तेज, वही सादगी, वही आदर्शपरायणता और वही स्नेह था। जब सम्मेलन के नेता और हिंदी के प्रोफेसर लोग कोठी के आरामदेह कमरों में ठहरे थे, तब जिसकी हड्डी की खाद पर वे लहलहा और फूल-फल रहे थे वह दधीचि वैसे ही सामान्य प्रतिनिधियों के साथ ठहरा हुआ था, उनके दुःख-सुख में शरीक, परंतु उनकी राजनीति से प्रायः निर्लिप्त,—जैसे जीवन में सबके प्रति वह पूर्ण आत्मार्पित हो चुका हो।

मिश्र जी का सारा जीवन ही शिक्षक के रूप में बीता। हिंदू स्कूल, हरिश्चन्द्र विद्यालय तथा देवरिया इत्यादि के विद्यालयों में जीवन का अधिकांश प्रधानाचार्य के रूप में उन्होंने बिताया था और शत-शत युवकों को देश और समाज की सेवा के लिए तैयार किया था। लिखा उन्होंने बहुत ही कम, परंतु जो भी लिखा वह स्फूर्तिप्रद और जीवनोपयोगी था। उनकी अंतिम

रचना, जो उन्होंने शय्याग्रस्त होते हुए मृत्यु के कुछ पूर्व, मेरे आग्रह पर लिखी थी, विधिवश मेरी संपादित 'सम्मेलन-पत्रिका' में निकली। अब वह नहीं है, किंतु उनकी स्मृति आज भी सैकड़ों व्यक्तियों के मन में दीप्त है।

स्व० रामदास गौड़

इसी पुस्तकालय के लिए पुस्तक संग्रह करने के सिलसिले में स्व० आचार्य रामदास गौड़ से परिचय हुआ, और वह परिचय बढ़ते-बढ़ते घनिष्ठता में वदल गया। महायुद्ध का अंत हो चुका था और युद्ध के बल पर जिन समस्याओं को हल करने की बातें कही गई थीं, वे तो हल न हुई, हां नई-नई और विकट समस्याएं खड़ी हो गई। अनेक नये और जटिल सामाजिक प्रश्न उठ खड़े हुए। युद्ध के अंतिम भाग में, यूरोप के अनेक विचारकों ने राष्ट्रीयता और जीवन के मसलों को नये दृष्टिकोण से देखना आरंभ किया। उन्हीं दिनों प्रसिद्ध विचारक नार्मन एंगेल ने 'दि ग्रेट इल्यूजन' नामक एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ लिखा था। भारत में श्री एफ० टी० ब्रुक्स ने इसे मद्रास से प्रकाशित किया और गौड़ जी से उसका हिंदी अनुवाद कराया, जो 'भारी भ्रम' के नाम से प्रकाशित हुआ। गौड़ जी ने भेंट में मुझे यह पुस्तक दी और उसका गंभीर अध्ययन करने का आदेश दिया। 'भारी भ्रम' का मेरे मन पर गहरा प्रभाव पड़ा और बाद में गांधी जी के निकट संपर्क में आने पर विश्व की समस्याओं को नई दृष्टि से देखने की शक्ति जब प्राप्त हुई तो 'भारी भ्रम' ने मुझे अनेक आधारभूत बातें समझने में बड़ी मदद की।

भाषा और शैली : 'भारी भ्रम' में व्यक्त विचार तो नार्मन एंगेल के थे किंतु हिंदी संस्करण की भाषा और शैली गौड़ जी की अपनी थी। उनकी भाषा देख-पढ़कर ही मैं समझ सका कि सुंदर, सरल, प्रसाद गुण पूर्ण, मुहाविरों से गठी हुई, हिंदी क्या है और कैसे लिखी जाती है। छोटे-छोटे वाक्य, मंजी हुई शैली, कहीं शिथिलता नहीं, कहीं झोल नहीं। विज्ञानाचार्य तो वह थे ही, विज्ञान ने उनकी भाषा को एक निश्चित और ठोस रूप दे दिया था—उस पर विज्ञान की छाप थी।

जीवन रेखा : रामदास जी गौड़ का जन्म संवत् 1938, मार्गशीर्ष अमावस्या, सोमवार तदनुसार 21 जनवरी, 1881 ई० को जौनपुर नगर में हुआ था, जहां उनके पिता मुंशी ललिताप्रसाद चर्च मिशन स्कूल के सेकेंड मास्टर थे, और बाद में जजी में वकालत भी करने लगे थे। गौड़ जी ने प्रारंभिक शिक्षा पिता से पाई। संवत् 1956 में जौनपुर से ही इंट्रेंस की परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास की। फिर काशी के सेंट्रल हिंदू कालेज में पढ़ने लगे और अपनी प्रतिभा के कारण शीघ्र ही उसके प्रिंसिपल डा० रिचर्डसन के स्नेहपात्र हो गए। फिर

प्रयाग जाकर म्योर सेंट्रल कालेज में भरती हुए और वहीं से बी० ए० किया। घरेलू कठिनाइयों के कारण कुछ दिन आर० एम० एस० में चालीस रुपये मासिक पर नौकर रहे। कुछ समय बाद कायस्थ पाठशाला में रसायन के अध्यापक हो गए। फिर म्योर सेंट्रल कालेज में नौकरी कर ली और वहीं से रसायन शास्त्र में एम० ए० किया। फिर तो विज्ञान, हिंदू संस्कृति, समाज-सेवा, शिक्षा के क्षेत्र में उन्होंने जीवन भर काम किया। संवत् 1975 से हिंदू विश्वविद्यालय के प्राच्य विभाग में रसायन के प्रोफेसर तथा सीनेट, फैकल्टी आफ़ आर्ट्स, साइंस और ओरियंटल लर्निंग (प्राच्य विद्या) के सदस्य रहे।

हिंदी में विज्ञान का अध्ययन : जो गली चेतगंज चौमुहानी (वाराणसी) से पूर्वोत्तर को जाती है, उसी के अंदर बड़ी पियरी मुहल्ले में एक पक्के मकान में रहते थे। उन दिनों सेंट्रल हिंदू कालेज में विज्ञान के अध्यापक थे। हिंदी में विज्ञान पर ऐसे व्याख्यान देते थे कि आज प्रायः पचपन वर्ष बाद भी वह एक दुर्लभ-सी बात है। गौड़ जी विश्वविद्यालय में पढ़ाते तो थे किंतु मालवीय जी महाराज की कट्टरता से बहुत दुखी थे। उनकी जातिगत कट्टरता के संबंध में अनेक घटनाएं वह सुनाते रहते थे। इसलिए वहां होने से वह बहुत खुश न थे। असहयोग आंदोलन का शंखनाद होते ही उन्होंने त्यागपत्र दे दिया। इसे मैं अपना भाग्य ही मानता हूं कि गौड़ जी और प्रेमचन्द जी दोनों के इस्तीफों के समाचार मैंने समाचारपत्रों में प्रकाशनार्थ भेजे थे।

1918 ई० में हिंदू विश्वविद्यालय में रसायन के प्रोफेसर होकर आने के पूर्व जब प्रयाग के म्योर कालेज में वह विज्ञान के 'डिमांस्ट्रेटर' थे, तो वहीं उनकी प्रेरणा से 10 मार्च, 1913 को विज्ञान परिषद् की नींव पड़ी थी। आज तो यह संस्था बहुत विकसित हो गई है और उसका अपना भवन भी बन गया है—यद्यपि आज वह उन्मेष और कार्य की स्फूर्ति उसमें नहीं है जो प्रारंभिक युग में थी। विज्ञान परिषद् ने हिंदी में वैज्ञानिक साहित्य को सुलभ करने का बहुत बड़ा काम किया है और मासिक 'विज्ञान' के प्रकाशन द्वारा हिंदी की एक बड़ी कमी की पूर्ति हुई है। 'विज्ञान' एप्रिल, 1915 ई० में पहली बार निकला था। इन सब कार्यों की मूल प्रेरणा गौड़ जी की ही थी। कथा-कहानी के रूप में गूढ़ वैज्ञानिक तत्त्वों को समझाने में वह उस्ताद थे। गंभीर हास्य एवं व्यंग्य-कला में भी पारंगत थे। हबीबुल्ला और आत्माराम के नाम से लिखे उनके व्यंग्य साहित्य की निधि हैं। दुःख तो यह है कि आज इस युग में भी उनकी स्फुट रचनाओं का एक भी संकलन प्रकाशित न हो सका। हम उन्हें प्रायः भूल गए हैं। किंतु उन दिनों के श्रेष्ठ साहित्यकार, गंभीर ज्ञान के कारण, गौड़ जी की बड़ी इज्जत करते थे। उनके पास सर्वश्री पद्मसिंह शर्मा, श्रीधर पाठक, प्रेमचन्द के पत्र प्रायः आते रहते थे। उनके यहां

आते-जाते रहने से मुझे भी इन बड़े लेखकों और कवियों का हाल-चाल मालूम होता रहता था और साहित्य की मंडी के भाव-ताव का भी कुछ ज्ञान हो जाता था। पाठक जी से गौड़ जी की बड़ी मित्रता थी। गौड़ जी कभी-कभी उन्हें अतुकांत पद्य में भी पत्र लिखा करते थे। पाठक जी भी वैसा ही जवाब देते रहते थे। पाठक जी उन दिनों इलाहाबाद के लूकरगंज मुहल्ले में 'पद्मकोट' नामक अपने ही बंगले में रहते थे। एक बार पाठक जी ने गौड़ जी के किसी पत्र का 'मुक्त पद्य' (फ्रीवर्स) शैली पर लिखी कविता में उत्तर दिया। मुझे उसकी कुछ पंक्तियां अब भी याद हैं :

विज्ञ, विज्ञान-आचार्य, मित्र-प्रवर,/ आज ही पत्रिका आपकी थी मिली।
बात सब ज्ञात हुई/। लीजिए कर दिया पूर्ण इस दास ने
स्नेह-आज्ञा-भरित, सक्रुप-कृत / आपका मान्य अनुरोध भी।

नायक नगला (बिजनौर, उत्तर प्रदेश) से पद्मसिंह शर्मा जी के पत्र भी आया करते थे। एक बार वह स्वयं काशी आए थे, तब गौड़ जी ने मुझे भी उनसे मिलाया था। पद्मसिंह जी गंगास्नान करके लौटे ही थे। जब मालूम हुआ तो एक कट्टर आर्यसमाजी युवक ने उनसे पूछा : 'पंडित जी, आप भी गंगा स्नान को महत्त्व देते हैं ? आर्यसमाज तो···।' पद्मसिंह जी ने उसका आशय समझ छूटते ही कहा : 'हां भैया, हमारी गंगा मैया स्वामी दयानन्द और आर्यसमाज से अधिक पुरानी हैं और न जाने कब से हमें निर्मल करती आ रही हैं।' पद्मसिंह जी से सारे मतभेद के बावजूद मैं यह कह सकता हूं कि उनके समान जिंदादिल आदमी उस समय के विद्वानों में कम ही होंगे।

ज्ञानमंडल से संबंध : स्व० शिवप्रसाद जी गुप्त ने उन्हीं दिनों ज्ञानमंडल की स्थापना की थी। शिवप्रसाद जी राष्ट्रभाषा के रूप में हिंदी के कट्टर समर्थक बल्कि भक्त थे। अपनी मोटरगाड़ी पर हिंदी में अंक प्लेट लगाने के लिए जुर्माना भी दे चुके थे। यूरोप हो आए थे। अपने धन से मालवीय जी एवं लाजपतराय इत्यादि की सहायता करते रहते थे। मालवीय जी उनको पुत्रवत् मानते थे परंतु राजनीतिक दृष्टिकोण दोनों के भिन्न थे। शिवप्रसाद जी काशी की नाक थे और उनकी नगवा की कोठी 'सेवा उपवन' चेतना का केंद्र थी। बड़े-बड़े नेता काशी में वहीं आते और टिकते थे। उनके पुस्तकालय में पुस्तकों का अद्भुत संग्रह था, परंतु व्यवस्था ठीक नहीं थी।[1] जो ले जाता, लौटाने का नाम न लेता। प्रसिद्ध विद्वान् और बहुभाषाविद् विनयकुमार सरकार उनके परम मित्र और प्रेरक थे और उन्हीं की प्रेरणा से उन्होंने विश्व भ्रमण भी किया था, जिसका वृत्तांत बाद में पुस्तकाकार 'पृथिवी प्रदक्षिणा' के नाम से ज्ञानमंडल से प्रकाशित हुआ।

1. बाद में, उनका निजी पुस्तकालय, काशी विद्यापीठ को दे दिया गया।

विश्व भ्रमण, उत्तम अंग्रेजी साहित्य के अध्ययन और भारत के उच्चतम नेताओं के संपर्क ने शिवप्रसाद जी की आंखें खोल दी थीं। उत्तम साहित्य (विशेषत: वैज्ञानिक) के प्रकाशन के लिए ही उन्होंने ज्ञानमंडल की स्थापना की थी। वैज्ञानिक साहित्य के प्रकाशन का खब्त उन पर कुछ ऐसा सवार हुआ कि जो कोई किसी नये विषय पर किताब लिख लाता, उनसे खूब पुरस्कृत होता। अनेक अधकचरे प्रोफ़ेसरों और लेखकों ने उन्हें ऐंठा और उनके पास दर्जनों पांडुलिपियां एकत्र हो गईं। कई अनुवाद भी कराए। गुप्त जी में उत्साह तो था पर परख न थी, न उन्हें उन विषयों का ज्ञान था। जब गौड़ जी ने विश्वविद्यालय से इस्तीफा दे दिया, तब गुप्त जी ने आग्रहपूर्वक इन पुस्तकों के निरीक्षण, संशोधन एवं संपादन का काम गौड़ जी के सुपुर्द किया। वैसे थोड़ा-बहुत काम तो वह पहले भी कर देते थे। गौड़ जी ने उत्तरदायित्व स्वीकार तो किया परंतु अपनी शर्तों पर। अनेक पांडुलिपियां नष्ट करनी पड़ीं; कई वापस कर दी गईं और थोड़ी ही ऐसी बचीं जिनका किसी तरह संशोधन या संपादन हो सका। इसमें गुप्त जी के हजारों रुपये बर्बाद हो गए परंतु जो कुछ गौड़ जी ने किया, उसमें कभी उन्होंने बाधा नहीं डाली। वह गौड़ जी को 'गुरुवर' लिखते थे और वैसी ही इज्जत भी करते थे।

गौड़ जी की देखरेख में ज्ञानमंडल ने काफी ख्याति प्राप्त की। वहीं से पद्मसिंह जी शर्मा के सतसई-संजीवन भाष्य का प्रथम भाग, जो भूमिका स्वरूप था, प्रकाशित हुआ। इस पुस्तक ने उस समय हिंदी जगत् में एक तहलका मचा दिया था। पद्मसिंह जी की शैली उर्दू से बहुत प्रभावित थी और चलती हुई शैली थी। उसमें भाषा का ओज, शब्दों का चुनाव, मुहाविरों का प्रयोग देखते ही बनता था। हिंदी में तुलनात्मक आलोचना का आरंभ एक प्रकार से इसी ग्रंथ से हुआ। समीक्षाशास्त्र की दृष्टि से यह शैली श्रेयस्करी न थी और आज की समीक्षा शैली उसे बहुत पीछे छोड़ गई है परंतु उस समय तो लोग उस पर लोटपोट थे। यहां तक कि हिंदी साहित्य सम्मेलन ने मौलिक ग्रंथों के लिए दिया जाने वाला मंगलाप्रसाद पारितोषिक भी इस अपूर्ण भाष्य पर प्रदान किया। उस जमाने में साहित्य में जबर्दस्त का सिक्का चलता था (जब कि अब प्रचारक ने उसे अपदस्थ कर दिया है) अन्यथा न वह ग्रंथ मौलिक था, न पूर्ण था। फिर भी पुरस्कार उसी पर दिया जाना था और दिया गया।

इन्हीं दिनों गौड़ जी ने अपना मौलिक ग्रंथ 'वैज्ञानिक अद्वैतवाद' भी ज्ञानमंडल से प्रकाशित कराया। वैज्ञानिक आधार पर दर्शन के अध्ययन का हिंदी में यह प्रथम प्रयत्न था। उसका आदर भी खूब हुआ। सबसे बड़ी बात तो यह है कि ऐसे गूढ़ विषय को, इस ग्रंथ में, गौड़ जी ने ऐसी सरल भाषा

और मनोरंजक शैली में उपस्थित किया है कि वह आज के हिंदी लेखकों के लिए आदर्श बन गई है। 'विज्ञानांकुर', 'दियासलाई और फास्फोरस', 'पौराणिक सृष्टि एवं विकासवाद', 'विज्ञानहस्तामलक' और 'हास्य-व्यंग्ययुक्त 'भुनगा पुराण' उनकी प्रसिद्ध रचनाएं हैं।

आत्मवाद के पथ पर : गौड़ जी वैज्ञानिक थे और उनका विज्ञान भौतिकवाद से निकालकर उन्हें आत्मवाद की ओर ले जा रहा था। ज्यों-ज्यों वह अध्ययन करते गए उन पर स्पष्ट होता गया कि भौतिक विज्ञान जीवन की समस्याओं की संतोषप्रद व्याख्या करने में असमर्थ है; फिर वह विज्ञान विज्ञान ही नहीं है जो जगत् की व्याख्या करके समाप्त हो जाता है क्योंकि उसके बाद बौद्धिक जिज्ञासा और चेतना के सूक्ष्म स्तर आते हैं। इसलिए गौड़ जी धीरे-धीरे धर्म एवं दर्शन के अध्ययन की ओर प्रवृत्त हुए। तुलसी की रामायण उन्हें बहुत प्रिय थी और उसका उन्होंने साहित्य की दृष्टि से भी बहुत अच्छा अध्ययन किया था। ज्यों-ज्यों उनमें धार्मिक भावना विकसित होती गई, उन्होंने उसका धार्मिक और दार्शनिक दृष्टि से भी अध्ययन किया और रामायण की टीका भी लिखी। इस टीका का भूमिका भाग, जो हिंदी पुस्तक एजेंसी, कलकत्ता से प्रकाशित हुआ, आज तक तुलसी की विचारभूमि को समझने के लिए एक अनुपम पथदर्शक है। हिंदी पुस्तक एजेंसी वालों के आग्रह पर ही उन्होंने आठवें दर्जे तक के छात्रों के लिए पोथियां तैयार कीं, जो असहयोग युग में राष्ट्रीय शालाओं में खूब चलीं। किंतु उनकी सबसे बड़ी कृति तो उनका विशाल ग्रंथ 'हिंदुत्व' है जिसमें हिंदू धर्म का व्यापक अनुशीलन हमें प्राप्त होता है। वैज्ञानिक अद्वैतवाद का उल्लेख पहले किया ही जा चुका है; यह हिंदी दर्शन साहित्य को उनकी विशेष देन है।

व्यवहार-दक्षता : वैज्ञानिक और भक्त होते हुए भी गौड़ जी बड़े व्यावहारिक व्यक्ति थे। पैसे के लेन-देन में वह खरे थे, और किसी का भी कोई काम सामान्यतः निःशुल्क नहीं करते थे। एक घटना मुझे याद आ रही है। एक दिन की बात है; शाम हो चली थी। मैं उनके पास ही बैठा कोई ग्रंथ पढ़ रहा था। इतने में उनके मकान के पास रहने वाला एक बढ़ई कोई चिट्ठी लेकर उसे पढ़वाने आया। उन्होंने उसे यह कहकर लौटा दिया कि 'चश्मा कहीं रख दिया है, मिल नहीं रहा है, फिर कभी आना।' वह निराश लौटा जा रहा था। जरा-सी बात थी। मैंने उसे रोककर उसकी चिट्ठी पढ़ दी और वह खुश होकर चला गया। उसके चले जाने के बाद गौड़ जी ने मुझे इशारे से अपने पास बुलाया और कहा : 'तुम अपने को बहुत बुद्धिमान् समझते हो।' मैं तो हक्का-बक्का रह गया कि मुझसे क्या अपराध हो गया। वह बोले : 'क्या मैं उसकी चिट्ठी नहीं पढ़ सकता था? पर जानते हो मैंने उसे क्यों

लौटा दिया था ? विद्या का आज कोई मूल्य नहीं रह गया है। अभी तुम खड़ाऊं की एक कील उससे जड़वाने जाओ तो दो पैसे ले लेगा, बिना कुछ लिये हर्गिज न जड़ेगा। परंतु हमें फालतू समझता है। हमारे समय और शिक्षा की कोई कीमत नहीं है ?' इस घटना से उनके दृष्टिकोण पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

गृह जीवन : घर में वह, उनकी पत्नी तथा एक बेटी शान्ता, यही तीन प्राणी थे। मेरा ऐसा खयाल है कि उनका गृह जीवन बहुत सुखी नहीं था और उनकी पत्नी कुछ तेज स्वभाव की महिला थीं। गौड़ जी की आर्थिक स्थिति ऐसी न थी कि तामझाम की चीजों पर विशेष कुछ खर्च कर सकते। उनकी सादा जीवन वाली विचारधारा भी थी। इससे भी कुछ तनाव का वातावरण घर में था। उत्तरोत्तर वह भक्त और कट्टर होते गए। बात यहीं तक नहीं रही; परलोक तत्त्व की खोज में वह प्रेतलोक तक जा पहुंचे। प्रेतात्माओं में उनका विश्वास बहुत पहले से ही था और जब-तब प्लांचेट का प्रयोग करते रहते थे। घरेलू कटुता ने उनके अंधविश्वास को घनीभूत कर दिया। मुझे याद है कि एक बार उनका धोबी महीने भर की धुलाई कुछ बता रहा था। उनकी स्त्री कहती थीं कि इतना तो हो नहीं सकता। वह कुछ कम बताती थीं। दोनों अड़े हुए थे। गौड़ जी तक बात पहुंची तो बोले : 'अभी फैसला हुआ जाता है।' बेटी शान्ता को माध्यम बना उन्होंने प्रेतात्मा का आवाहन किया। जो प्रेतात्मा आई, कदाचित् वह भी धोबी रही होगी, क्योंकि उसने धोबी की बताई रकम से भी ज्यादा पैसे बताए और उतने ही पैसे देने पड़े। उनकी स्त्री दांत पीसकर रह गईं।

प्रेत जगत् की खोज : आगे चलकर यह प्रेतात्मा का नशा उन पर ऐसा सवार हुआ कि हर जगह और हर रोग में उन्हें प्रेतात्मा ही दिखाई पड़ती थी। मानसिक व्याधि विज्ञान की नवीनतम उपलब्धियों का उस समय ज्ञान और प्रचार बहुत कम था। और पुराने अंधविश्वासियों की भांति हिस्टीरिया, मृगी इत्यादि रोगों को तो वह रोग मानते ही न थे, प्रेतबाधा ही बताते थे और उनका इलाज भी उसी रूप में करते थे। उत्तर जीवन में तो वह प्रेतराज हरसू ब्रह्म के पुजारी एवं एजेंट हो गए थे। वहां का विशद वर्णन करते थे : 'यों दरबार लगता है; हजारों प्रेत सेवक हाथ बांधे चारों ओर खड़े रहते हैं। यों अर्जी पेश होती है; उसकी बाकायदा सुनवाई होती है, फिर फैसला होता है।' उनका कहना था कि भयानक रोग भी इस क्रिया से दूर हो जाते हैं। कोई भी बात हो, वह प्रेत का आवाहन करने को प्रस्तुत हो जाते थे। इसके कारण, भयवश बहुत से मित्रों ने उनके यहां जाना छोड़ दिया था। **उनके समस्त कार्य, इस प्रेत प्रकरण के कारण, मंद पड़ गए थे।**

अंतिम दिनों में वह रोगी रहने लगे थे। 12 सितंबर, 1937 को 9 बजे रात तक 'हिंदुत्व' नामक ग्रंथ के संबंध में कुछ कार्य करते रहे किंतु तीन ही घंटे बाद, आधी रात को, उनका देहावसान हो गया। इस प्रकार केवल 56 वर्ष की आयु में हिंदी जगत् की एक विभूति अनंत निद्रा में सो गई।

जो हो, उन्होंने हिंदी की गद्य शैली का परिमार्जन किया; वैज्ञानिक विषयों को सरल सुबोध भाषा में लिखने का मार्ग दिखाया और यह भी सिद्ध किया कि विज्ञान धर्म में बाधक नहीं, उलटे उसका पोषक है। कठिन विषयों को सरल एवं रोचक ढंग से व्यक्त करने की उनकी शैली आज तक हिंदी में बेजोड़ है। स्व० महामहोपाध्याय डा० गंगानाथ झा ने ठीक ही लिखा है: 'मेरा तो दृढ़ संस्कार है कि दो-तीन आचार्यों को छोड़कर, रामदास जी की सी स्पष्ट, सरल, सुबोध हिंदी अभी तक कोई नहीं लिख सका। मिथ्या आग्रह छोड़कर यदि लोग इनको अपना आदर्श बनावें तो हिंदी का बड़ा कल्याण हो।'

3

वर्मा द्वय

जगन्मोहन वर्मा

मेरा पर्याप्त समय काशी नागरी प्रचारिणी सभा के आर्यभाषा पुस्तकालय में बीतता था। यहीं एक दिन जगन्मोहन वर्मा जी से परिचय हुआ। मोटा खादी का कुर्ता, उस पर मिर्जई, पैर में चमरौधा और हाथ में खोपड़ी भंजक (यह बनारसी भाषा है), जिसे खड़ी बोली में सोंटा या डंडा कहेंगे। मैं नाम से तो परिचित था परंतु ऐसे लट्ठभारती रूप के लिए तैयार न था। हंसते यों थे मानो गंडक के तट पर रगड़ खाते हुए कंकड़ फिसल रहे हों। नाम जगन्मोहन और रूप यह! फिर भी उनमें न जाने क्या था कि मैं उनके सीधे-सादे ग्रामीण रूप की ओर खिंच गया। वह सलीके से पहनने-ओढ़ने वाली पारंपरिक दुनिया में एक चुनौती के समान घूमते-फिरते थे। सहज घनिष्ठता हो गई। वह मेरे पिता-तुल्य थे परंतु अपनी कृपा एवं स्नेह-रस से मुझे सींचने में कभी कुंठित नहीं हुए। घंटों बैठकी होने लगी। जीवन में सैकड़ों लेखकों के संपर्क में आया हूं, परंतु उन सा सरल, अकृत्रिम, निष्कपट किसी और को नहीं पाया। उनमें एक अद्भुत देहाती सरलता और पूर्वांचलिक अक्खड़पन था। न किसी की उपेक्षा, न अपेक्षा और न किसी प्रकार का संकोच।

चीनी भाषा के प्रथम पंडित : जगन्मोहन जी बौद्ध साहित्य के अच्छे विद्वान् थे और उस समय तो हिंदी में वही एक व्यक्ति थे जिन्हें दुखद और जटिल चीनी भाषा का ज्ञान था। उन्होंने फाहियान, सुएन-चांग, ईत्सिग इत्यादि के यात्रा विवरणों का, उस जमाने में, मूल चीनी से प्रामाणिक हिंदी अनुवाद, नागरी प्रचारिणी सभा के लिए किया। अंग्रेजी में जो काम बील ने किया है वही काम हिंदी में जगन्मोहन जी ने किया। बल्कि उनके अनुवाद बील से भी ज्यादा प्रामाणिक हैं। उन्हीं के संपर्क से इतिहास के अध्ययन की ओर मेरी

विशेष रुचि हुई, और मैंने 'रूलर्स आफ इंडिया' पुस्तकमाला की पुस्तक 'टीपू सुलतान' का अनुवाद किया। बाद में बाटफर्ड की 'रोमन हिस्ट्री' का अनुवाद भी मैंने किया। 'टीपू सुलतान' की तो भूमिका भी जगन्मोहन जी ने लिखी थी। उन्हीं दिनों मैंने 'शिवा बावनी' पर एक विस्तृत टीका भी लिखी थी किंतु बहुत दिनों तक मुद्रण एवं प्रकाशन की व्यवस्था न होने पर, एक दिन ये तीनों पुस्तकें फाड़कर फेंक दीं। 'रोम का इतिहास' तो रूपनारायण पांडेय ने 'गंगा पुस्तकमाला' के लिए स्वीकार भी कर लिया था, परंतु वर्षों बीतने पर भी जब उसके प्रकाशन की नौबत न आई तो चित्त खिन्न हो गया और वह निर्वाण को प्राप्त हुआ।

जगन्मोहन जी उन दिनों ईश्वरगंगी में रहते थे। इसी मुहल्ले में ज्योतिष के प्रसिद्ध आचार्य पं० अयोध्यानाथ जी भी रहते थे। उनके यहां भी मैं दो तीन बार गया। उन्होंने बड़े स्नेह से बातें कीं परंतु उनका अधिक सत्संग मुझे नहीं प्राप्त हुआ। जगन्मोहन जी के साथ बातें करते-करते प्रायः मैं नागरी प्रचारिणी सभा से ईश्वरगंगी उनके निवासस्थान तक पहुंच जाता और जब लौटने की आज्ञा मांगता तो 'अरे बैठऽहो' कह कर वह कोई न कोई बात छेड़ देते। किस प्रकार अंग्रेज इतिहासकारों ने अपने इतिहास ग्रंथों में भारतीय इतिहास की घटनाओं को तोड़-मरोड़कर अपने पूर्वकलिपत विचारों की पुष्टि की है, इसके अनेक उदाहरण वह समय-समय पर दिया करते थे।

पुत्र सत्यजीवन : जगन्मोहन जी की आर्थिक स्थिति अच्छी न थी। फिर लड़के भी वैसे ही फिरंतू थे। बड़े पुत्र सत्यजीवन ने भी पढ़ाई छोड़ दी थी। जगन्मोहन जी ने खादी आदि की एक छोटी दुकान उन्हें करा दी थी। परंतु वह ज्यादा चलती न थी। जब श्यामसुन्दरदास जी हिंदू विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग के अध्यक्ष हुए तो कई बार उन्होंने जगन्मोहन जी को टोका और कहा : 'क्या लड़के का जिंदगी खराब कर रहे हो ?'

सत्यजीवन से मेरी भी दुकान पर बातें होतीं। उन दिनों मेरे लेख पत्र-पत्रिकाओं में देख उन्हें आश्चर्य होता था और वह पूछा करते थे कि लेख कैसे लिखे जाते हैं, कैसे छपते हैं आदि। पिता तो विद्वान् और लेखक थे ही। सत्यजीवन के मन में लहर उठती, परंतु प्रेरणा और अभ्यास के अभाव में दब जाती। 'बाबू साहब' (श्यामसुन्दरदास जी) ने बाद में श्री रामचन्द्र शुक्ल और लाला भगवानदीन को भी विश्वविद्यालय में अध्यापनार्थ बुला लिया। अब बाबू साहब, शुक्ल जी और लाला जी तीनों ने वर्मा जी से आग्रह किया कि लड़के की जिंदगी खराब न करो। लाला जी तो अक्सर उन्हें कहते : 'पैदा भये कायथ, करे चले बनियई; एक्को नायं सधैगो।' एक दिन वर्मा जी ने मुझसे भी इस विषय में काफी देर तक बातें कीं। मैंने कहा कि जब सत्यजीवन

का भी मन पढ़ने का है तब आप क्यों नहीं पढ़ाते हैं ? आखिर मित्रों के आग्रह के आगे शीश नवाकर उन्होंने लड़के को पुनः कालेज में भेज दिया। और वही संकोची सत्यजीवन बाद में हिंदी के अच्छे लेखक (श्री सत्यजीवन वर्मा 'भारतीय') हुए। उन्होंने 'लेखक' नाम का पत्र निकाला; लेखक संघ की स्थापना की और लेखन संबंधी कई पुस्तकों की रचना की।

हिंदू विश्वविद्यालय से एम० ए० करने के बाद सत्यजीवन कायस्थ पाठशाला, प्रयाग में अध्यापक हो गए थे। जब हिंदुस्तानी एकेडमी की स्थापना हुई तो वह उसमें चले गए। इस संबंध में एक मजेदार बात याद आती है। एकेडमी के लिए मैं भी उम्मीदवार था और सर्वश्री प्रेमचन्द, जगन्नाथदास रत्नाकर, अयोध्यासिंह उपाध्याय, श्यामबिहारी मिश्र, बदरीनाथ भट्ट, श्यामसुन्दरदास जी इत्यादि ने मेरे लिए जोरदार सिफारिशें की थीं। रत्नाकर जी, उपाध्याय जी और मिश्र जी, जो उस समय उन्नाव के जिला मजिस्ट्रेट तथा कलक्टर थे ने तो मेरे संबंध में बड़ा जोरदार लिखा था। इनमें से अधिकांश एकेडमी के सदस्य भी थे। इसलिए मुझे अपनी नियुक्ति का पूर्ण विश्वास था। मैं आवेदन और इन लोगों के पत्र लेकर प्रयाग पहुंचा; संयोगवश सत्यजीवन के पास ही ठहरा। बातचीत के सिलसिले में जब मुझे ज्ञात हुआ कि वह स्वयं उम्मीदवार हैं और सेक्रेटरी डा० ताराचन्द से मिल भी चुके हैं, तब मैंने आवेदन एवं सिफारिशी पत्र उन्हें सौंप दिए और कह दिया कि इस अवस्था में मेरे लिए कोई प्रयत्न करना शोभनीय न होगा। चला आया। अब तो सत्यजीवन कार्यमुक्त भी हो चुके हैं और नया कटरा तथा ममफोर्डगंज (प्रयाग) में दो आलीशान मकानों का निर्माण कर, शांत जीवन व्यतीत कर रहे हैं। उनका प्रेस और प्रकाशन भी है।

श्री रामचन्द्र वर्मा

नागरी प्रचारिणी सभा में आते-जाते ही मेरी रामचन्द्र वर्मा से भी भेंट हुई। वह भी उन दिनों शुक्ल जी और लाला जी के साथ 'हिंदी शब्द सागर' के संपादन का काम करते थे। उनकी छवि देखते ही बनती थी। चुन्नटदार अद्धी का कुर्ता इत्र में बसा हुआ, तिरछी दुपलिया टोपी, बढ़िया पंप शू, सुनहला चश्मा। वह शुक्ल जी, और खास तौर से लाला जी एवं जगन्मोहन जी से भिन्न दुनिया के जीव थे। इन्होंने बड़ी रंगीली तबीयत पाई थी और मध्यम श्रेणी के बनारसी रईसों की तरह रहते थे। उस समय जब हवा में राष्ट्रीयता और खादी की सादगी व्याप्त थी, इनकी आनबान देखकर मैं आश्चर्यचकित रह गया था। एक दर्शक की भांति उनकी गतिविधि देखता रहा। घुल-मिल न पाया।

सफल अनुवादक : उस युग में एक सफल अनुवादक के रूप में वर्मा जी की धूम थी। वह और श्री रूपनारायण पांडेय दोनों हिंदी के श्रेष्ठ अनुवादकों के रूप में प्रसिद्ध थे। रूपनारायण जी मुख्यतः बंगला से अनुवाद करते थे किंतु वर्मा जी अंग्रेजी, बंगला, मराठी, गुजराती कई भाषाओं से अनुवाद करते थे और इस तेजी के साथ करते थे कि आश्चर्य होता था। एक दिन में दो-तीन फार्म (16 पृष्ठ का डबलक्राउन का एक फार्म) अनुवाद कर देना उनके लिए खेल था। 1907 ई० में जब नागपुर से 'हिंदी केसरी' निकला तब यह उसमें काम करने लगे। बाद में उसके संपादक भी हो गए थे। मराठी भाषा का ज्ञान उन्हें तभी से था। बंगला और गुजराती उन्होंने बाद में सीख ली थीं। कुछ समय तक उन्होंने पटना के 'बिहार बंधु' एवं काशी के दैनिक 'भारतजीवन' का भी संपादन किया था।

अनुवाद में तो वह माहिर थे परंतु हस्तलिपि क्या थी, विधिलिपि थी। उन्हीं के समान लंबे-लंबे परंतु पढ़े न जा सकने वाले अक्षर होते थे। उस समय काशी के पक्के महालों में दो प्रसिद्ध प्रेस थे—हितचिंतक प्रेस और लक्ष्मीनारायण प्रेस। काशी के सार्वभौम रूप और हिंदी की विशेषता देखिए कि दोनों के अधिकारी एवं कर्त्ता-धर्त्ता महाराष्ट्रीय थे और काशी के जीवन में घुल-मिल गए थे। हितचिंतक प्रेस के श्री पावगी और लक्ष्मीनारायण प्रेस के व्यवस्थापक श्री गणपति कृष्ण गुर्जर थे। लक्ष्मीनारायण प्रेस हितचिंतक के सामने नया था और ग्वालियर के सामंत जटार साहब ने स्थापित किया था। यह प्रेस जतनवड़ में था; तरुण एवं हंसमुख श्री सोभण गुर्जर जी के सहायक थे। इस प्रेस के कंपोजीटर ही वर्मा जी की विधिलिपि पढ़ पाते थे। बाद में तो वर्मा जी ने शिकायतों से तंग आकर यह नियम ही बना लिया कि टाइप करके ही अपनी रचनाएं भेजेंगे। उनके इस निश्चय से बहुतों का सिरदर्द दूर हो गया।

चन्द्रकांता : वर्मा जी के मित्रों में उन दिनों के प्रसिद्ध रचयिता स्व० देवकीनन्दन खत्री के पुत्र बा० दुर्गाप्रसाद जी प्रमुख थे। प्रसंग से बाहर जाकर भी यह कह देना उचित होगा कि देवकीनन्दन जी के लहरी प्रेस तथा स्व० रामकृष्ण वर्मा के भारतजीवन प्रेस ने प्रारंभिक युग में हिंदी की जो सेवा की है वह इतिहास में स्वर्णाक्षरों से लिखने योग्य है और शोध का एक विषय हो सकता है। बा० दुर्गाप्रसाद पर राष्ट्रीय भावनाओं का प्रभाव था; वह खादी पहनते थे। उनके संग से, किसी मनोनुकूल अवसर पर, वर्मा जी के मन में भी न जाने क्या आया कि उन्होंने अपनी परिधान-प्रणाली बदल दी और सादे जीवन का बाना स्वीकार कर लिया।

बाद में वर्मा जी ने अपना स्वतंत्र प्रकाशन साहित्य-रत्नमाला के नाम से

शुरू किया था, जो किसी न किसी रूप में आज भी चल रहा है। एक समय तो उनके यहां से 'प्रसाद' जी की भी कई पुस्तकें प्रकाशित हुई थीं।

उस काल के साहित्याराधकों में पैसे की ओर विशेष झुकाव न था परंतु वर्मा जी पारिश्रमिक लिये बिना एक पंक्ति भी न लिखते थे। बाद में उन्होंने एक ही कोश से कई कोश बनाए; सरकार द्वारा 'पद्मश्री' उपाधि से विभूषित किए गए और अंत तक अपना सम्मान बनाए रखा।

4

भरे मधुचक्र-सी काशी

छायावादयुगीन काशी विद्वज्जन तथा लेखकों एवं कवियों से परिपूर्ण थी। उसकी अवस्था भरे हुए मधुचक्र की-सी थी। जिधर निकलता, रस से प्राण छक जाते; जिधर जाता उधर ही वाणी की साधना मूर्त्त दिखाई पड़ती। मानो यह साहित्य-साधना का मध्याह्न था; मानो इस नगरी पर मधुऋतु छा गई थी। वार्द्धक्य का ज्ञान वितरण, यौवन का समर्पण और बचपन का कुतूहल एक साथ चल रहे थे। सूखी डालियों में भी हरियाली फूटी पड़ती थी। वातावरण में एक गूंज थी, एक ललकार थीं, एक कंपन था। अब भी काशी जाता हूं और आज भी हिंदी के सेवकों की वहां कुछ कमी नहीं परंतु न जाने क्यों एक सूनापन बरसता है; दिल में कसक होती है; सब कुछ होकर भी जैसे कुछ खो गया है :

जिन दिन देखे वे कुसुम गई सु बीति बहार।

प० गोविंदनारायण मिश्र

हां, तो मैं बहक रहा हूं। स्मृतियों में भी खुमारी घर कर गई है। मैंने शुक्ल जी, जगन्मोहन जी, रामचन्द्र वर्मा जी इत्यादि का नाम लिया है। साहित्य विद्यालय में 'पृथ्वीराज रासो' के अध्ययन की चर्चा के सिलसिले में पहली बार गोविन्दरारायण मिश्र जी का नाम सुना। वैसे तो वह कलकत्ता में रहते थे; वहीं उनका व्यवसाय भी था परंतु उन दिनों काशी में ही रहने लगे थे। मिश्र जी प्राकृत एवं डिंगल के गंभीर विद्वान् थे। हिंदी साहित्य सम्मेलन के द्वितीय अधिवेशन के अध्यक्ष स्थान से जो भाषण उन्होंने किया था उसमें हिंदी के संस्कृतनिष्ठ परंतु सुगठित रूप के दर्शन पहली बार हुए थे। रासो के संबंध में तो उनको प्रमाण माना जाता था। रासो तथा प्राकृत के अध्ययन के सिलसिले में कई बार उनके दर्शन किए। उनकी विद्वत्ता का क्या कहना ? एक-एक शब्द

के अंतराल में पैठते थे; एक-एक की व्युत्पत्ति, रूप भेद इत्यादि का विस्तृत विवेचन करते थे।

लंबा-चौड़ा डील-डौल, दिव्य शरीर, गंगास्नान कर गजराज की भांति चलते थे; लगता था मानो उनका अंतःसौख्य ही साकार हो उठा हो। वैसे सीधे-सादे पर गंभीर व्यक्ति थे। दुनिया देखे हुए आदमी थे, इसलिए बाजार में हर चीज का मूल्य आंकते थे। मैं देखता था, सब्जी खरीदने के लिए चौखंबा के तरकारी बाजार के कम से कम दो-तीन चक्कर अवश्य लगाते थे। एक-एक चीज के दाम कई-कई जगह पूछते, बाजार देखते, बाजार भाव देखते। तब तौल-ठेठाकर कुछ लेते थे। हम लोगों को खीझ और हंसी भी आती परंतु वह शांत, अनुद्वेलित समीक्षक की भांति प्रत्येक पदार्थ को देखते और ग्रहण करते थे। मैंने उनसे कई बार निवेदन किया कि गुरुदेव, अपना अंतःस्थ ज्ञान हमारे साहित्य को ग्रंथ रूप में दे जाइए। 'हां, हां। देखो, 'समय आने दो' कहते और टाल जाते। थोड़ा-बहुत उन्होंने जो लिखा, वह भी प्रायः अप्रकाशित ही रह गया। मिश्र जी की वंश परंपरा में अब कौन-कौन है, पता नहीं। वर्षों पूर्व मुझे एक युवक मिले थे, जो अपने को उनका नाती या ऐसा ही कुछ बताते थे। कह रहे थे कि स्व० मिश्र जी की कई रचनाएं उनके पास हैं। मैंने उनको प्रकाशित कराने का आग्रह किया और उन्होंने वचन भी दिया परंतु मेरी जानकारी में इस ओर कुछ ज्यादा नहीं हुआ। अब कुछ दिनों पूर्व उनकी मूर्ति का अनावरण कलकत्ता में हुआ है। यह शुभ लक्षण है।

गोस्वामी किशोरीलाल जी

मिश्र जी के साथ हमें स्व० आचार्य किशोरीलाल गोस्वामी की भी बड़ी याद आती है। किशोरावस्था में मैंने उनकी अनेक रचनाएं पढ़ी थीं। उन्होंने सभी विषयों पर कलम चलाई थी। वह कथाकार, उपन्यास लेखक, नाटककार, कवि, समीक्षक, अनुवादक एवं धर्माचार्य थे। बंगला के कई उपन्यासों के अनुवाद किए थे। वैष्णव धर्म के एक संप्रदाय के आचार्य थे। संस्कृत के भी अच्छे विद्वान् और लेखक थे। वह संस्कृत कालेज, वाराणसी के सबसे पुराने कुछ साहित्याचार्यों में थे।

साहित्य एवं विद्या की लंबी परंपराएं इनको प्राप्त हुई थीं। इनके मातामह गोस्वामी श्री कृष्णचैतन्य भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के साहित्यगुरु थे। किशोरावस्था में पिता के साथ आरा (बिहार) में रहे। उन्हीं दिनों उद्योग कर वहां आर्य पुस्तकालय की स्थापना की। बीसवीं शती तेजी से चली आ रही थी; उन्नीसवीं शती का अंत निकट था। तब यह काशी में आकर रहने लगे थे।

इन्होंने सैकड़ों छोटी-बड़ी पुस्तकें लिखीं। संस्कृत के विद्वान् थे किंतु इनकी

रचनाओं में उर्दूपन काफी है। विषय की दृष्टि से रचनाओं में विशेष मौलिकता व गंभीरता नहीं, फिर भी अपने युग में साहित्य की समृद्धि के लिए इन्होंने बड़ा यत्न किया। वृन्दावन रहते थे, कभी काशी। वृन्दावन में प्रेस, प्रकाशन कार्य चलता था। एक समय इनकी पुस्तकों की अच्छी मांग थी और प्रकाशन खूब चल निकला था परंतु पुत्र छबीलेलाल जी राष्ट्र की सेवा के कार्यों में खिच गए; प्रेस और प्रकाशन का कार्य शिथिल होता गया। छबीलेलाल जी स्वयं भी साहित्य में अच्छी रुचि रखते थे; लिखते भी अच्छे थे। परंतु उन पर सार्वजनिक जीवन का बोझ अधिकाधिक आता गया; वह फंसते गए और प्रेस, प्रकाशन सब बैठ गया! जब वह वृन्दावन म्युनिसिपल बोर्ड के अध्यक्ष थे तब भी मैंने कई बार उनसे पिता की वृत्तियों की ओर ध्यान देने को कहा। उन्होंने वादे बहुत किए किंतु राजनीति का जहर कभी उनके सिर से उतर नहीं सका।

जीवन के अंतिम युग में किशोरीलाल जी नियमित रूप से काशी में रहने लगे थे। मैं लाहौरी टोला से उनके मकान पर जब-तब दर्शनार्थ चला जाता। कैसा गौर दिव्य शरीर था! बुढ़ापे में भी बड़े ही मौज और ठसक के साथ रहते थे। उनमें बड़ा जीवट था और खरी-खरी सुनाने में चूकते न थे। एक बार श्यामसुन्दरदास जी की रामायण की टीका पर बात चली। अनेक दोष भी बताए। मैंने कहा : 'गुरु जी, सुना है वह बिहारी सतसई की भी टीका लिख रहे हैं। 'बस तमतमा उठे, बोले : 'हां, कह दो बिहारी की भी कपाल-क्रिया कर दें।'

नहा-धोकर, चुन्नटदार धोती या नीलांबर एवं संप्रदाय-चिह्नों से विभूषित हो जब बैठते थे तो उनका रूप बड़ा दिव्य लगता था। संस्कृत की सूक्तियां और ब्रजभाषा की कविताएं जब मौज में आकर सुनाने लगते थ तब चारों ओर जैसे स्वप्नों का एक इंद्रजाल खड़ा हो जाता था। बुढ़ापे में भी क्या जिंदादिली थी। रीतिकाल की परंपरा चली आ रही थी। शृंगार वातावरण में था। बाल विवाह, अनमेल विवाह, वृद्ध विवाह इत्यादि पर जो कविताएं होती थीं उन पर भी शृंगार की चाशनी चढ़ी होती। युवती भार्या के मन में अपने बाल पति को देख कर जो दर्द होता है उस पर गोस्वामी जी ने एक कविता लिखी थी और प्रायः सबको सुनाते रहते थे। यह उनकी बड़ी प्रिय कविता थी :

निज बालम बारे निहारि अली,
मन मेरो हमेस पियासो रहै।

उन्होंने 'उपन्यास' नाम का पत्र भी निकाला था। आरंभिक हिंदी उपन्यास को रोचक शैली एवं चलती भाषा उन्होंने दी। मुहाविरों के प्रयोग में वह बड़े

निपुण थे और काव्य एवं रस के मूर्त्त रूप मालूम पड़ते थे। अनधिकारी द्वारा काव्य-रचना या काव्य-चर्चा को सहन न कर सकते थे। उनकी तेज मिजाजी के कारण ही काशी के अनेक प्रसिद्ध साहित्यकार उनसे कन्नी काटते थे। यहां तक कि मृत्यु के समय भी काशी का कोई प्रसिद्ध हिंदी साहित्यकार उन्हें देखने नहीं आया। 1932 में जब मैं गांधी जी के साथ वर्धा में था, उनकी मृत्यु हो गई। लोगों के इस उदासीन व्यवहार से अंतिम दिनों में उनको और उनके पुत्र छबीलेलाल जी को गहरी चोट लगी थी, और जो आदमी आंधी-पानी में निष्कंप दीप-सा बराबर प्रकाश देता रहा उसके प्रति इस प्रकार की असहृदयता काशी के ऊपर एक कलंक का धब्बा है।

श्यामसुन्दरदास जी

श्यामसुन्दरदास जी के संबंध में विद्वज्जनों एवं साहित्यकारों में अनेक तरह के मत— उनके समय भी और उनके बाद भी —प्रचलित रहे हैं और हैं। उनकी रचनाओं के संबंध में भी कई तरह के आरोप हैं। किसी जमाने में तो, इसी तरह की बातों को लेकर स्व० आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' में उन पर प्रबल प्रहार किया था। अब जब वह नहीं हैं तब तो उनके कई शिष्य स्पष्ट कहते हैं कि 'उनकी अमुक रचना वस्तुतः उनकी नहीं मेरी है।' परंतु दिवंगत आत्माओं के प्रति, बिना स्पष्ट प्रमाण के, इस प्रकार के आक्षेप नितांत अनुचित हैं। हिंदी-सेवी श्यामसुन्दर जी की रचनाओं के संबंध में जो भी कहा जाय, इतना तो मानना ही होगा कि अनेक रूपों में हिंदी की जो सेवा उन्होंने की है, वह दूसरे किसी व्यक्ति ने नहीं की। हिंदी को वर्तमान स्थिति में लाने और उसका निर्माण करने में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी और आचार्य श्यामसुन्दरदास का स्थान सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है परंतु कई दृष्टियों से, और अपनी बहुविध सेवाओं तथा देनों के कारण श्यामसुन्दरदास जी, मेरी सम्मति में, द्विवेदी जी से भी आगे जाते हैं। यद्यपि नागरी प्रचारिणी सभा के स्थापनाकर्ताओं में उनके दो सहयोगी—ठाकुर शिवकुमारसिंह और पं० रामनारायण मिश्र—और थे किंतु सभा के पालक, पोषक और प्राण 'बाबू साहब' (श्यामसुन्दरदास की परिचित मंडली में प्रायः इसी नाम से पुकारे जाते थे) ही थे। वह नागरी प्रचारिणी सभा में ओत-प्रोत हो गए थे। सभा का इतिहास उनके जीवन इतिहास के साथ-साथ चला है। उन्होंने हिंदी में सबसे पहले प्राचीन हस्तलिखित ग्रंथों की संगठित खोज का क्रम चलाया; उन्होंने प्राचीन काव्यों के संशोधन, संपादन और नये ढंग पर उनके संस्करण प्रकाशित कराने का उद्योग किया। उन्होंने सुरुचिपूर्ण मौलिक साहित्य के प्रकाशन का आयोजन किया और खोज,

लेखन तथा संपादन के कार्य में जो कुछ भी उनसे हो सका, किया या सहयोगियों एवं शिष्यों से कराया। उन्होंने सबसे पहले हिंदी में बृहत् कोशों को तैयार कराने का स्वप्न देखा और उनकी प्रेरणा तथा संपादकत्व में न केवल हिंदी शब्द-सागर निर्मित और प्रकाशित हुआ, अपितु वैज्ञानिक कोशों के संकलन एवं निर्माण का भी आरंभ हुआ। जब सभा ने 'सरस्वती' निकालने का निश्चय किया तब भी वही उसके प्रधान संपादक थे; बाद में द्विवेदी जी के हाथ में वह गई। वह एक विषय के बहुत गहरे और अधिकारी विद्वान् भले ही न रहे हों परंतु उनमें जो 'दृष्टि' (विजन) थी वह आज भी बहुत कम लोगों में पाई जाती है। उन्होंने एक ओर भाषा का क्षेत्र बढ़ाया, दूसरी ओर लोकप्रिय एवं आवश्यक विषयों पर शक्ति भर हिंदी में नवीन एवं मौलिक पुस्तकों की रचना तथा प्रकाशन का भी प्रबंध किया, उन्होंने अपने सहयोगियों और शिष्यों में सुप्त हिंदी प्रेम को जगाया और उसे प्रयोजनीय एवं उपयोगी स्रोतों में प्रवाहित करने में उनकी सहायता की।

अपनी कर्मठता तथा सतत लगन से उन्होंने हिंदी को राष्ट्रभाषा का पद प्राप्त करने के मार्ग पर अग्रसर किया। छायावाद युग के आरंभ में तो नागरी प्रचारिणी सभा एक प्रकार से हिंदी की मूर्त्त प्रेरणा ही थी। उसी से हिंदी साहित्य सम्मेलन का जन्म हुआ; उसी की प्रेरणा से 'सरस्वती' निकली; उसी की प्रेरणा से हिंदी में खोज कार्य का आरंभ हुआ; सरल सुबोध भाषा में मौलिक पुस्तकें लिखे जाने के लिए 'मनोरंजन पुस्तक माला' निकाली गई; प्राचीन काव्यों के संपादित संस्करण निकले; उसी ने हिंदी में ऐतिहासिक भ्रमण वृत्तांतों के प्रामाणिक अनुवाद उपलब्ध कराने पर बल दिया और उसी ने वैज्ञानिक शब्दावली प्रस्तुत करने की चेष्टा की। उसी के अनुकरण पर आरा, आगरा—अनेक स्थानों में नागरी प्रचारिणी सभाएं खुलीं। उस समय नागरी प्रचारिणी सभा न केवल एक संस्था थी, शक्तिमान संस्था, वरं हिंदी की समस्त आशाओं को पुंजीभूत किए ले जाने वाला एक आंदोलन था। और इन सबके पीछे, शरीर के अंदर सतत धड़कने वाले हृदय के समान श्यामसुन्दरदास जी ही थे। स्व० पुरुषोत्तमदास जी टंडन को सम्मेलन का भार वहन करने के लिए खींचने वाले भी वही थे।

शिक्षक के रूप में भी उनकी सेवाएं भुलाई नहीं जा सकतीं। उन्होंने अगणित विद्यार्थियों को साहित्य एवं समाज सेवा की प्रेरणा दी तथा अनेक मुकुलित प्रतिभाओं के विकास में योगदान किया।

हिंदी के गौरव के रक्षक : ये सब गुण तो श्यामसुन्दरदास में थे ही, सबसे बड़ा जो गुण उनमें था और जिसने मुझे उनके प्रति अत्यधिक आकर्षित किया वह था हिंदी के लिए उनके हृदय में असीम गौरव का भाव। हिंदी की गौरव

रक्षा के लिए वह सदा लड़े, सदा तत्पर रहे। इस विषय में किसी दूसरे से उनकी तुलना नहीं हो सकती। उनकी आत्मकथा हिंदी के लिए उनके हृदय की गहरी वेदना से तरल है और प्रत्येक हिंदी सेवी के पढ़ने की चीज है। हिंदू विश्वविद्यालय में हिंदी को पहले जो तुच्छ स्थान प्राप्त था उसके विरुद्ध सतत मालवीय जी महाराज से तथा सिनेट और सिंडीकेट में, लड़ने वाले वही थे। पग-पग पर उन्हें संघर्ष करना पड़ा। आश्चर्य होता है जब हम देखते हैं कि हिंदी एवं भारतीय संस्कृति का झंडा उठाकर चलने वाले मालवीय महाराज से भी अर्द्धविदेशी या बाबूशाही वेशभूषा वाले परंतु प्राणों में हिंदी के प्रति अमरणशील निष्ठा लिये चलने वाले श्यामसुन्दर जी को बार-बार लड़ना पड़ता था। आज के विश्वविद्यालय के जो अध्यापक सुख-सुविधा तथा वेतन का उपभोग करते हुए भी विद्या एवं साहित्य सेवा के प्रति समर्पित नहीं हैं वे तो कल्पना भी नहीं कर सकते कि किन स्थितियों में रहकर उस जमाने के हिंदी अध्यापकों को काम करना पड़ता था और कितना काम करना पड़ता था। लाला भगवानदीन जी और पं० रामचंद्र शुक्ल को हिंदू विश्वविद्यालय से शुरू में केवल साठ रुपये मासिक मिलते थे। बाद में बहुत लड़ने पर उन्हें सौ रुपये दिए जाने लगे थे। हिंदी के मूर्धन्य विद्वानों के प्रति इस अन्याय के विरुद्ध श्यामसुन्दर जी बराबर लड़ते रहे। हिंदू विश्वविद्यालय में हिंदी विभाग के विकास के लिए जो कुछ हो सका वह उन्हीं की निष्ठा का प्रसाद है। अनेक विश्वविद्यालयों की 'फैकल्टियों' (संकायों) में जब हिंदी में पढ़ाने का सवाल आता है और हम देखते हैं कि हिंदी से जीविका कमाने वाले और हिंदी की बातें करने वाले अनेक अध्यापक भी विरोध में मत देते हैं या तटस्थ रह जाते है तब हमारे सामने बार-बार बाबू साहब की छवि मूर्त्त हो जाती है। हिंदी की गौरव रक्षा की प्रत्येक चेष्टा में वह सबसे आगे रहते थे।

जीवन के उत्तरकाल में उनकी आर्थिक दशा बहुत खराब हो गई थी। बड़ी कठिनाई से खाना-पीना होता था। तब उनके अनेक मित्रों ने उनका सार्वजनिक अभिनंदन करते हुए उन्हें थैली समर्पित करने की योजना बनाई; कुछ रुपये एकत्र भी हुए किंतु जब उन्हें मालूम हुआ, वह बड़े दुखी हुए और उन्होंने कहा: 'इस प्रकार धन लेने की मैं कल्पना भी नहीं कर सकता।' निश्चय ही उनमें आत्मगौरव का भाव बड़ा प्रवल था। सच्ची बात कहने में वह चूकते न थे। प्रत्येक कार्य को बड़ी सुरुचि और व्यवस्था के साथ करते थे; शिथिलता और अनुशासनहीनता के वह शत्रु थे।

मुझे याद है कि 1944-45 में रेडियो की भाषानीति से त्रस्त होकर जब हम लोगों ने, हिंदी साहित्य सम्मेलन के तत्त्वाधावन में, उसके संबंधमें आंदोलन चलाया और रेडियो विभाग को सहयोग देना बंद कर दिया तब बीमार होते

हुए भी 1-6-45 के पत्र में अपने हाथ से उन्होंने मुझे लिखा था : 'मैंने रेडियो सुनना बिल्कुल बंद कर दिया है।···इसका एक ही उपाय है कि रेडियो का पूरा बहिष्कार किया जाय।'

उन्होंने 'साहित्यालोचन', 'भाषाविज्ञान', 'हिंदी भाषा का विकास,' 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र', 'हिंदी भाषा और साहित्य', 'रूपक-रहस्य' इत्यादि अनेक ग्रंथ लिखे और कितने ही ग्रंथों का संपादन किया। उस युग में इन ग्रंथों का खूब स्वागत हुआ था। 'हिंदी भाषा और साहित्य' पढ़कर आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने बाबू साहब को लिखा :

सम्प्राप्य सुन्दरतरं नव पुस्तकं ते, हे श्यामसुन्दर मया मुमुदे नितान्तम्।
आनन्दनिर्भरहृदा विनिवेद्यतेऽद्य, त्वं शारदेन्दुविमलं सुयशो लभस्व॥

उन्होंने हिंदी के मार्ग को सरल बनाया; हिंदी भाषा को एक रूप दिया; हिंदी की प्रत्येक दिशा में निर्माण की शक्तियों को सजग किया। आज हमारे मार्ग के कांटे निकल गए हैं और पथ प्रशस्त हो गया है। उनका जीवन मानो पुकारकर कहता है :

दुआएं दें मेरे बाद आने वाले मेरी वहशत को,
बहुत कांटे निकल आये मेरे हमराह मंजिल से।

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' का स्मरण आते ही उनके केश, उनकी लंबी दाढ़ी और उनका साफा याद आ जाता है। कानूनगोई से अवकाश लेकर यह निजामाबाद (आजमगढ़) में रहते थे। बाद में अपने छोटे भाई पं० गुरुसेवक उपाध्याय के साथ (जो हिंदू स्कूल के प्रधानाध्यापक थे) हिंदू स्कूल की ही इमारत में रहने लगे थे। गुरुसेवक जी बड़े सरकारपरस्त और इसीलिए रायसाहब तथा अपने समय के कठोर अध्यापकों में गिने जाते थे और छात्रों के प्रति उनका वही पुराना व्यवहार था। 'स्पेयर दि राड ऐंड चाइल्ड इज स्पॉयल्ड' वाली विचार-परंपरा के थे। इनके दुर्व्यवहार से तंग आकर छात्रों ने हड़ताल भी कर दी थी। उस समय के एक कविसम्मेलन में 'भाखै बनै न बनै बिनु भाखै' समस्या की पूर्ति में कहा गया था : 'हा, गुरुसेवक की करनी कुछ भाखै बनै न बनै बिनु भाखै'। वैसे उनके व्यवहार से, अप्रत्यक्ष रूप से, हिंदी का कल्याण ही हुआ क्योंकि सर्वश्री उग्र, शान्तिप्रिय द्विवेदी इत्यादि हिंदी को मिले किंतु इसकी चर्चा का अवसर बाद में आएगा।

अध्यापक के रूप में : हां, तो बात 'हरिऔध' की चल रही थी। बाबू साहब हिंदू विश्वविद्यालय में हिंदी विभाग के अध्यक्ष और प्रोफेसर हो गए थे। प्राच्य विद्या विभाग (ओरियंटल डिपार्टमेंट) में हिंदी निबंध पढ़ाने के लिए

'हरिऔध' जी की नियुक्ति हुई। श्यामसुन्दरदास जी ने हिंदी विभाग में भी, आंशिक रूप से काम करने के लिए उन्हें रख लिया किंतु इस कार्य में वह सफल नहीं हुए। यह आवश्यक नहीं कि कोई सुकवि और साहित्यकार या विद्वान् अच्छा अध्यापक सिद्ध ही हो। बाबू साहब ने अध्यापक के रूप में उनके प्रति अपनी निराशा व्यक्त करते हुए लिखा है : 'उपाध्याय जी हिंदी के उत्कृष्ट कवि और सुलेखक हैं। उन्होंने हिंदी साहित्य को अनेक रत्नों से विभूषित किया है। मुझे उनसे बड़ी आशा थी कि एक योग्य व्यक्ति के मिल जाने से हमारा काम भली भांति चल सकेगा। परंतु मुझे उनके अध्यापन कार्य से असंतोष ही रहा। वे यह नहीं समझ सकते थे कि स्कूल की पढ़ाई और कालेज की पढ़ाई में क्या अंतर है और उसे कैसे निबाहना चाहिए। कई उलट-फेर किए गए किंतु सफलता नहीं मिली। निबंध पढ़ाने को दिया गया तो पुस्तक पढ़ाने की अपेक्षा हिंदू संगठन और हिंदुओं के ह्रास पर उनके व्याख्यान होने लगे। अंत में हारकर उन्हें उन्हीं के रचित ग्रंथ पढ़ाने को दिए गए पर उस काम को भी वे पूरा न कर सके। साल भर में चौथाई पुस्तक भी न पढ़ा सके।

यह वह जमाना था जब गांधी जी द्वारा प्रवर्तित असहयोग आंदोलन शिथिल पड़ गया था और देश में पुनः सांप्रदायिकता सिर उठाने लगी थी। 'हरिऔध' जी यद्यपि कई बातों में समाज सुधार के पक्षपाती थे किंतु प्रकृति से वह कट्टर परंपरावादी हिंदू—बल्कि ब्राह्मण थे। गांधी जी के प्रति वह बड़े कटु थे। हमारे एक साथी और उस समय के तरुण छायावादी कवि अब स्वर्गीय जनार्दनप्रसाद झा 'द्विज' भी उन्हीं के निकट रहते थे। 'द्विज' जी उनका जो रूप देखते उससे बड़े खिन्न रहते थे और बार-बार मुझसे उनके प्रति अश्रेयस्कर भावना व्यक्त किया करते थे। 'हरिऔध' जी में अनेक प्रकार की जातिगत अनुदारता एवं द्वेषभाव देख-देखकर 'द्विज' बड़े दुखी रहा करते थे।

नई हिंदी कविता के प्रति विरोध भाव : नई हिंदी कविता उठ रही थी और इस नवीन भावोन्मेष के प्रति प्रायः सभी पुराने आचार्यों का आक्रोश था। शुक्ल जी, 'हरिऔध' जी, दीन जी, पद्मसिंह जी इत्यादि सभी उसके विरोधी थे। यह विरोध ही नहीं, इस विरोध में उपहास का भाव भी था किंतु विरोध और तिरस्कार के बावजूद नई हिंदी कविता उठती ही गई। बड़ी कटाकटी का वातावरण था। एक बार प्रसाद जी, मैं और श्री विनोदशंकर व्यास तीनों एक इक्के पर जा रहे थे। संयोगवश हमारा इक्का बढ़िया था—'गहरेबाज' टाइप का। हम लोगों की रुचि भी उस इक्के के चुनाव का कारण थी। विजयानगरम की कोठी के कुछ आगे एक अड़ियल इक्का हमें मिला, जिस पर शुक्ल जी[1],

---

1. पं० रामचन्द्र शुक्ल।

लाला जी[1] और 'हरिऔध' जी जा रहे थे। देखादेखी हुई और एक मिनट में हमारा इक्का उन्हें पार कर गया। किसी ने फब्ती कसी : 'नई कविता का इक्का आगे जा रहा है!' इसी बात को लेकर उस समय एक कार्टून भी निकला था।

काव्यकार के रूप में : 'हरिऔध' जी के लिए काव्य रचना एक दैनिक साधना की वस्तु थी। प्रतिदिन नियम से कुछ न कुछ वह अवश्य लिखते थे।' 'प्रियप्रवास' के बाद उन्होंने लिखा तो बहुत कुछ, परंतु दूसरा महाकाव्य न लिखने के कारण प्रायः लोग उनसे वैसा ही काव्य लिखने का अनुरोध करते रहते थे। 'हरिऔध' जी में करुण रस प्रधान काव्य लिखने की विशेष क्षमता थी। इसीलिए लोग चाहते थे कि वह 'वैदेही वनवास' लिखें। संस्कृत साहित्य में भवभूति ने करुणा का जो अमृत प्रवाहित किया है, वह संसार के साहित्य में अनुपम है। 'उत्तररामचरितम्' में कवि हृदय मानो स्वयं पिघलकर बह उठा है और चिरंतन वेदना ने नारी की महिमा का वह गौरव गान किया है कि वाणी, लोकोत्तर रस में डूबकर मौन हो जाती है। वह कथावस्तु ही ऐसी है। उपाध्याय जी ने लोगों का अनुरोध मान लिया था परंतु उधर विशेष ध्यान नहीं दे पा रहे थे।

एक बार की बात है कि भारतमाता मंदिर के उद्घाटनोत्सव के संबंध में उस समय के 'राष्ट्रपति' (उस समय कांग्रेस-अध्यक्ष को लोकप्रिय भाषा में राष्ट्रपति कहा जाता था) जवाहरलाल जी तथा अन्य नेता काशी आए हुए थे। जवाहरलाल जी का जुलूस निकलनेवाला था। उसी सिलसिले में बांसफाटक मुहल्ले में सड़क पर ही बने श्री रामानन्द के मकान पर अनेक साहित्यिक एकत्र हुए थे। इनमें प्रसाद जी, मैथिलीशरण जी तथा 'हरिऔध' जी भी थे। परस्पर चर्चा होने लगी। श्री वेनीमाधव शर्मा ने 'हरिऔध' के संस्मरणों में उस समय का चित्र दिया है। मैथिलीशरण जी बोले : 'पंडित जी, आपने अभी तक 'वैदेही वनवास' नहीं लिखा। यह ठीक नहीं है। यह आपसे मेरी बड़ी भारी शिकायत है।'

उपाध्याय जी ने कहा : 'भाई गुप्त जी, अब बहुत वृद्ध हो गया। फिर काम से छुट्टी नहीं मिलती। 'वैदेही वनवास' का प्लाट बना रखा है; देखें, कब शुरू होता है। और सबसे बड़ी बात तो यह है गुप्त जी, कि हम लोग पुराने हुए, अब तो सभी नई बातें हैं। हम लोगों की पूछ कहां?'

प्रसाद जी बोले : 'नहीं पंडित जी, यह कौन कह सकता है? आप ही तो हम लोगों के प्रकाशस्तंभ हैं। आपके ही प्रकाश से नये लोगों को दृष्टि मिली है।'

---

1. लाला भगवानदीन।

'नहीं भाई प्रसाद जी, यह बात नहीं है। मैं तो हिंदी का एक तुच्छ सेवक हूं। आप लोगों की सेवा करना अपना धर्म समझता हूं। जहां तक हो सकेगा, आप लोगों की सेवा करता रहूंगा।'

'आप क्या कहते हैं पंडित जी ? आपकी अवस्था तक पहुंचते-पहुंचते हम लोग चल-फिर भी न सकेंगे। आप तो बड़े भारी तपस्वी हैं महाराज ! आप तो अभी भी अधिक काम करते हैं। पंडित जी, वैदेही वनवास अवश्य लिख डालिए। अपूर्व चीज होगी।' मैथिलीशरण जी ने कहा।

'जी हां, बात तो ठीक है। मैं भी उसे बहुत ही जल्दी लिख डालना चाहता हूं पर देखिए। यदि ईश्वर की कृपा हुई तो शीघ्र ही 'वैदेही वनवास' आप लोगों को अर्पण करूंगा।'

'हां पंडित जी, जल्दी कीजिए। मुझे वह समय नहीं भूलता, जब आप झांसी आए थे। 'साकेत' की पहली प्रति आपको भेंट की गई थी। उस बार आपके साथ रहने का थोड़ा अवसर मिला था; बड़ा आनंद आया था।'

इसी प्रकार बातें होती रहीं। उपाध्याय जी का 'वैदेही वनवास' लिखने का संकल्प उस दिन दृढ़ हो गया और शीघ्र ही उन्होंने लिखना आरंभ कर दिया। उन दिनों जब वह चुने हुए अंश सुनाते थे तो भावोद्रेक से रो पड़ते थे।

सुधारवादी हिंदू : वह सुधारवादी परंतु कट्टर हिंदू थे। हिंदुत्व के लिए बड़ा गर्व था उनमें। छुआछूत आदि संकीर्णताओं को तो वह युवावस्था में ही छोड़ चुके थे। श्री बेनीमाधव शर्मा की 'झलक' से मैं उनका एक जीवन-चित्रांश देने का लोभ संवरण नहीं कर सकता :

'पंडित बाबा ! तनी पानी पिया देता, बहुत पुन्न होई, रोआं रोआं जस, गइहै बाबा।' कहते हुए एक अछूत गिड़गिड़ाने लगा। उसका मुंह सूखा जा रहा था।···

'कौन जात हउए ?'

'रैदास भगत हई महाराज।'

'चल-चल, ससुर भगत बनत हउएं। इन्हें हम पानी पिआय के लोटा भरस्ट करीं···'

'बाबा, हम लोटवा थोड़े मांगत हई। अरे दूरै से पिया देता, हम चिरुआ से पी लेइत। कौनों लोटवा थोड़ै जुठारब।'

'नाहीं-नाहीं। ई सब ना होई। वाह ! दूरै से पिया दा। अरे धरिया त तोहरे मुहवैं में जाई न ? तब हमार लोटा कइसे सुद्ध रह सकैला। हम लोग बाम्हन हई। बड़े फरची से रहीला।···'

सारी पृथिवी कुम्हार का आवां हो रही थी, किसी को बाहर निकलने का साहस न था। पर एक सवार इस लू में घोड़े पर चला आ रहा था। वह और

उसका घोड़ा दोनों पसीने से तर थे। छाया देख घोड़ा रुक गया। सवार उतर पड़ा और सिर से पगड़ी उतार पसीना पोंछ रहा था कि एक दर्दभरी आवाज सुनाई दी :

'पंडित बाबा, तनी पानी पिया देता।'

सवार ने घूमकर देखा, एक अछूत दांत निकाले पानी मांग रहा है और पंडित बाबा झिड़क रहे हैं।···सवार ने कहा :

'पंडित जी, काहे नाहीं ओके पनिया पिया देता? पानी पियवले से लोटवा थोड़े असुद्ध हो जाई।'

'वाह, तू के हउआ? हम पानी पियाव खातिर आपन धरम भरस्ट करीं? हमार एक रुपया क लोटा असुद्ध हो जाई त कोई देवैवाला न होई।'

'पंडित जी, खुनसा मत। ओ बेचारे के पानी पिया दा। मरत हौ। रुपया हम दे देब। तोहें एक रुपयै न चाही। पियावा महाराज!'

पंडित जी ने पानी पिलाया। सवार ने एक रुपया दिया और बोला : 'अच्छा पंडित जी, असुद्ध लोटवा ओके दे द। अब ऊ त तोहरे कौनो काम क ना रहल। ई बेचारा ले जाई। ओके कौनो कामैं देई।'

'हें हें महाराज! ओके रहन दिहल जाय। हम आगी ओगी में डाल के सुद्ध कर लेब।'

'पंडित जी! बड़े दुख क बात हौ। अबहिन त आप क पानी पियउले से लोटा असुद्ध होत रहल अउर धरम भरस्ट होत रहल, अब लोटवा कइसे ले जाइल जाई? वही के दे दिहल जाय।'

'नाहीं सरकार, रहन दिहल जाय। हम बिधी से सुद्ध कै लेब न।'

'चुप रहा पंडित जी, हमहूं ब्राह्मण हईं पर कोई दुखिया के जल देहले आज तक लोटा असुद्ध होत ना सुन ली। आप लोग बहुत बुरा करीला। अइसन धर्म कब तक चली? अब देखल जाय, आपक धरमवां एक्कै रुपैया में हवा हो गइल। अगर ई दुखिया-गरीब के खुसी-खुसी पानी पियउले होतीं त रोआं रोआं सवाब देत·।'

कहना न होगा कि वह सवार हमारे 'हरिऔध' जी ही थे। इस चित्र से उनके सामाजिक एवं धार्मिक विचारों का पता चलता है। आश्चर्य यह है कि ऐसे विचार रखकर भी वह गांधी जी-प्रवर्तित आंदोलनों के प्रति विरोध भाव रखते थे और बातचीत में कभी-कभी तो बड़े ही कटु हो जाते थे।

उपाध्याय जी से मेरा व्यक्तिगत संपर्क बहुत कम हुआ परंतु जब भी हुआ, मैंने अपने प्रति उनका व्यवहार बहुत ही कृपापूर्ण पाया। वस्तुतः वह उन पुराने बुजुर्गों में थे जो इतना ही चाहते हैं कि बच्चे उनके पास आएं और उनकी बुजुर्गी तथा संरक्षण स्वीकार करते रहें। नई हिंदी कविता या छाया-

वादी काव्य के विरोधी होते हुए भी, मिलने पर, वह कुछ विरोध नहीं कर पाते थे बल्कि स्नेह-विवश हो जाते थे। यह स्नेह-विवशता हम साहित्यिक विरोधियों के प्रति भय की सीमा तक बढ़ी हुई थी। एक बार की बात मुझे याद आती है। मेरा छोटा भाई श्यामलाल (इस समय कस्तूरबा राष्ट्रीय स्मारक ट्रस्ट का मंत्री) बी० ए० में उनका शिष्य था। मेरे किसी काम से उनके पास, निवासस्थान पर गया। उपाध्याय जी बहुत देर बाद बाहर आए। यूनिवर्सिटी का छात्र, उसे कालेज के लिए देर हो रही थी इसलिए वह खीझ उठा था। उसने कहा : 'आप क्या स्नान कर रहे थे?' इस पर उपाध्याय जी बहुत बिगड़े और अन्त में बोले : 'तुम सुमन के भाई हो न, तभी यह ढंग है।' वह बेचारा तो डरा कि उपाध्याय जी चिढ़कर कहीं उसका 'पेपर' न खराब कर दें, परंतु वहां 'सुमन' के भाई होने का बिल्कुल उलटा परिणाम हुआ कि जिस दिन वह उपस्थित न भी रहता, उसे उपस्थित लिख देते थे। श्यामलाल के वाक्य से चिढ़ने के पीछे एक भेद था। बहुत पहले जब वह कानूनगो थे, किसी रय्यत ने चिढ़कर रात में उन पर आक्रमण कर दिया था। उस चोट से उन्हें बात का कष्ट बढ़ गया था और वह महीनों स्नान नहीं करते थे। क्योंकि स्नान से उनकी पीड़ा बढ़ जाती थी। इसी की ओर श्यामलाल ने व्यंग्य किया था।

मैं ऊपर कह चुका हूं कि सिद्धांत-विरोध होते हुए भी मैंने सदा उन्हें कृपापूर्ण और सहृदय पाया। हिंदुस्तानी एकेडमी में संपादक पद के लिए यद्यपि सर्वश्री रत्नाकर, श्यामसुन्दरदास, श्यामबिहारी मिश्र, बदरीनाथ भट्ट, प्रेमचन्द इत्यादि प्राय. सभी ने मेरी संस्तुति की थी किंतु 'हरिऔध' जी ने बड़े विस्तार से और बड़ी जोरदार भाषा में मेरे लिए लिखा था। जब-जब अवसर आया, मेरे संबंध में उनकी यही वृत्ति रही। धीरे-धीरे मेरी रचनाओं के वह प्रशंसक बन गए। जब-जब अवसर आया, सदा उन्होंने मेरा समर्थन किया। मेरी निबंध-पुस्तक 'जीवन-यज्ञ' की प्रशंसा में तो उन्होंने अति कर दी थी।

उनकी देन : हिंदी के लिए उनकी देन विविध है। 'प्रिय-प्रवास' के रूप में उन्होंने हिंदी को सर्वथा नई चीज दी। अतुकांत संस्कृत छंदों का व्यापक प्रयोग उनके द्वारा पहली बार हुआ। दैवी शक्ति रूपा राधा पहली बार उनके काव्य में मानवी रूप में व्यक्त हुई। उनका विरह मानव हृदय से बहने वाले उत्स के रूप में प्रवाहित हुआ है। फिर राधिका के प्रेम में समाजीकरण एवं लोक मंगल के तत्त्वों की प्रतिष्ठा करके उन्होंने विप्रलम्भ शृंगार के शाश्वत मांगलिक रूप की जो अभिव्यंजना की है वह आधुनिक हिंदी काव्य में अभूतपूर्व है। यद्यपि 'वैदेही-वनवास' में भी इस रूप की झलक है किंतु उनकी राधा उनकी सीता से अधिक मार्मिक एवं सत्य है। 'हरिऔध' की एक बड़ी देन यह भी है कि उनके

कारण ही उन पुराने दिनों में खड़ी बोली के लिए सिर उठाकर खड़ा होना संभव हुआ और उनके तथा पं० श्रीधर पाठक के कारण ब्रजभाषा के आचार्य मानने लगे कि खड़ी बोली में भी श्रेष्ठ काव्य की रचना की जा सकती है। इन दोनों कवियों की कविता में जो मार्दव था उससे खड़ी बोली को बहुत बल मिला। फिर 'हरिऔध' ने तो बहुत शुद्ध खड़ी बोली का आश्रय लिया जब कि पाठक जी में यत्र-तत्र ब्रजभाषा का भी प्रभाव दिखाई पड़ता था।

'हरिऔध' जी गद्य और पद्य दोनों के लेखक थे। उन्होंने काव्य, नाटक, उपन्यास, नीतिग्रंथ सभी प्रकार की रचनाएं की हैं। किसी जमाने में 'ठेठ हिंदी का ठाठ' और 'अधखिला फूल' शिक्षा क्षेत्र में सर्वाधिक प्रचलित उपन्यास थे। इसी प्रकार उनका 'रुक्मिणी-परिणय' नाटक भी काफी लोकप्रिय था।

मेरा अपना विचार यह है कि प्रौढ़ यौवन काल में उन्होंने जो 'प्रिय-प्रवास' लिखा वही उनका सर्वोत्तम रूप प्रस्तुत करता है। उसके बाद के उनके काव्य में काव्य-नट का चमत्कार अधिक होता गया है। जो रस लेकर अपने यौवन काल में वह चले थे वह वय के साथ सूखता गया और 'रस-कलश' तक पहुंचते-पहुंचते उसमें छलककर दूसरों के हृदय को आर्द्र करने की शक्ति प्रायः नगण्य हो गई। 'रस-कलश' में कवि नहीं, आचार्य के दर्शन होते हैं। 'वैदेही वनवास' में अवश्य दिये की बत्ती कुछ भभकी है। 'हरिऔध' जी प्रकृत्या करुणा के कवि थे इसलिए इसमें अपेक्षाकृत सफलता उन्हें मिली है। 'वैदेही वनवास' का प्रसंग ही बड़ा करुण है। परंतु 'उत्तररामचरितम्' का रस इसमें कहां? जब हम भवभूति का स्मरण करते हैं, जिसकी कलम की नोक से कुरेदे पत्थर भी रोते हैं, तब ऐसा जान पड़ता है कि उस विषय पर किसी का कलम चलाना लगभग निरर्थक है। परन्तु उपाध्याय जी की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि वह साहित्य या काव्य को एक नियमित कर्त्तव्य समझते थे, जिसे करना ही है। वह पूजा की भांति दो-तीन घंटे कुछ न कुछ लिखते थे। इसीलिए उनकी फुटकर कविताओं की भी संख्या सहस्रों होगी। एक-एक हिंदू त्यौहार पर उनकी अनेक-अनेक कविताएं हैं। विजयादशमी, दीपावली, होली आने को होती तो वह जान लेते कि उनसे कविता मांगी जाएगी इसलिए वह पहले से ही लिख रखते। वह किसी पत्र-पत्रिका को इनकार नहीं करते थे।

निश्चय ही अपने काल के कवियों में वह अग्रगामी थे। उनमें हमारी संस्कृति एवं जाति की वेदना करुण धारा के रूप में मूर्त्त हुई है। बहुत दिनों तक उनकी याद आएगी।

5

एक आलोचक : एक पत्रकार

पं० रामचन्द्र शुक्ल

अपने किसी पिछले लेख में मैंने पं० रामचन्द्र शुक्ल का जिक्र किया था। शुक्ल जी पैदा हुए थे बस्ती जिले के अकौना ग्राम में 4-10-1884 ई० को; बचपन में पिता की नौकरी के साथ-साथ इधर-उधर घूमते रहे। अंत में मिर्जापुर के एक स्कूल में ड्राइंग मास्टर हुए। यहीं पं० केदारनाथ पाठक से उनका परिचय हुआ। पाठक जी ने ही उन्हें काशी बुलाने और उनको साहित्य क्षेत्र में आगे बढ़ाने का कार्य किया। शुक्ल जी उनकी सम्मति, सत्प्रेरणा और योग्यता का बड़ा आदर करते थे और उनके प्रति आजीवन कृतज्ञ रहे।

बोझिल समीक्षा-शैली : अपने समय में शुक्ल जी जितने प्रभावशाली थे, इस समीक्षा प्रधान युग में उनकी छाया उससे भी अधिक प्रभावशाली हो गई है। शुक्ल जी को मैंने जब भी देखा, विदेशी ही वेशभूषा में देखा किंतु अंदर से वह कट्टर भारतीय थे। जिस समीक्षा पद्धति के लिए वह प्रसिद्ध थे या हैं उसमें भी उनके इसी वाह्य एवं अंतःस्वरूप की संयुक्त अभिव्यक्ति है। रिचर्ड्स और क्रोसे उनके मानस-क्षितिज पर कुछ ऐसे छा गए थे कि भारतीय आचार्यों की विविधता का समन्वित रूप वह हमें नहीं दे पाए। भारतीय साहित्यशास्त्र की दृष्टि से शुक्ल जी के ही शिष्य स्व० पं० नन्ददुलारे वाजपेयी और वर्तमान समीक्षक डा० नगेन्द्र उनसे आगे हैं। शुक्ल जी की शैली बड़ी गहन और बोझिल, गरिष्ठ शब्दों के भार से दबी हुई है। वही उसका दोष और गुण दोनों हैं। शब्दों के बोझ में भाव दब गए हैं और विचार गरिष्ठ हो गए हैं।

वकील की वृत्ति : अपनी किशोरावस्था में उन्होंने वकील का पेशा अपनाने की चेष्टा की थी। यद्यपि उसमें उन्हें सफलता नहीं मिली परंतु उनकी वही प्रारंभिक प्रेरणा जीवन भर बनी रही। वह जहां गए, उसे साथ ले गए।

स्वभावतः वह उसे साहित्य में भी ले आए। जो पक्ष या विचार वह ग्रहण करते, उसे अति तक पहुंचा देते थे। जिससे खुश हुए, प्रभावित हुए उसे चोटी पर चढ़ा दिया; जिससे नाराज हुए, जिसके बारे में विचार खराब बन गया, उसे जमीन पर गिरा दिया। प्राचीन कवियों में कबीर, जिन्होंने रवीन्द्रनाथ और गांधी तक को प्रभावित किया, उनको न जंचे; आधुनिक कवियों में 'प्रसाद' जी जैसे शताब्दियों में उत्पन्न होने वाले महाकवि के प्रति उनके विरोध भाव को इसी प्रकाश में समझा जा सकता है। शैली की दृष्टि से वह अवश्य ही एक महान् समीक्षक थे परंतु समीक्षा तत्त्व की दृष्टि से वह रंजित दृष्टि वाले समीक्षक थे।

कवि के रूप में वह अपने ब्रजभाषा काव्य में अधिक सफल हुए हैं। उनका 'लाइट आफ एशिया' का अनुवाद 'बुद्ध-चरित्र' उनकी बहुत बड़ी सफलता है। कई स्थानों पर वह आर्नल्ड से भी आगे हैं। 'हृदय का मधुर भार' नाम से एक लंबी कविता उन्होंने लिखी थी। भाव और भाषा दोनों दृष्टियों से यह उनकी सर्वोत्तम पद्यात्मक रचनाओं में गिनी जा सकती है।

गंभीरता का बोझ : शुक्ल जी अत्यंत गंभीर प्राणी थे। गंभीरता जैसे उनके जीवन का एक अंग बन गई थी। ऐसा नहीं कि अंदर कोमलता थी नहीं किंतु कुछ तो परिस्थितिवश और कुछ प्रकृति वश दब गई थी; अंतर का कोमल तत्त्व घुड़कियों के डर के मारे बाहर नहीं आ पाता था, नहीं तो भीतर से वह काफी मृदुल थे। बादाम की भांति अंतर के तत्त्व पर इन्होंने कड़ा खोल चढ़ा लिया था। इसी गंभीरता के अतिरेक से उनमें 'सेंस आफ प्रपोर्शन' की, संतुलन की कमी थी। मुझे याद है कि हिंदी साहित्य सम्मेलन के इंदौर अधिवेशन में वह साहित्य परिषद् के अध्यक्ष थे। जब परिषद् का आरंभ हुआ और वह अध्यक्षीय भाषण करने खड़े हुए, तब उनका छपा भाषण वितरित हुआ। उसे देखकर मेरा सिर भन्ना गया। भाषण क्या था, एक बड़ा पोथन्ना था। साहित्य का गंभीर विवेचन उसमें था परंतु वह भाषण नहीं एक ग्रंथ था। कुछ घंटों की परिषद् के लिए सैकड़ों पृष्ठ का भाषण लिखने का स्वप्न सिवाय शुक्ल जी के और कौन देख सकता था। खैर, मैंने सोचा कि मुद्रित भाषण वितरित हो चुका है, अब वह संक्षेप में मौखिक भाषण करेंगे और अपने विषय पर प्रकाश डालेंगे परंतु वह जो खड़े हुए तो परम गरिष्ठ मुद्रित भाषण ज्यों का त्यों पढ़ने लगे। भरा हुआ हाल खाली होने लगा। धीरे-धीरे लोग खिसक चले—यहां तक कि केवल 10-15 आदमी रह गए। इनमें भी आधे संकोचवश वहां थे क्योंकि स्वागत समिति के अधिकारी होने के कारण या मंच पर आगे बैठ जाने के कारण वे हट न सकते थे। दूसरा आदमी होता तो भांप जाता कि लोग ऊब रहे हैं और भाषण का रूप बदल देता

चाहिए या अवसरानुकूल सारांश कर देना चाहिए परंतु उन्हें जैसे इससे कोई संबंध ही नहीं। परिस्थिति के प्रति उदासीन, उसकी चुनौती और मांग के प्रति निर्लिप्त। यही उनका दोष था, परंतु यही उनका गुण भी था। वह द्रष्टा नहीं थे; दूर देख सकने की शक्ति उनमें न थी; अतीत की परंपराओं से बुरी तरह जकड़े हुए थे। वह ठोस हिसाब-किताब लगाने वाले प्राणी थे और साहित्य को गणित की भांति वर्तते थे।

यह सब होते हुए भी अंतर का मानव कभी-कभी एकांत में या मित्र-मंडलियों में उन्हें ललकार उठता था; तब वह क्षण भर के लिए भावुक हो उठते थे, परंतु केवल क्षण भर के लिए। ऐसे समय एकाध चुटकुले उनके मुंह से निकल जाते थे। गहरे अनुशासन से वह भावना को दबा लेते थे। वह जीवन में लोक मंगल के उपासक थे किंतु जीवन की आस्थाओं की जड़ों को देख न पाते थे; इस तथ्य को उन्होंने कभी अंगीकार नहीं किया कि संपूर्ण जीवन की प्रेरणाएं प्रच्छन्न, भूमिस्थ होती हैं।

स्वच्छंद मुक्त हंसी, जो प्रेमचन्द के अंतःस्थ मानव को एक क्षण में उद्घाटित करके रख देती थी, उनके मुख पर देखने वाले को मैं भाग्यवान् मानता हूं। हास्य फूटता था परंतु पल्लवित होने के पूर्व ही ओठों की दृढ़ता उसे पी जाती थी और वह गूढ़ व्यंग्य का रूप धारण कर लेता था। जहां भी उन्होंने व्यंग्य किए हैं, उनमें तीखी काट है। इसका एक उदाहरण-भर दे देना यहां पर्याप्त होगा। शुक्ल जी की आलोचना करते हुए एक सज्जन उन्हें गाली देने पर उतर आए और लेख के अंत में उन्हें मूर्ख तक लिख दिया। श्यामसुन्दरदास जी एवं शुक्ल जी के प्रिय शिष्य डा० बड़थ्वाल (जो बाद में लखनऊ विश्वविद्यालय के हिंदी के प्रोफेसर हो गए थे) ने हिंदी विभाग में प्रवेश करते ही वह लेख शुक्ल जी को दिखाया। शुक्ल जी लेख पढ़ ही रहे थे कि श्यामसुन्दरदास जी ने परिहास किया: 'पूरा लेख पढ़कर क्या कीजिएगा, अंत में देख लीजिए कि क्या लिखा है। यह कहते हुए उन्होंने अंत के 'मूर्ख' शब्द पर उंगली रख दी। शुक्ल जी ने बड़ी गंभीरता के साथ कहा: 'लेख लिखने के बाद लेखक ने अपना हस्ताक्षर कर दिया है!'

उन्होंने कविताएं लिखीं, ड्राइंग मास्टरी की, संपादन किया, शिक्षक रहे। बा० श्यामसुन्दरदास के बाद वह हिंदू विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग के अध्यक्ष हो गए थे और उस पद पर रहते हुए ही उनका देहावसान हुआ किंतु वर्षों तक अध्यापन कार्य करके भी वह एक सफल अध्यापक नहीं हो सके। हां, आलोचक के रूप में उन्होंने सफलता अवश्य प्राप्त की और एक आलोचना परंपरा के जनक बन गए। शिष्यों का एक समूह इन्हें मिला, समय का लाभ इन्हें मिला जिससे लोकोन्मुख न होकर भी साहित्य जगत् में पर्याप्त ख्याति प्राप्त करने में सफल हुए।

जो हो, उन्होंने अपने पीछे आने वाली हिंदी समीक्षा के लिए राजपथ का निर्माण किया और साहित्यिक एवं मनोवैज्ञानिक निबंधों के लिए एक गंभीर शैली को जन्म दिया। 'चिंतामणि' उनके ऐसे निबंधों का सुंदर संकलन है। उनका 'हिंदी साहित्य का इतिहास' आज भी हमारे साहित्य के इतिहास की ऐसी भूमिका प्रस्तुत करता है जिसका आधार एवं अवलंब भावी इतिहासकारों को भी लेना ही पड़ेगा। 'काव्य में रहस्यवाद', 'रस-मीमांसा' और 'गोस्वामी तुलसीदास' इनकी आलोचनात्मक रचनाओं के श्रेष्ठ उदाहरण हैं।

उनके विचारों के विषय में किसी का मतभेद भले हो, उनकी गंभीर शैली, पैनी दृष्टि, अतलस्पर्शी बुद्धि के विषय में किसे संदेह हो सकता है? अंतिम दिनों में उनकी कठोरता का आवरण, पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी के समान ही, टूट चला था और अंतर के मृदु तत्त्व उभरने लगे थे। शुक्रवार, 31 जनवरी 1941 को वह हिंदू विश्वविद्यालय गए; क्लास लिया और पढ़ाया 'यशोधरा' का वह अंश जिसमें बुद्धदेव संसार से कहते हैं : 'क्षणभंगुर भव राम राम।'

1 फरवरी को दमे का जोर बढ़ गया। 2 फरवरी को हालत और खराब हुई। दमे के कारण हृदय की पेशियों और तंतुओं पर इतना जोर पड़ा कि वह समझ गए, अब जाने का समय आ गया है। साढ़े नौ बजे रात उन्होंने कहा : 'आदाब अर्ज! राम राम!' और चले गए। लोगों को गहरी चोट लगी। श्यामचरण दे जैसे सात्त्विक, संन्यासी वृत्ति के पुरुष भी शोकावेग से गिर पड़े।

बाबू गंगाप्रसाद गुप्त

जब भी मैं काशी में बांस फाटक के पास से गुजरता हूं और वह जगह ही ऐसी है कि आते-जाते वहां से गुजरना पड़ता ही है, तो फेल्ट कैप, लंबा कोट, हाथ में चांदी के मूठ वाली कुबड़ी के साथ लंबे हंसमुख बा० गंगाप्रसाद गुप्त का चित्र आंखों के आगे साकार हो उठता है। श्री सत्यनारायण मंदिर के आगे गुदौलिया की ओर जब चलते हैं तो दाहिनी पटरी से जो गली अंदर जाती है, उसी में थोड़ी दूर पर उनका 'आर्ट प्रेस' था। इसी प्रेस से वह साप्ताहिक 'हिंदी केसरी' का प्रकाशन करते थे। इसकी नीति मराठा केसरी के ढंग की थी। गुप्त जी को साहित्य का बहुत गहरा ज्ञान तो न था परंतु सामयिक विषयों पर उनका अच्छा अधिकार था और उनके लेख मार्मिक, उपयोगी और चुस्त होते थे। जितनी भी थियेटर कंपनियां काशी आतीं, पास के मदन थियेटर्स सिनेमा में ही उनके नाटक अभिनीत होते थे और स्वभावतः गुप्त जी का उनके प्रकाशन विज्ञापन में काफी हाथ होता था। उनके पोस्टर उनके यहां ही छपते और मैनेजर इत्यादि भी उनसे हर मामले में सलाह लेकर काम करते थे।

गुप्त जी बड़े व्यावहारिक व्यक्ति थे परंतु व्यावहारिक होकर भी बड़े सहृदय तथा वार्तापरायण थे। उनकी बातें सुनने में मजा आता था। 'उग्र' जी के साथ कभी-कभी शाम को मैं उनके यहां चला जाता। छोटी सी मंडली जुटती जिसमें वहीं कहीं नजदीक रहने वाले श्री बेरी भी आ जाते थे। बेरी साहब के आने से आनंद दूना हो जाता था। वह एक अच्छे और सफल एडवोकेट थे और उनको अंग्रेजी काव्य का बड़ा अच्छा ज्ञान था। सुनाने का ढंग भी बड़ा अच्छा था। जब बायरन की जोशीली कविताएं सुनाने लगते तो तबीयत फड़क उठती थी।

यह भी एक दुःखद घटना है कि हिंदी के पुराने पत्रों में काशी के 'भारत जीवन' और 'हिंदी केसरी' दोनों ही कभी के बंद हो चुके। यहां तक कि देवकीनंदन जी खत्री का 'लहरी' प्रेस तथा रामकृष्ण वर्मा एवं बाद में बाबू दुर्गाप्रसाद का 'भारत जीवन' प्रेस, जो एक जमाने में हिंदी काव्य के प्रेरणा एवं प्रकाशन के गौरव बिंदु थे, कभी के मिट चुके और आज का हिंदी विद्यार्थी उनके नाम भी नहीं जानता। गुप्त जी बिना लाभ के भी बहुत दिनों तक 'हिंदी केसरी' निकालते रहे। स्व० मुंशी कालिकाप्रसाद जैसे पत्रकार और अनुवादक इसी 'हिंदी केसरी' में शिक्षित हुए और 'आज' निकलने पर उसमें चले गए।

मैं यह भी नहीं जानता कि अब आर्ट प्रेस है या नहीं और गुप्त जी की संतानें कहां और किस अवस्था में हैं; समय का एक लंबा व्यवधान आ गया है, फिर भी उनका मुस्कराता चेहरा आज भी मेरी आंखों में फिर-फिर जाता है।

गोविन्दनारायण मिश्र, किशोरीलाल गोस्वामी, श्यामसुन्दरदास, अयोध्यासिंह उपाध्याय, रामचन्द्र शुक्ल और गंगाप्रसाद गुप्त ये सब काशी के एक-एक टाइप थे। वे 'जीव' थे। उन्होंने काशी की एक परंपरा कायम की जो आज विश्रृंखल हो रही है। उनके सामने एक सपना था, एक दृष्टि थी, इसीलिए गहरी निष्ठा और श्रद्धा भी थी और इसी श्रद्धा ने उन लोगों को जीवन का रस प्रचुर मात्रा में दिया था।

6

चार व्यक्तित्व : चार दिशाएं

बाबूराव विष्णु पराड़कर

बाबूराव विष्णु पराड़कर का नाम लेते ही पत्रकारिता का एक आदर्श आंखों के सामने मूर्त्त हो उठता है। वह निश्चय ही हिंदी पत्रकारिता के प्रकाशस्तंभ थे। उन दिनों वह हिंदी के सर्वप्रधान दैनिक 'आज' के संपादक थे। 'आज' काशी की लाज का रक्षक था इसलिए उनसे परिचय न होना ही आश्चर्य की बात होती।

पराड़कर जी काशी में जन्मे (कार्तिक शुक्ल 6 मंगलवार, संवत् 1940); बचपन में पिता के साथ-साथ बिहार, विशेषतः भागलपुर में रहे। 15 वर्ष की अवस्था में पिता मरे; फिर 3 वर्ष बाद काशी के भयंकर प्लेग में मां एवं बहिनें काल-कवलित हुईं। जीविका के लिए ट्यूशन करने को विवश हुए। परंतु पढ़ने का जो चस्का बचपन में ही लग गया था, वह कभी न छूटा। पढ़ने का यह हाल था कि काशी नागरी प्रचारिणी सभा के आर्य भाषा पुस्तकालय से रोज एक पुस्तक ले जाते और दूसरे दिन लौटा देते थे। इस प्रकार पुस्तकें ले जाते और लौटाते देख एक दिन तत्कालीन पुस्तकालयाध्यक्ष पं० गोविन्दप्रसाद शुक्ल ने पूछा : 'कुछ पढ़ते भी हो या लौटाने के लिए ही पुस्तक ले जाते हो?' बाबूराव ने उत्तर दिया : 'सप्ताह के अंदर जो भी पुस्तकें मैं ले गया हूं उनमें से किसी के विषय में प्रश्न करके आप जान सकते हैं कि मैं पढ़ता हूं या केवल लौटाने के लिए पुस्तकें ले जाता हूं।' शुक्ल जी ने एक दुरूह पुस्तक के विषय में प्रश्न किया। बाबूराव ने उस पुस्तक का सारांश बताते हुए उस पर पर्याप्त प्रकाश डाला। शुक्ल जी इस बालक की प्रतिभा से बड़े प्रसन्न हुए और जब तक रहे सदा उसे प्रेरणा देते रहे।

इन्हीं दिनों कलकत्ता के बंगला 'बंगवासी' वालों ने 'हिंदी बंगवासी'

निकाला। एक सहायक संपादक की आवश्यकता हुई। इन्होंने आवेदन भेजा। चुन लिये गए। 1906 ई० में वहां चले गए। 1907 में 'हितवार्त्ता' के संपादक हुए। कलकत्ता में रहते समय अपने मामा बंगला के प्रसिद्ध लेखक एवं 'हितवादी' के संपादक गणेश सखाराम देउस्कर के गहरे संपर्क ने इनमें क्रांतिकारी भावधारा प्रवाहित कर दी। देउस्कर जी की जब्त बंगला पुस्तक 'देशेर कथा' का अनुवाद भी उन्होंने हिंदी में किया था। कलकत्ता में ही हिंदी के प्रसिद्ध विद्वानों पं० दुर्गाप्रसाद मिश्र, पं० गोविन्दनारायण मिश्र इत्यादि से परिचय हुआ। 1910 ई० में 'भारतमित्र' के दैनिक होने पर यह उसमें चले गए। 1916 में कलकत्ता के डेपुटी पुलिस सुपरिटेंडेंट की हत्या कर दी गई। उसके संदेह में गिरफ्तार कर लिये गए; बाद में कोई प्रमाण न मिलने पर इन्हें मुक्त कर दिया गया परंतु फिर शीघ्र ही नजरबंद कर लिये गए और चंद्रनगर के महेशकाल द्वीप, कलकत्ता के अलीपुर सेंट्रल जेल, मेदिनीपुर सेंट्रल जेल तथा हजारीबाग एवं बांकुड़ा जिलों के एकांत गांवों में लगभग चार वर्ष तक नजरबंद रहे। 1920 ई० में सभी बंदियों के छूटने पर रिहा हुए और काशी चले आए।

'आज' निकलने पर उसके संपादक हुए और जीवन के अंत तक रहे। 'आज' के लिए उन्होंने अपने को मिटा दिया। एक-एक काम देखते थे; बड़ा परिश्रम करते थे; वेतन अल्प था—इतना अल्प कि आश्चर्य होता है। किंतु उनके लिए पत्रकारिता राष्ट्र और समाज की सेवा थी, जीविका का साधन नहीं। बहुत अधिक वेतन पर उन्हें दिल्ली बुलाने के यत्न किए गए परंतु उन्होंने उधर ध्यान नहीं दिया। दुःख यही है कि 'आज' ने उनके जीवनकाल में और उनकी मृत्यु के बाद भी उनके लिए कुछ नहीं किया। अंतिम दिनों में, सारा जीवन 'आज' की सेवा में लगाने के बाद भी, वह आर्थिक कष्टों की भट्ठी में झुलसते ही रहे। जब शरीर शिथिल और दुर्बल हो गया, तब भी उन्हें पेट के लिए, बराबर काम करना पड़ा। आंख ने प्रायः जवाब दे दिया था, पैदल आने में कष्ट होता था लेकिन वह सब कुछ सहन करते रहे। कभी-कभी तो उनके पास चाय पीने के लिए दो आने पैसे तक नहीं होते थे। 'आज' के लिए उन्होंने आत्मबलिदान किया। दिल्ली और लखनऊ से उच्च वेतन के कई निमंत्रण आए पर वह काशी छोड़कर न जा सके।

आज, जब पत्र-संचालन तेजी से एक व्यवसाय बनता जा रहा है और व्यवसाय बनने के साथ ही सनसनी पैदा करने वाली पत्रकारिता का प्रभाव बढ़ रहा है और जब पत्रकार अपने सिद्धान्तों एवं आदर्शों पर मरने की आकांक्षा रखने वाला सत्यान्वेषक नहीं, वकील की भांति बुद्धि-व्यवसायी हो चला है तब ऐसी पत्रकारिता की दुनिया में पराड़कर जी एक गहरे विरोध—

'प्रोटेस्ट'—की भांति थे । कोई भावना गलती के विरोध में उनके कलम की गति रोक नहीं सकती थी । कोई मूल्य उनको, उनकी भावनाओं के विरुद्ध खरीद नहीं सकता था । निजत्व और परत्व के भावों से शून्य भी वह नहीं थे; न वह सबके प्रति अनासक्त वा निष्पक्ष थे । उनमें दुर्बलताएं भी थीं; उनके जीवन में भी निर्णय और व्यवहार की श्रेणियां थीं, परंतु वे मौका आने पर, उनके सार्वजनिक कर्त्तव्य और संपादकीय आदर्शों में बाधा नहीं डाल सकती थीं ।

ऐसे थे पराड़कर जी, जिनसे मेरा परिचय सन् 1922-23 में हुआ । पहले मुझे वह बहुत शुष्क लगे; जरूरत से ज्यादा गंभीर परंतु ज्यों-ज्यों संपर्क बढ़ता गया, यह अतिरिक्त गंभीरता का आवरण मेरे आगे से हटता गया । मुझ पर और मेरे अन्यतम मित्र 'उग्र जी' पर उनकी बड़ी कृपा थी । चाहे किसी भी समय हमारे लिए उनका द्वार उन्मुक्त था और जब भी हम कोई रचना लेकर प्रकाशनार्थ उनके पास जाते, चाहे कितनी ही देर हो गई हो, यदि किसी तरह भी उस अंक में छपना, यांत्रिक दृष्टि से, संभव होता तो वह अवश्य छपती ।

धीरे-धीरे परिचय बढ़ता गया और पराड़कर जी मेरी लेखन-शैली के एक प्रशंसक बन गए । फलतः उन्होंने पुस्तकों की आलोचना का काम मुझे दिया । शेखर, निर्गुण, सुमन, अनेक नामों से 'आज' में मेरी आलोचनाएं निकली हैं । और लोग भी आलोचना लिखते थे परंतु मेरी आलोचना-शैली दूसरों से कुछ भिन्न थी । मैं पुस्तक या आलोच्य विषय को उसके इतिहास तथा विकास की पृष्ठभूमि में देखता था । हिंदी के लिए, उस समय यह एक नई बात थी । मुझे क्या, जिसमें भी वह प्रतिभा देखते उसे बराबर प्रोत्साहन देते रहते थे । यही उनकी विशेषता थी; वह कभी युवकों को हतोत्साह नहीं करते थे ।

यह छायावाद का युग था और योग्य या अयोग्य जैसा भी मैं था, छायावादी आंदोलन को संघटित करने का भार मेरे कंधों पर आ पड़ा था । मैं इस आंदोलन का एक वकील-सा बन बैठा था, इसलिए मुझे अनेक गुरुजनों का, जिनके प्रति मैं यों श्रद्धा रखता था, विरोध करना पड़ता था । पराड़कर जी ने कभी मेरी लेखनी को, मेरे विश्वासों को, मेरी भावनाओं को नहीं दबाया । हां, उन्हें परिष्कृत करने में बराबर मेरी सहायता की । एक बार बातचीत में ब्रजभाषा परंपरा की विशेषताओं की चर्चा उन्होंने की और उसकी मृदुता एवं लोच की ओर उन्होंने मेरा ध्यान दिलाया । मैं पहिले से ही ब्रजभाषा के इन गुणों से परिचित था, क्योंकि लाला जी (भगवानदीन जी) के निर्देशन में प्राचीन काव्य का अध्ययन बराबर कर रहा था । तुलसी, सूर, बिहारी, देव और घनानन्द मेरे प्रिय कवियों में थे । घनानन्द की भाषा और भाव-विदग्धता

पर तो मैं पागल था। परंतु मैं बराबर यह मानता था कि उर्दू गजल की पिटी-पिटाई कल्पना एवं भावना की भांति, ब्रजभाषा की बंदिशों का क्षेत्र भी बहुत सीमित हो गया है। मैं यह भी मानता था कि आधुनिक हिंदी व खड़ी बोली में अच्छी कविता करना ब्रजभाषा में कविता लिखने की अपेक्षा कहीं कठिन है। मेरी स्थापना थी कि कोई भी प्रतिभावान् व्यक्ति, जिसे सौ-दो सौ सवैया और घनाक्षरी याद हों, ब्रजभाषा में कुछ न कुछ लिख ही सकता है। मेरी स्थापना पर पराड़कर जी केवल हंसकर रह गए।

और वह हंसी मुझे छू गई। वह मेरे कलेजे में उतर गई। बसंत के सुहावने दिन थे। मैं घर लौटा और उसी दिन रात को ब्रजभाषा में कई छंद—घनाक्षरी और सवैया—मैंने लिखे। दूसरे दिन जाकर चुपचाप मैंने उनके सामने रख दिए। उन्होंने तीन बार पढ़ा और झूम उठे। पूछा: 'किसी बहुत अच्छे कवि के जान पड़ते हैं। किसके हैं ?'

मैंने कहा: 'आपके इसी शिष्य के हैं।'

सुनकर पहले वह चकित हुए। फिर बोले: 'मुझे मालूम न था कि तुम इतनी मंजी ब्रजभाषा में ऐसी रचना कर सकते हो।'

मैंने कहा: 'कल जो बात हुई थी, उसका यह प्रमाण है।'

उन्होंने बड़ी प्रसन्नता प्रकट की और मुझसे लेकर दूसरे ही दिन के 'आज' में उन्हें प्रकाशित कर दिया।

तब से वह काव्य और साहित्य के मामले में मेरे मत का विशेष आदर करने लगे और अनेक जटिल परिस्थितियों में भी उन्होंने मेरे मत-स्वातंत्र्य को बराबर प्रश्रय दिया।

पराड़कर जी की भांति अध्ययनशील व्यक्ति मैंने कम ही देखे हैं। अपने एक-एक क्षण का उपयोग करते थे। उनके मित्र श्री गोविन्द शास्त्री दुगवेकर ने लिखा है[1]:

'एक दिन मैं रात के लगभग 8 बजे उनके घर पहुंचा तो क्या देखा कि एक हाथ में पानी भरा लोटा और दूसरे हाथ में लालटेन तथा बगल में किताब दबाए आप ऊपर से उतर रहे हैं। पूछा: कहां जा रहे हैं? बोले: टट्टी। 'किताब क्यों लिये जा रहे हैं?' 'एकांत में शांत चित्त से अध्ययन अच्छा होता है।' मृत्यु के कुछ समय पूर्व तक वह पढ़ते देखे गए।'

राजनीतिक दृष्टि से पराड़कर जी के विचार गांधी की अपेक्षा तिलक के अधिक निकट थे। इसलिए मैंने उनमें गांधी युग की कांग्रेस नीतियों के प्रति

1. 'पत्रकार बृहत्त्रयी' गौरीशंकर शुक्ल, पृ० 10-11.

एक आलोचक का दृष्टिकोण पाया। शुद्ध साहित्य और कला के वह बहुत अच्छे विद्यार्थी न थे परंतु सौंदर्य विज्ञान, अंतर्राष्ट्रीय राजनीति और कामशास्त्र का उनका अध्ययन बहुत गहरा था।

मैंने ऊपर कहीं कहा है कि उनमें आग्रह एवं दुर्बलता भी थी। जहां आग्रह होता है वहां दुर्बलताएं आ ही जाती हैं। एक आग्रह उनका यह था कि वह काशी छोड़ना नहीं चाहते थे। 'आज' के प्रति उनमें वही आसक्ति आ गई थी जो जनक को अपनी संतति से हो जाती है।

एक बार किसी व्यक्ति ने कोई रचना भेजी। पराड़कर जी ने उसे अस्वीकार करके लौटा दिया। संयोग से श्री श्रीप्रकाश जी एसेंबली के इलेक्शन में खड़े हुए। अपने दौरे में कहीं उनको वह व्यक्ति मिला; उसके हाथ में बहुत से वोट थे। उसने समर्थन की बात तो कही पर शिक़ायत की कि आपका पत्र तो हमारी रचनाएं भी लौटा देता है। फिर उसने सब हाल बताया। श्रीप्रकाश जी ने रचना उससे ले ली और प्रकाशनादेश के साथ 'आज' के संपादक को भेज दिया। उस समय श्रीप्रकाश जी 'आज' एवं ज्ञानमंडल के मैनेजिंग डाइरेक्टर थे। उनकी चलती थी। पराड़कर जी के पास रचना आई तो वह कुछ न बोले और वह रचना दूसरे या सातवें पृष्ठ पर मुझे प्रकाशनार्थ दे दी। मैंने उसे गुरु का अपमान समझा और गुरुदक्षिणा स्वरूप अपना त्यागपत्र लिखकर चुपचाप उनके हाथों पर रख दिया। मुझे यह बात बहुत बुरी लगी कि वह आदमी, लौटाई हुई रचना उसी संपादक द्वारा छापे जाने पर, उनके संबंध में क्या धारणा बनाएगा। मेरी आर्थिक स्थिति उन दिनों बड़ी खराब थी; मां, बहिन-भाइयों का सब बोझ मुझ पर था। बड़ी गरीबी से दिन बीतते थे, दिन बीतते क्या घिसटते थे। मेरे लिए वह जीवन-मरण का प्रश्न था परंतु तरुणाई कठिनाइयों को ललकारती चलती है; वह कांटों में चलते हुए अपने लहूलुहान पैरों को देखकर अट्टहास करती है। मैं तूफानों पर चल रहा था। पंडित जी मेरी हालत जानते थे इसलिए त्यागपत्र देखते ही मानो आकाश से गिरे; बहुत घबराए; मुझे बहुत ऊंच-नीच समझाया। परंतु मैंने हाथ जोड़कर कहा : 'पंडित जी, आपके जीवन की संध्या निकट है किंतु मेरे जीवन की तो दोपहरी भी नहीं आ पाई है। सारी जिंदगी मेरे सामने पड़ी है। आप अपना अपमान पी लें परंतु मुझसे वह निगला न जाएगा। आप मेरे गुरु हैं। आपसे जो सीख पाया हूं उसकी यह दक्षिणा स्वीकार कीजिए।' मेरे चलते समय उनकी आंखों में आंसू थे। स्नेह तो वह मुझे करते ही थे; तब से मेरा सम्मान भी करने लगे।

मैंने ऊपर कहा है कि उनमें दुर्बलताएं भी थीं। इसी दुर्बलता के कारण

उन्होंने एकाधिक शादियां कीं। होमियोपैथी का अभ्यास उनका अच्छा था और काम-विज्ञान के वह गंभीर अध्येता थे। उनका उत्तर जीवन गार्हस्थ्य संबंधी दुर्बलताओं से पूर्ण था, यद्यपि उन दुर्बलताओं में भी उनकी महत्ता की एक क्षीण रेखा मिलती है। मैं उन्हें प्रायः कहा करता था कि पंडित जी, अपनी विद्या का प्रसाद ग्रंथ रूप में हिंदी को दे जाइए। वह वादा भी करते थे और एक बार प्राच्य देशों की राजनीतिक भावधारा पर कुछ लिखना शुरू भी किया परंतु ग्रंथ पूरा नहीं हो सका। स्वतंत्रता युद्ध में जब सब पत्र ऑर्डिनेंस के शिकार हो गए थे तब उनकी प्रेरणा और पथ दर्शन में काशी की 'रण-भेरी' बराबर निकलती रही और लाख सिर मारकर भी पुलिस उसके गुप्त मुद्रण एवं प्रकाशन को रोक नहीं पाई। हुआ है यह कि पुलिस एक मकान से तलाशी लेकर गली में आई है और उसी के ऊपर 'रण भेरी' के अंकों की वर्षा सी हो रही है। पराड़कर जी काशी में नागरिक जीवन में सुधार के लिए सदा सचेष्ट रहे। न जाने कितने असहाय, निर्धन विद्यार्थियों की सहायता वह किया करते थे।

उनमें प्रवलता, भावावेश, शक्ति का उन्मेष नहीं था। यह उनकी शैली का दोष कहा जा सकता है परंतु यह दोष ही उनका गुण था। उनमें एक अपूर्व स्थिरता, किसी समस्या के केंद्रीय सत्य को समझने की दृष्टि और अपनी बात को सरल से सरल रूप में कहने की शक्ति थी। वह पहाड़ों की छाती चीर-कर बहने वाली अलकनंदा या भागीरथी नहीं, मैदानों में बहने वाली गंगा थे। उन्होंने हिंदी पत्र जगत् को 'श्री', 'किं बहुना', 'अधिकन्तु', 'राष्ट्रपति' इत्यादि अनेक नये शब्दों का दान किया; उसके लिए एक आदर्श शैली बनाई; अनेक युवकों को प्रशिक्षित किया। उनकी गंभीरता ही हमारी पत्रकार कला की थाती है। मैंने अपने जीवन में दो ही पत्रकारों से शक्ति पाई है: एक पराड़कर जी, दूसरे गणेश जी से। गणेश जी जीवन की स्फूर्ति थे—हृदय थे; पराड़कर जी जीवन का प्रकाश थे, मस्तिष्क थे।

हरे कृष्ण 'जौहर'

जब 'आज' से मेरा संबंध घनिष्ठ हो रहा था और मैं उसमें आलोचनाएं लिखने लगा था, तब की बात है। काशी में कलकत्ता की प्रसिद्ध कोरिंथियन थियेट्रिकल कंपनी आई। उन दिनों उसके नाटकों की बड़ी धूम थी। यह पारसी पूंजीपतियों की कंपनी थी और वे लोग साज-सज्जा, दृश्य और मंच के अलंकरण में बहुत व्यय करते थे। कंपनी ने 'नल-दमयन्ती' नाटक का अभिनय किया। देखकर उस पर कुछ सम्मति प्रकाशित करने के लिए प्रधान संपादक के रूप में पराड़कर जी को निमंत्रित किया गया था। पराड़कर जी की तबीयत ठीक न थी इसलिए अपने स्थान पर उन्होंने मुझे भेज दिया। मैंने नाटक के विषय में, उसके स्तर के

विषय में, विरोधाभास के विषय में, अनैतिहासिक सज्जा के विषय में अपनी स्पष्ट सम्मति लिखकर पराड़कर जी को दी और उसे उन्होंने मेरे नाम से छाप दिया। उससे कंपनी में बड़ा तहलका मचा। दूसरे या तीसरे दिन देखता क्या हूं, मेरे गरीबखाने पर बढ़िया शेरवानी और चूड़ीदार पाजामा पहने एक गुरुजन पधारे हैं। बाद में मालूम हुआ कि वह श्री हरेकृष्ण जौहर हैं। मैंने झुक-कर उन्हें अभिवादन किया। आज की संतति तो उनको बिल्कुल ही भूल गई है, परंतु मेरे जमाने में भी थोड़े ही लोगों को उनकी याद थी। वह किसी जमाने में काशी के ही थे। थे क्या, काशी में ही जन्मे, काशी में ही शिक्षित हुए। यह कोहली खत्री थे। शुरू में उर्दू पढ़ी और तेरह वर्ष की उम्र मे ही नाटक-उपन्यास लिखने लगे। प्रारम्भिक सब रचनाएं उर्दू में हैं जिनमें 'राजे-हैरत', 'हरीफ', 'पुर असर जादू' इत्यादि के नाम लिये जा सकते हैं। दो साल बाद ही उर्दू में लिखना सदा के लिए छोड़ दिया और हिंदी की सेवा में तत्पर हो गए, यद्यपि आरंभ में ग्रहण किया गया 'जौहर' उपनाम उनके साथ सदा के लिए लग गया।

बीसवीं शती के आरंभ में काशी के साहित्यिक जीवन का एक प्रधान केंद्र था भारतजीवन प्रेस। इसे केंद्र क्या, साहित्य की तत्कालीन पाठशाला कहना चाहिए। प्रेस के स्वामी रामकृष्ण वर्मा द्वारा पुरातन काव्य के उद्धार एवं प्रकाशन का जो काम उस युग में हुआ वह अभूतपूर्व था। उनके यहां सर्वश्री अम्बिकादत्त व्यास, डुमरांव वाले नकछेदी तिवारी, कवि लछिराम, कार्तिकप्रसाद, जगन्नाथदास रत्नाकर, सुधाकर द्विवेदी और किशोरीलाल गोस्वामी जैसे लोगों का जमघट रहता था। जौहर जी की किशोरावस्था इन्हीं के सत्संग में बीती। भारतजीवन प्रेस से ही उनकी कई पुस्तकें प्रकाशित हुईं। काशी के मासिक पत्र 'मित्र', 'उपन्यास-तरंग' तथा साप्ताहिक 'द्विजराज' का संपादन किया। फिर कुछ दिन के लिए बंबई चले गए और 'श्री वेंकटेश्वर-समाचार' के सहकारी संपादक रह आए। वहां से लौटे तो 'भारतजीवन' के संपादक हो गए। इनके संपादन-काल में पत्र की ग्राहक-संख्या खूब बढ़ी। वह सेवा का जमाना था, संपादक की दृष्टि अर्थोपार्जन पर नहीं रहती थी। इन्हें कुल पंद्रह रुपये महीने मिलते थे। 1902 ई० में हिंदी 'बंगवासी' के सहकारी संपादक होकर कलकत्ता चले गए। शुरू में वहां भी पच्चीस रुपये मिलते थे जो बाद में बढ़कर एक सौ पांच तक पहुंच गया था। कुछ ही दिन बाद प्रधान संपादक पं० सदानंद शुक्ल के अवकाश ग्रहण करने पर यह प्रधान संपादक हो गए हिंदी एवं बंगला 'बंगवासी' तथा अंग्रेजी 'दैनिक टेलीग्राफ' के स्वामी श्री योगेशचंद्र वसु इन पर बड़ी कृपा रखते थे। 'हिंदी बंगवासी' की हिंदी बड़ी मुहाविरेदार और टकसाली होती थी। आज के युग में तो यदि उसकी एक प्रति

कहीं से प्राप्त करके समाचारपत्र-पाठकों के सामने रख दी जाए तो लोग दांतों तले उंगली दबाएंगे। एक अजीब दानवी साइज था उसका। उसका एक कालम शैतान की आंत की तरह लंबा होता था जिसके ऊपर मेरे-जैसे नटुल्ले बैठकर पढ़ते थे। न जाने किस मशीन पर छपता था और कौन इसका कागज बनाता था। टाइप भी उसके विशेष थे। परंतु भाषा बड़ी सुंदर होती थी। मैं उसे खूब मनोयोग से पढ़ता था इसलिए जौहर जी के नाम से भली भांति परिचित था। उनके छोटे भाई श्रीकृष्ण 'हसरत' तो उन दिनों भी काशी में रहते थे और उनसे मेरा अच्छा परिचय था। जौहर जी सत्रह वर्ष तक 'हिंदी बंगवासी' के प्रधान संपादक रहे थे। इनके संपादन-काल में पत्र की आशातीत उन्नति हुई और ग्राहक संख्या तीन हजार से बढ़कर सत्रह हजार तक पहुंच गई थी। 1919 ई० में यह बंगवासी प्रेस से अलग हो गए। सर्वश्री अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी, बाबूराव विष्णु पराड़कर, लक्ष्मणनारायण गर्दे, गणेशसिंह भदोरिया जैसे लोगों को इनके प्रधान संपादकत्व में काम करने का अवसर प्राप्त हुआ। कतिपय मित्रों के सहयोग से कलकत्ता में इन्होंने नागरी प्रचारिणी सभा की भी स्थापना की। इस प्रकार साहित्य सेवा एवं पत्रकारिता की एक लंबी परंपरा लेकर वह मुझसे मिलने आए थे। उन्होंने प्रायः घंटे भर तक साहित्य एवं नाटक के विविध पहलुओं पर बातें कीं। उनमें इतनी शिष्टता, इतनी मधुरता, इतनी शालीनता थी कि मुझे किसी और हिंदी लेखक में कभी नहीं मिली। उच्चकोटि के सुसंस्कृत नवाबों की वार्ताशैली का आदर्श उनमें विकीर्ण हुआ था।

जब हम बहुत नजदीक आ गए तो उन्होंने मुझे गले से लगा लिया और झट मेरे पांव पर टोपी रख दी। मैं तो हक्का-बक्का रह गया। बोला : 'यह क्या ? आप तो एक प्रकार से मेरे गुरु के भी गुरु हैं, पूज्य हैं; यों भी मैं आपकी हिंदी सेवा के प्रति श्रद्धालु हूं, फिर मुझे क्यों लज्जित कर रहे हैं ?'

वह बोले : 'मेरी जीविका आपके हाथ में है। मेरा यश भी आपके हाथ में है।'

मैं तब भी कुछ समझ न सका। तब उन्होंने बताया कि इधर अर्से से वह पारसी सेठ रुस्तम जी के मदन थियेटर्स और कोरिंथियन थियेटर कंपनी के नाटककार और हिंदी सलाहकार हैं और मेरी आलोचना से जो तूफान उठ गया है उसमें उनकी नाव डगमगा रही है। वह पराड़कर जी से भी मिले थे और पराड़कर जी ने ही उन्हें मुझसे मिलने की सलाह दी थी, क्योंकि जो कुछ मैं लिखूंगा उसमें वह स्वयं कुछ काट-छांट करने को तैयार न थे। जौहर जी इसलिए भी डर रहे थे कि दूसरे या तीसरे दिन उन्हीं का लिखा नाटक 'पतिभक्ति' खेला जाने वाला था, जिसने उस जमाने में कलकत्ता में धूम मचा दी

थी । अगर मेरी अल्हड़ता ने उसके साथ भी वही किया जो 'नल-दमयन्ती' के साथ कर चुका था तो पतंग ही कट जाएगी ।

मैंने उनसे कहा : 'मैं आपका बच्चा हूं । आपकी कीर्ति की रक्षा मेरा धर्म है परंतु आपकी कीर्ति मेरे पनपने में, मेरे सत्य दर्शन में है ।'

वह बोले : 'मैं तुम्हारा बड़ा हूं परंतु आज तुम्हारे आगे भिखारी हूं । यही क्या तुम्हारा गौरव नहीं ?'

मैं चुप हो गया । मनुष्य के आगे आलोचक दब गया । दूसरे दिन उन्होंने मुझे अपने यहां आमंत्रित किया । जब मैंने द्वार पर थपकी दी तो द्वार खोलते ही 'गालिब' का यह शेर पढ़ा :

वह आयें घर में हमारे, खुदा की कुदरत है,
कभी हम उनको, कभी अपने घर को देखते हैं ।

उन दिनों शेरो-शायरी के रंग में डूबा तो था ही, जवानी का आलम, मैंने भी छूटते ही 'गालिब' के शब्दों में जवाब दिया :

दश्नः ए गम्ज़ः[1] जांसितां,[2] नावके नाज़ बेपनाह[3],
तेरा ही अक्से रुख[4] सही, सामने तेरे आये क्यों ?
वां वह गुरूरे इज्ज़ोनाज़, यां यह हिजाबे पासे वज़अ्,
राह में हम मिले कहां, बज्म में वह बुलाये क्यों ?

तब से वह मेरा बड़ा मान करने लगे । प्रायः मुझे बुलाकर साथ अभिनय दिखाने ले जाते और उन विवशताओं को समझाते रहते थे जो मंच पर भावनाओं की अभिव्यक्ति को सीमित करती हैं ।

वह उस समय प्रायः एक मास काशी रहे । इस अवधि में मैंने उन्हें निकट से देखा और परखा । वह साहित्यकार बहुत बड़े न रहे हों परंतु ऊपर से नीचे तक सज्जनता एवं सहृदयता के सजीव रूप थे और सीमित अर्थ में ही सही, हिंदी नाटक को अभिनेय बनाने के क्षेत्र में उनकी सेवाएं बराबर स्मरणीय की जाएंगी । उनका लंबा सत्संग फिर उपलब्ध नहीं हुआ; वह मधुर हंसी, काव्य-विनोद, मुहाविरों की बहार, बात में बात पैदा करने की कला फिर मुझे नसीब न हुई । 1931 में जब मदन थियेटर्स के स्वामी रुस्तम जी का देहांत हो गया तो कंपनी की नौकरी छोड़ वह काशी आ गए और अपने मामूरगंज वाले मकान में रहने लगे । किंतु इस समय सत्याग्रह आंदोलन के सिलसले में मैं जेल में और फिर गांधी जी के पास वर्धा में था इसलिए भेंट नहीं हुई । बीच-बीच में सिनेमा कंपनियों के लिए कहानी आदि लिखने के काम से कलकत्ता, बंबई जाते रहते थे । उन्होंने अपना एक प्रेस भी खोला था और वहीं से 'आधार' नामक

1. कटाक्ष-कटारी । 2. प्राणलेवा । 3. गर्वपूर्ण सौंदर्य-बाण जिससे रक्षा संभव नहीं । 4. मुख का प्रतिबिंब ।

साप्ताहिक पत्र निकाला था। 1938 में फिर बंबई चले गए और 'श्रीवेंकटेश्वर समाचार का संपादन करने लगे। उनका सारा जीवन ही हिंदी की सेवा में बीता।

लक्ष्मणनारायण गर्दे

हिंदी के एक दूसरे पुराने पत्रकार श्री लक्ष्मणनारायण गर्दे से मेरा विशेष संपर्क नहीं हो सका और जो कुछ संपर्क हुआ भी वह प्रायः औपचारिक एवं अप्रत्यक्ष रहा। किसी जमाने में काशी से उन्होने 'नवनीत' निकाला था। अच्छा एवं सुरुचिपूर्ण पत्र था और उसका मुझ पर प्रभाव भी पड़ा था। इसलिए मैं जिन गुरुजनों के प्रति आकर्षित था उनमें गर्दे जी भी थे।

गर्दे जी काशी में ही जन्मे थे (जन्मकाल फाल्गुन संवत् 1946); वही क्यों उनके पिता पं० नारायण राव का जन्म भी काशी में हुआ था। नारायण राव बड़े गीताभक्त तथा विनोदी व्यक्ति थे। गीता के प्रति लक्ष्मणनारयण जी में जो गहरी श्रद्धा पल्लवित हुई थी उसका बीज पिता ने ही उनके हृदय में डाला था। लक्ष्मणनारायण जी किशोरावस्था से ही राजनीति विषयों में गहरी दिलचस्पी लेते थे। लोकमान्य तिलक के 'केसरी' का उनके मन पर गहरा प्रभाव पड़ा था। इंटर की पढ़ाई बीच में छोड़ यह बंबई चले गए और कुछ दिनों तक 'श्रीवेंकटेश्वर समाचार' में काम भी करते रहे। वहां से लौटकर वह कलकत्ता चले गए और जौहर जी की कृपा से 'हिंदी बंगवासी' में काम करने लगे। एक वर्ष तक 'हिंदी बंगवासी' में संपादन-कला सीखने के बाद 'भारत मित्र' के संपादकीय विभाग में सम्मिलित हुए परंतु वहां भी अधिक दिन न ठहर सके। फिर एक कनफटे परंतु विद्वान् ब्रह्मचारी से 18 दिनों में गीता के 18 अध्याय पढ़े और तुरंत काशी लौट आए। काशी आकर उन्होंने गीता की एक मौलिक टीका लिखी। हरिश्चंद्र स्कूल में अध्यापन का काम किया। फिर नेपाल जाकर वहां के राजगुरु विद्वद्वर हेमराज के तत्त्वावधान में काम करते रहे। 1919 ई० में पुनः 'भारतमित्र' (कलकत्ता) में आए और पं० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी के अवकाश ग्रहण करने पर उसके प्रधान संपादक हुए। प्रायः 6 वर्ष वहां काम किया। इनके लेखों के कारण 'भारत मित्र' का बड़ा नाम हुआ—यहां तक कि उनके अनुवाद मद्रास के 'स्वराज्य' और कलकत्ता के 'सर्वेण्ट' में भी प्रकाशित हुए। 1925 ई० में 'भारत मित्र' से अलग होकर 'श्रीकृष्ण संदेश' निकाला। मेरी समझ से 'श्रीकृष्णसंदेश' उनकी संपादन-कला का सर्वोत्तम नमूना माना जा सकता है। यह पत्र कलकत्ता के श्री चुन्नीलाल वर्मन (डा० एस० के० बर्मन एंड संस या बाद के 'डाबर' वाले) के सहयोग से निकला था। उसकी शैली की गंभीरता, सादगी और सामग्री सब ने मुझे बहुत आकर्षित किया किंतु बाद में वह घाटे के कारण बंद हो गया। कुछ समय तक उन्होंने 'अभ्युदय' का भी संपादन किया था। बीच

में 'कल्याण' के वार्षिक विशेषांकों को प्रस्तुत करने में भी भाग लेते रहे। कलकत्ता रहते समय वहां के सार्वजनिक जीवन में इन्होंने अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बना लिया था।

हिंदी के लिए यह बड़े आश्चर्य एवं गौरव की बात है कि उसके पुराने पत्रकारों एवं उन्नायकों में सर्वश्री माधवराव सप्रे, अमृतलाल चक्रवर्ती, बाबूराव विष्णु पराड़कर, लक्ष्मणनारायण गर्दे, गौरीशंकर हीराचंद ओझा, लज्जाराम मेहता जैसे हिंदीभाषी थे। कदाचित् यही उसकी राष्ट्रीयता या राष्ट्रीय भाषा होने का प्रमाण है। और हिंदी के लिए यह कोई नई बात नहीं है। रहीम, रसखान, पद्माकर, आलम, शेख, गुरु तेगबहादुर, गुरु गोविन्दसिंह तथा महाराष्ट्र, बंगाल, दक्षिण के अनेकानेक संतों ने इसे भारत की वाणी मानकर ग्रहण किया था।

गोपालराम जी गहमरी

हिंदी के एक बहुत पुराने लेखक श्री गोपालराम गहमरी (जन्मकाल : पौष कृष्ण 8 गुरुवार सं० 1923) भी जीवन के उत्तरकाल में काशी आकर रहे। किशोरावस्था में मैं उनके जासूसी उपन्यासों का मुग्ध पाठक था। इसलिए स्वभावतः उनसे परिचय हुआ। मुझे यह भी ज्ञात था कि बंबई की प्रसिद्ध प्रकाशन संस्था खेमराज श्रीकृष्णदास के यहां भी 1899 ई० तक उन्होंने लेखक के रूप में काम किया था; मैं यह भी जानता था कि 'भारत मित्र' में भी वह संपादकीय विभाग में बहुत पहले रह चुके थे। फिर गहमर ने (गाजीपुर) आकर वहीं से 'जासूस' मासिक पत्र निकाला। यह बात 1900 ई० की है। उस जमाने में वह हिंदी में अपने ढंग का एक ही पत्र था और 1939 तक बराबर निकलता रहा।

किसी समय हिमाचल प्रदेश के एक नरेश का राज्याश्रय पाकर उन्होंने बड़े सुख से दिन बिताए थे परंतु उनके अंतिम दिन अपेक्षाकृत कष्ट से बीते। गहमरी जी हिंदी में जासूसी साहित्य के जनक थे और उन्होंने बीसियों मौलिक तथा अनुवादित जासूसी उपन्यास हिंदी को भेंट किए। जासूसी उपन्यास तो आज भी निकलते हैं परंतु उनकी जैसी टकसाली और मुहाविरेदार सरल हिंदी लिखने वाले आज तो दिखाई नहीं देते परंतु उस समय भी इने-गिने ही थे। मेरा निश्चित मत है कि हिंदी के प्रचार में स्व०बाबू देवकीनन्दन खत्री एवं गहमरी जी की रचनाओं का बड़ा योग रहा है। गहमरी जी के अनुवादित उपन्यासों को भी पढ़कर यह नहीं मालूम होता था कि वे कहीं से अनुवाद किए गए हैं। अनुवाद को हिंदी की गढ़न और प्रकृति में वह कुछ इस प्रकार बैठाते थे कि कमाल ही करते थे।

उन्होंने अनेक सामाजिक एवं ऐतिहासिक उपन्यास और नाटक लिखे। उनके सामाजिक उपन्यासों में 'ननद-भौजाई', 'नये बाबू', 'आदमी बनो' और 'चतुर चंचला' अपने समय में लोकप्रिय हुए। ऐतिहासिक उपन्यासों में 'अमर-सिंह', 'हम हवालात में' 'लंगटू बाबा' और 'ब्रेबादल का वज्र' इत्यादि हैं। सामाजिक नाटकों में 'देशदशा', 'विद्याविनोद' और जीवन सुधार तथा ऐतिहासिक नाटकों में 'बभ्रुवाहन' एवं 'जन्मभूमि' अच्छे हैं। अब तो एकांकी नाटक हिंदी में बहुत लिखे जा रहे हैं, रेडियो से भी प्रसारित होते रहते हैं किंतु उस जमाने में, जब उससे लोग अपरिचित थे, उन्होंने 'वर्तमान वंचक चपेट' नामक एक एकांकी लिखा था। रहस्यमयी विधाओं के प्रति भी उनकी बड़ी रुचि थी। मेस्मेरिज्म के संबंध में उन्होंने कई पुस्तकें लिखीं और अनुवादित की थीं। उन दिनों मैं भी मेस्मेरिज्म और नाटक विद्या का एक अभ्यासी था और ब्रसेल्स (यूरोप) की एक प्रसिद्ध संस्था से मेरा संबंध स्थापित हो चुका था। इसलिए उनकी ऐसी रचनाओं में मेरी बड़ी दिलचस्पी थी। इस विषय पर 'इच्छा शक्ति' और 'मोहिनी विद्या' उनकी प्रसिद्ध पुस्तकें हैं।

गहमरी जी कवि और व्यंग्यलेखक भी थे। 'सोनाशतक', 'वसंतविकास' और 'चित्रांगदा' उनके काव्य हैं और 'प्लेग का वक्तव्य' तथा 'रंग की बातें' उनकी व्यंग्य रचनाएं बंगला से 'गोबर गणेश संहिता' का अनुवाद भी उन्होंने किया था। उनकी समस्त ग्रंथों की संख्या दो सौ से ऊपर ही होगी।

गोपालराम जी अत्यंत सरल और सहृदय व्यक्ति थे। उनके विषय में एक और बात उल्लेखनीय है। 'पुराने कांटे' के लेखक होते हुए भी उन्होंने सदैव नवीन साहित्यिक प्रवृत्तियों की अभ्यर्थना की। उस जमाने में यह विशेषता शायद ही और किसी प्राचीन साहित्यकार या लेखक में रही हो। जब ब्रज-भाषा और खड़ी बोली का विवाद चला था तब उन्होंने डटकर पं० श्रीधर पाठक का समर्थन किया था। उन्होंने गद्य और पद्य दोनों में खड़ी बोली के प्रचलन का पक्ष लिया था और पं० प्रतापनारायण मिश्र तक को अपने तर्कों से इसके लिए तैयार किया था। वह पंडिताऊ हिंदी के विरोधी थे और चुस्त, मुहाविरेदार, बोधगम्य तथा यथासंभव ठेठ हिंदी के पक्षपाती थे।

जब मैंने 1924-25 में हिंदी में नूतन दृष्टिकोण रखने वाले तत्त्वों को एकत्र कर एक साहित्यिक संघटन का निर्माण करने के लिए आंदोलन चलाया तो उन्होंने न केवल मुक्त हृदय से उसका समर्थन किया बल्कि उसमें सब प्रकार का क्रियात्मक सहयोग देने का भी वचन दिया। उनसे और प्रवासी भारतीयों के प्रसिद्ध नेता आरा (और बाद में अजमेर) वाले पं० भवानीदयाल संन्यासी से इस विषय में मुझे अप्रत्याशित सहायता प्राप्त हुई थी।

किंतु गहमरी जी की आर्थिक स्थिति दिन-दिन खराब ही होती गई और

शारीरिक व्याधियां भी प्रबल होती गई। एक समय अत्यंत लोकप्रिय जासूसी साहित्य, समय की गति में मानो पिछड़ गया हो। गांधी युग में धीरे-धीरे हिंदी से तिलिस्मी और जासूसी उपन्यास समाप्त होते जा रहे थे और उनकी बिक्री भी घटती जा रही थी। ऐसा जान पड़ता है कि साहित्यिक की भी ऋतुएं होती हैं, क्योंकि मैं देखता हूं कि 20-25 वर्ष बाद ही फिर बड़े जोर से जासूसी रचनाएं एव पत्रिकाएं हिंदी में पनपीं, यद्यपि उनमें न वह भाषा थी, न मौलिक स्पर्श, न वह स्तर।

काशी में रहने के कारण गोपालराम जी गहमरी के छोटे भाई श्री महावीर-प्रसाद गहमरी से भी परिचय हुआ। यह हिंदी के पुराने पत्रकार थे और पराड़कर जी के भी पहले पत्रकारिता के क्षेत्र में आए थे। हिंदी बंगवासी तथा और कई पत्रों में रह चुके थे। मंजे हुए पत्रकार थे। 'आज' में काम करते समय उनके संपर्क में आने का अवसर अधिक मिला। उनमें पराड़कर जी की मौलिक सूझ तो न थी परंतु चुपचाप परिश्रम करने की वृत्ति खूब थी। हम लोगों को, जो जीवन के दर्रों एवं घाटियों से उछलते-कूदते चल रहे थे, अपने जीवन के अनेक अनुभव वह सुनाया करते थे। वह कहा करते थे कि 'अध्ययन और अभिव्यक्ति दो बातें पत्रकार को आगे बढ़ाती हैं, इसी कारण मेरे आगे पत्रकारिता के क्षेत्र मे नवागंतुक के रूप में आने वाले पराड़कर जी आज मेरे प्रधान हैं और मैं वैसे ही कलम घिसे जा रहा हूं।' उनमें जीवन की घटनाओं को विनोद पूर्वक एक दर्शक की भांति ग्रहण करने की वृत्ति थी।

7

'रत्नाकर' और अन्य रत्न

पराड़कर जी के उत्तर जीवन में कई ऐसी प्रवृत्तियों का विकास हुआ जो सामान्य प्रेक्षक की समझ में न आती थीं परंतु उनके संबंध में सार्वजनिक चर्चा का समय अभी नहीं आया है। इसलिए उन बातों को छोड़ देता हूं। प्रत्येक दृष्टि से उनका जीवन हमें अध्ययन एवं शिक्षण की पर्याप्त सामग्री देता है।

मुंशी कालिकाप्रसाद

पराड़कर जी के बाद जिस आदमी ने 'आज' में मुझ पर सबसे ज्यादा प्रभाव डाला, वह थे मुंशी कालिकाप्रसाद जी। 'आज' के पूर्व वह बाबू गंगा-प्रसाद गुप्त के 'हिंदी केसरी' में संपादक थे। जब 'आज' निकला तब प्रायः प्रारंभ से ही वह उसमें आ गए थे। व्याकरण-सम्मत एवं मुहाविरेदार हिंदी लिखने में वह बेजोड़ थे, यहां तक कि पराड़कर जी भी भाषा-शुद्धि एवं शब्द प्रयोग के मामले में उनके निर्णय का सम्मान करते थे। उनका अनुवाद बहुत शुद्ध, सटीक और हिंदी की प्रकृति के अनुकूल होता था। वह अंग्रेजी, मराठी और बंगला के सर्वोत्तम अनुवादकों में थे; फारसी, उर्दू तो मानो घर की भाषा थी।

कालिकाप्रसाद जी संग्रहणी के जीर्ण रोगी थे और जन्म भर खानपान के संयम का ध्यान रखते रहे। वर्षों वह केवल दूध पर रहे। कार्यालय में भी उनका दूध साथ आता था। कभी तबीयत कुछ संभल जाती, परंतु ऐसा कभी न न हुआ कि इस रोग से उन्हें मुक्ति मिली हो। अंतिम दिनों में आर्थिक कष्ट में भी थे। 'आज' से मेरे अलग हो जाने के बाद भी, मेरे साथ उनका संपर्क बराबर बना रहा। जब भी उन्हें पता चलता कि मैं काशी आया हूं, वह समय निकालकर मुझसे मिलने जरूर आते। मैंने बहुत चाहा कि वह काशी छोड़कर बाहर निकलें; कई जगह मैंने उनके लिए बातचीत भी की, परंतु वह अपनी

शारीरिक व्याधियों एवं पारिवारिक कठिनाइयों के कारण बाहर न जा सके और अंत में हमें छोड़कर चले गए। वह हिंदी पत्रकारिता को बहुत कुछ दे सकते थे परंतु कुछ अपनी विचित्र परिस्थिति और कुछ अपनी ढुलमुल नीति के कारण वह एक बहुत छोटे दायरे में बंधकर रह गए। हिंदी उनके अनुभव का लाभ न उठा सकी। स्थिति यह है कि हिंदी पत्रकारों में भी शायद 5 प्रतिशत लोग भी उनके नाम-काम से परिचित न होंगे। वह बड़ी कच्ची गृहस्थी छोड़ गए थे किंतु संतोष इतना ही है कि उनके दो लड़के सरकारी नौकरी में लग गए हैं और आर्थिक दृष्टि से परिवार की गाड़ी चल निकली है। 'आज' के मेरे साथियों में से रैना तो पहले ही चले गए थे, पराड़कर जी, महावीर-प्रसाद जी, कालिकाप्रसाद जी झा जी—एक-एक करके प्रायः सभी चले गए। एक उमाशंकर जी बच गए हैं, जो प्रयाग में रहकर स्वतंत्र पत्रकारिता का जीवन किसी तरह बिताए चले जा रहे हैं।

ज्ञानमंडल में लेखकों का जमघट : मैं पहले लिख चुका हूं कि उन दिनों ज्ञानमंडल में कई लेखक और साहित्यकार एकत्र हुए थे। पं० बालकृष्ण भट्ट, के लड़के श्री जर्नादन भट्ट, श्री कृष्णविहारी मिश्र, श्री मुकुन्दीलाल। रामदास जी गौड़ का जिक्र तो मैं पहले ही कर चुका हूं। श्रीप्रकाश जी का तो बहुत दिनों तक 'आज' और ज्ञानमंडल से घनिष्ठ संपर्क रहा। उत्तर प्रदेश के भूतपूर्व मुख्य-मंत्री तथा राजस्थान के भूतपूर्व राज्यपाल सम्पूर्णानन्द का संबंध इस प्रकाशन संस्था से 'आज' के अंग्रेजी संस्करण 'टुडे' तथा मासिक पत्रिका 'मर्यादा' के संपादक के रूप में रहा।

कृष्णबिहारी मिश्र

जनार्दन जी अच्छे अनुवादक थे। उत्तर प्रदेशीय सरकार में भी वह अनु-वादक ही थे। उनकी हिंदी शुद्ध होती थी। कृष्णबिहारी मिश्र मध्ययुगीन हिंदी साहित्य, विशेषतः रीतिकालीन साहित्य के अच्छे पंडित थे। जन्म 1890 ई० (श्रावण कृष्ण 6 सं० 1947) में हुआ। यह गंधौली (सीतापुर) के रहने वाले थे। इनके चचा युगलकिशोर मिश्र ('ब्रजराज' कवि) तथा पिता श्री रसिकबिहारी मिश्र विद्वान्, साहित्यमर्मज्ञ और काव्यरसिक थे। दादा श्री नंद-किशोर मिश्र 'लेखराज' ने 'गंगाभरण' नामक एक अलंकार ग्रंथ लिखा था। घर में अच्छी जमींदारी थी। काव्यात्मक वातावरण था। अच्छी शिक्षा मिली। बी० ए० करने के बाद संस्कृत में एम० ए० की पढ़ाई शुरू की किंत परीक्षा में अनुत्तीर्ण होने के कारण प्रयाग विश्वविद्यालय से 1916 ई० में वकालत पास की और सीतापुर में 1924 तक वकालत करते रहे।

मिश्र जी का महाकवि 'देव' संबंधी अध्ययन बहुत विस्तृत था। पं० पद्मसिंह

शर्मा ने जब बिहारी को उछालकर समस्त हिंदी और संस्कृत कवियों के ऊपर बिठा दिया और लाला भगवानदीन आदि तत्कालीन समालोचकों ने उनका समर्थन किया तब वही थे जो 'देव' के पक्ष में सामने आए। इनकी लाला जी से खूब चली। मिश्र जी में सहृदयता और सरसता का दर्शन कर मुझे बड़ा सुख मिलता था। यद्यपि लाला जी मेरे गुरु थे किंतु मुझे सदा यही अनुभव हुआ कि आलोचनाशास्त्र की दृष्टि से मिश्र जी ऊंचे हैं। सच पूछें तो वह इस क्षेत्र में पद्मसिंह जी से भी ऊंचे थे और हिंदी में गंभीर तुलनात्मक आलोचना की नींव उन्होंने डाली—हां, पद्मसिंह जी की चुहचुहाती-नमक, मिर्च लगी और फब्तियां कसने वाली भाषा उनके पास नहीं थी।

बाद में जब वह प्रेमचन्द जी के साथ 'माधुरी' के संपादक हो गए थे तब भी, माधुरी का एक नियमित लेखक होने के कारण, बहुधा उनसे मिलने और बातचीत का सौभाग्य मिलता रहता था। जब 'देव' की घनाक्षरियां सुनाते तो रसविभोर हो उठते थे। आज की संतति में तर्क और विवेचना है, बहाव है परंतु वह रसार्द्रता नहीं है।

मिश्र जी का ग्रंथ 'देव और बिहारी' उस काल की आलोचना का मानदंड स्थिर करता है। उनके द्वारा संपादित 'मतिराम ग्रंथावली' को भी अच्छा यश प्राप्त हुआ।

मुकुन्दीलाल जी

मुकुन्दीलाल जी से उन दिनों बहुत कम संपर्क हुआ। वह गंभीर और चुपचाप काम करने वाले व्यक्तियों में थे, बड़े 'रिजर्व' टाइप, और अब भी हैं। मुझे सदा ऐसा लगा है कि वह अंदर से कुछ खीझ से भरे हुए हैं। और उनमें ग्रहणशीलता और उत्फुल्लता की कमी है। 1957 से 62 तक लगभग पांच वर्ष हम लोग साथ-साथ काम करते रहे; साथ आते जाते, उठते-बैठते रहे परंतु मुझे लगा कि उनका हृदय-द्वार इस प्रकार बंद है कि उसका खोलना मुश्किल है।

इनका शब्दज्ञान काफी विस्तृत है और ज्ञानमंडल से प्रकाशित कोश इनके अध्यवसाय का एक उदाहरण है। ज्ञानमंडल प्रकाशन विभाग के बाद वह 'आज' और 'संसार' में भी रहे। अनेक व्यावहारिक प्रश्नों एवं सामाजिक प्रसंगों पर लिखे उनके लघु निबंध मनोवैज्ञानिक स्पर्श एवं जीवन की गहरी पकड़ के द्योतक हैं। कुछ समय तक काशी विद्यापीठ में अध्यापक के रूप में भी रह चुके हैं और विद्यापीठ के साथ अब भी उनका कुछ न कुछ संबंध बना ही है। लगभग सात वर्ष तक उत्तर प्रदेश सरकार की हिंदी समिति, लखनऊ में संपादक रहने के बाद वह पुनः काशी लौट गए हैं और नागरी प्रचारिणी सभा में संपादन संबंधी काम अब भी कर रहे हैं।

मुकुन्दीलाल जी वैसे तो मध्यप्रदेश के निवासी थे। जबलपुर में इनकी जमीन-जायदाद भी थी परंतु युवावस्था में काशी जी आए तो काशी के ही हो गए और आज तो जब मैं वहां जन्म लेकर भी इधर-उधर भटक रहा हूं, वह बाहर से आकर भी काशी के स्थायी निवासी हो गए हैं और वृद्धावस्था में भी कुछ न कुछ हिंदी की सेवा किए जा रहे हैं।

सम्पूर्णानन्द जी

सम्पूर्णानन्द जी को सन् 1921 के आंदोलन में पहली बार देखा। उस समय हम एक ही जेल के कैदी थे। बाद में ज्ञानमंडल एवं विद्यापीठ में भी देखा। उनके बड़े लड़के स्व० सच्चिदानन्द प्रायः मेरे पास आया करते थे और मुझ पर बड़ी श्रद्धा रखते थे। सच्चिदानन्द बड़े होनहार बालक थे और सम्पूर्णानन्द जी के कुटुंब में शायद सबसे सुदर्शन लड़के थे किंतु असमय में ही उनकी मृत्यु हो गई। उस समय सम्पूर्णानन्द जी काशी नगरपालिका की शिक्षा समिति के सभापति थे; वह सच्चिदानन्द को बहुत प्यार करते थे और यद्यपि ऊपर से वह अपने नियमित कर्त्तव्यों का पालन बराबर करते रहे किंतु अंदर से उनको बहुत गहरा झटका लगा था और बहुत दिनों तक इसका प्रभाव उनके शरीर एवं मस्तिष्क पर भी पड़ा था।

सच्चिदानन्द के द्वारा ही सम्पूर्णानन्द जी के सबसे छोटे भाई श्री परिपूर्णानन्द जी से परिचय हुआ जो काफी घनिष्ठ संपर्क में बढ़ गया और वह संबंध आज तक बना है। बाद में मझले भाई अन्नपूर्णानन्द जी से परिचय हुआ; घनिष्ठता हुई। काशी से हम लोगों ने जो 'भूत' निकाला था उसमें उन्होंने बड़ा सहयोग दिया था। निखट्टू के नाम से वह लिखा करते थे। व्यंग्य के वह अच्छे लेखक थे। जीवन के मध्यकाल में ज्ञानमंडल तथा उसके स्वामी शिवप्रसाद जी से उनका बड़ा घनिष्ठ संबंध हुआ; उन्होंने काफी उन्नति की। ज्योतिष का उन्हें अच्छा अभ्यास हो गया था किंतु उनका उत्तर जीवन व्याधि, कष्ट, अभावों की एक ऐसी करुण कहानी है जिसका न कहा जाना ही अच्छा है। लंबे कष्टमय उत्तर जीवन के बाद उनका शरीरांत हुआ। इन तीनों ही भाइयों से हिंदी ने कुछ न कुछ पाया है। परिपूर्णानन्द जी अपराध विज्ञान के एक अच्छे अध्येता हैं और उन्होंने कई मूल्यवान ग्रंथ ('प्राणदण्ड', 'पाप की परिभाषा') हिंदी को दिए हैं।

जैसा मैंने सम्पूर्णानन्द जी के बारे में कभी लिखा था : आज भी मुझे उनके अंदर एक साथ अनेक व्यक्तित्वों के दर्शन होते हैं। लंबे बाल, चौड़ा माथा, उस पर एक बड़ी बिंदी (जिसे पुरुषों के साथ टीका कहने का रिवाज है), मस्तीभरी बनारसी चाल और इन सबके बीच कुछ खोजती हुई आंखें,

स्थूलता की ओर झुकता जाने वाला शरीर—मानो असंग्रह में भी संग्रह की वृत्ति, क्षण-क्षण सिर को हल्का झटका देने वाले, अस्वीकृति एवं नेति नेति की एक निरंतर अभिव्यक्ति, यह हैं, कई विरोधी बातों के सम्मिश्रण से सम्पूर्णानन्द जी ।

जीवन में जितने आदमियों को मैं जानता हूं—और उनकी संख्या कुछ ऐसी कम भी नहीं है—उनमें कदाचित् सम्पूर्णानन्द जी सबसे अधिक जटिल व्यक्तित्व के उदाहरण हैं। कम से कम मुझे वह सदा ऐसे ही लगे । उनके जीवन में दार्शनिक की खोज, संदेहवादी एवं संशयात्मा का प्रश्नचिह्न, भक्त एवं सेवक का आत्मनिवेदन, विद्रोही की हुंकार और राजनीतिज्ञ का समझौता है । एक स्काच की भांति वह अनेक एवं बहुरूपी व्यक्तित्वों के व्यवित हैं । एक स्वतंत्र चिंतक होकर भी वाद विशेष में आसक्त, भारतीय योग एवं अध्यात्म के गंभीर समर्थक होकर भी समाजवादी दल के जन्मदाता, दलबंदी में प्रकृत्या असमर्थ फिर भी दलयुक्त, अध्यापन एवं साहित्यचिंतन का जीवन अपनाने की घोषणा करके भी राज्यपाल पद ग्रहण, बदरी केदार की भूमि में बसने की बातें करके भी राजस्थान के पेरिस वा विलासभूमि जयपुर का निवास, इन परस्पर विरोधी बातों एवं तत्त्वों को इसी प्रकाश में समझा जा सकता है ।

उन्होंने जेल में भी और जेल के बाहर सार्वजनिक जीवन में भी हमारा ध्यान खींचा । 1920 के पूर्व भी मैं उनकी रचनाओं से परिचित था । सरकारी नौकरी में रहते हुए भी वह 'अखिल' के नाम से प्रायः लिखा करते थे । 'प्रभा', 'प्रताप' इत्यादि में उनकी अनेक रचनाएं प्रकाशित हुई थीं । आज वह नहीं हैं किंतु जीवन के उत्तरकाल में भी देखा है कि कभी-कभी मौज में आ गए तो कविताएं लिखीं, समस्यापूर्ति कर दी, गजल कह दी । पुराने दिनों में भी लिखते थे । उनकी उन दिनों लिखी एक पंक्ति मैं बरसों तक, उसमें व्यक्त प्रगाढ़ आत्मार्पण की भावना के कारण, गुनगुनाता रहा हूं :

'मैं सेवा करता जाऊंगा तुम अंगीकार करो न करो ।'

जरा बदले हुए रूप में यही सूत्र उनके सार्वजनिक जीवन में भी अनुस्यूत रहा है । जो भी हो उस पुराने जमाने में, जिसे राजनीति में असहयोग और सत्याग्रह युग व गांधीयुग तथा साहित्य में छायावाद युग कहा जाता है, सम्पूर्णानन्द जी ऐसे अनेक सार्वजनिक कार्यों में फंस गए कि उनका साहित्यकार दब गया । इस बात को लेकर उनके पुराने मित्र चौबे बनारसीदास बहुत खीझते थे और उन्होंने 'साबरमती या शान्तिनिकेतन' नाम से अपने उद्‌गार लेख रूप में भी व्यक्त किए थे (यद्यपि उत्तर जीवन में उन्होंने खुद शान्तिनिकेतन का मार्ग छोड़ नई दिल्ली की तीर्थयात्रा करने में कृतार्थता अनुभव की) । सम्पूर्णानन्द जी का साहित्यिक व्यक्तित्व बीच में दब गया था, परंतु चिंतक एवं विवेचक

का मंथन उनमें चलता ही रहा और बाद का जीवन उनकी गंभीर रचनाओं के रूप में प्रकट हुआ। फिर भी इस स्वतंत्र देश के सांस्कृतिक निर्माण के अवसर पर उनका राजनीति में फंस जाना हमारे साहित्यिक वैभव के लिए कुछ विशेष वांछनीय नहीं, मूलतः वह चिंतक एवं विवेचक ही थे प्रशासक नहीं। अब भी हमारे देश में बहुत ही कम लोग हैं जो साहित्य के सनातन मूल्यों एवं मानव हृदय पर उसकी गहरी छाप को समझते हैं, अन्यथा ज्ञानदाता, पथ-प्रदर्शक ऋषि, प्रधान होता, राजनीतिज्ञ, राजपुरुष नहीं।

सम्पूर्णानन्द जी की एक और विशेषता यह है कि जिन मूलभूत बातों को वह ग्रहण करते थे अथवा जिन सिद्धांतों को ठीक समझते थे उनके बारे में बड़े से बड़े आदमी के सामने भी साफ वैसा कहने का साहस रखते थे। कितने ही सार्वजनिक मामलों में गांधी जी और जवाहरलाल से उनका स्पष्ट मतभेद था और उसे वह छिपाते न थे। हिंदी, भारतीय संस्कृति, ज्यौतिष इत्यादि के मामले में कई बार जवाहरलाल जी से उन्होंने कहा होगा, 'पंडित जी, आप इन बातों को समझते नहीं पर राय दे देते हैं।' या 'हर विषय पर वक्तव्य देने का आपको रोग है, चाहे उसकी प्रकृति को समझते हो या नहीं।' हमारे देश की राजनीति की बहुत बड़ी दुर्बलता है जो राष्ट्रीय क्षेत्र में इतनी सफलता पाकर भी सम्पूर्णानन्द जी भारत के शिक्षा मंत्री नहीं हो सके और उन्हें एक राज्य का राज्यपाल बनाकर समाप्त कर दिया गया।

श्री प्रकाश जी

श्री प्रकाश जी मेरे जमाने में आज और ज्ञानमंडल के प्रबंध संचालक की भांति थे। अपने प्रारंभिक जीवन में मुझ पर उनका कुछ अच्छा प्रभाव नहीं पड़ा था। ज्ञानमंडल के दृष्टिकोण का उन पर असर था, जो गर्मखून अपनी नाड़ियों में लेकर चलने वाले एक युवक को क्यों पसंद आता? 1921 के आंदोलन में कृपलानी जी और उनके सहयोगियों के कारण काशी की इज्जत रह गई थी; श्री प्रकाश जी इत्यादि ने उस समय बड़ा ही हिचकिचाहट भरा रुख ग्रहण किया था। 'आज' के मामले में भी उनका रवैया कई अवसरों पर मुझे अच्छा नहीं लगा।

श्री प्रकाश जी का पत्रकार के रूप में अनेक अंग्रेजी हिंदी पत्रों से संबंध रहा है। उत्तर जीवन में भारत की राजनीति में भी उनकी महत्त्वपूर्ण देन रही है। जवाहरलाल जी का उन पर विश्वास था। वह आसाम, मद्रास, बंबई के राज्यपाल रहे; भारत के मंत्रिमंडल में रहे, पाकिस्तान में भारत के हाई कमिश्नर रहे। शायद ही एक आदमी ने इतने उच्च पदों का निर्वाह किया

होगा । यद्यपि इन विविध पदों पर कार्य करते समय उन्होंने विशेष प्रतिभा का परिचय नहीं दिया किंतु सर्वत्र मानवोचित मूल्यों को आगे बढ़ाने; भ्रातृत्व एवं प्रेम का वातावरण पैदा करने का यत्न उन्होंने किया और सफलता भी पाई । वह स्वभाव से ही कुशल शासक, राजनीतिज्ञ या आंदोलनकारी नहीं थे । परंतु जहां संबंध बिगड़ रहे हों तो वहां संबंधों को सुधारने और मानव हृदय की गहराई में छिपी प्रेरणाओं को जाग्रत् करने में उनका कोई भी जोड़ नहीं ।

जीवन में जितने भी निजी संबंधों का निर्वाह करने वालों को मैंने देखा है उनमें श्री प्रकाश जी अन्यतम हैं । उनमें संस्कृति की लोच है; सहज शालीनता है । लेखक दृष्टि से उन्होंने इन वर्षों में हिंदी को बहुत कम दिया है : अंग्रेजी में संस्मरण, लेख आदि लिखते रहते हैं । जब वह 'अर्थ' के एक संपादक थे तब उनके अनेक गंभीर लेख हिंदी में देखने का मौका मिलता था । आर्थिक विषयों का, उस पुराने युग में, वह सुसंपादित पत्र था । घरेलू विषयों के भा वह एक अच्छे लेखक हैं । उनकी भाषा में एक अद्भुत सरलता और प्रसाद गुण है । शैली में जो निगूढ़ व्यंग्य है उसने, यदि वह लिखते तो, हिंदी को एक विशिष्टता प्रदान की होती । भाग्य ने उनके साथ बड़ा निष्ठुर व्यंग्य किया है, एक पर एक उन पर क्रूर आघात हुए हैं जिनके परिणाम स्वरूप वह एकाकी, एकांतप्रिय और सामाजिक जीवन से दूर होते गए । किंतु यह उनकी एक बहुत बड़ी विशेषता थी कि अनेक दुर्घटनाओं के बीच उन्होंने अपना सौजन्य और सन्तुलन अंत तक कायम रखा ।

आगा हश्र कश्मीरी

1922 या 23 ई० में प्रसिद्ध नाटक लेखक श्री आग़ा हश्र कश्मीरी से मेरा परिचय वाराणसी में ही हुआ । एक अध्यापक थे हरिशंकर उपाध्याय । उन्हें सतही वार्ता प्रधान ड्रामे लिखने की हाबी थी । उन्हें दिखलाने वह कभी-कभी आगा साहब के पास जाते थे । उन्हीं से आगा साहब ने कभी कहा होगा कि कोई हिंदी 'पंडत' मिले तो मेरे पास भेजो; मैं उससे कुछ काम लूंगा ।' उन्होंने ले जा कर मुझे भिड़ा दिया । मैं नवयुवक था; दिमाग में एक सुरूर और आंखों में नशा था । बरबस कविता सूझती थी । मैं उनके यहां आने जाने लगा । उन दिनों वह कलकत्ता की कोरिथियन थियेट्रिकल कंपनी तथा अलफ्रेड से संबंधित थे, परंतु बीच-बीच में काशी आकर रहते थे । रहने वाले भी काशी के ही थे । उस जमाने में उनके नाटकों की धूम थी । उनके नाटक 'आंख का नशा' ने कलकत्ता के स्टेज का रिकार्ड तोड़ दिया था । यह नाटक मराठी के 'एकच प्याला' की तरह मद्यपान पर गहरा पर कलात्मक

आघात था। नाटककार खुद बला का मद्यप था और जो कुछ उसने लिखा वह सब अनुभूत सत्य था। कितने ही लोग नाटक की इन लाइनों से प्रभावित हुए थे और उन्हें दोहराते फिरते थे :

गिलासों में जो डूबे फिर न उभरे जिंदगानी में,
हजारों बह गये इन बोतलों के बंद पानी में।

यह मुंह लगी खुद उनके ऐसी मुंह लगी कि उन्हीं को खा गई। 'रिंद बलानोश, थे। बोतल का मुंह तोड़ खालिस गले के नीचे उतार जाते थे। इसी नशे की हालत में स्टेज की प्रसिद्ध नर्त्तकी और अभिनेत्री मिस शरीफा के पीछे-पीछे स्टेज पर जाकर दो एक बार अवाञ्छनीय बातें भी कर डाली थीं परंतु यों वह सभ्यता और शराफत के पुतले थे। अक्खड़ स्वभाव होने के कारण बने हुए लोगों से उनकी बनती न थी। दस-पांच गालियां सुनाकर ऐसे लोगों से बात करते थे। कोई गलत शेर पढ़ता या गलत ऐक्टिंग करता तो गालियां ही नहीं सुनाते, दो-चार हाथ भी रसीद कर देते थे। सुरा-सुंदरी के चक्कर में प्रायः सारी जिंदगी पड़े रहे। समझाने पर पछताते पर यह शेर पढ़ देते :

कोई लज्जत नहीं है, फिर भी दुनिया जान देती है,
खुदावन्द, इस मुहब्बत में मजा होता तो क्या होता ?

अभिनय के समय गलती करने पर किसी को क्षमा न कर पाते थे। कभी-कभी तो रिहर्सल में अभिनेता को, गलती करने पर, चांटे मारकर निकाल देते थे। अभिनेत्रियां उनकी भौवों पर बल पड़ते ही कांप उठती थीं; कम से कम घबड़ा तो अवश्य जाती थीं। कलकत्ता की बात है। एक नाटक के रिहर्सल के समय एक अभिनेत्री (शायद मिस शरीफा) घबराकर पसीने-पसीने हो रही थी। बार-बार हाथों से माथे का पसीना पोंछती थी। उस दिन आगा साहब खुश थे; 'मूड' में थे। बोल उठे :

अबरू न संवारा करो कट जायगी उंगली,
नादान हो ! तलवार से खेला नहीं करते।

आगा मुहम्मद शाह 'हश्र' का जन्म काशी में ऐन एप्रिल फूल के दिन हुआ था : यानी 1 अप्रेल, 1979 ई० को। इनके पिता आगा गनीशाह 1868 ई० के लगभग कश्मीर से आकर वाराणसी में बस गये थे और तूस तथा शाल इत्यादि का व्यवसाय करने लगे थे। मौलवी थे और बेटे को भी मौलवी बनाने के खयाल से वैसी ही शिक्षा-दीक्षा देना चाहते थे। उर्दू-फारसी घर पर पढ़ाई गई; कुछ दिनों तक जयनारायण स्कूल में भी शिक्षा प्राप्त हुई। इन्हीं दिनों बंबई की जुबिली नाटक कंपनी काशी आई; किसी तरह अवसर निकाल कर दो-एक नाटक देखे। बस, उनकी अनुकृति पर खुद नाटक लिखना शुरू कर

दिया। स्कूली साथियों का एक गुट तैयार हो गया। छुट्टी के समय ये लोग जयनारायण स्कूल के पास वाले कब्रिस्तान में चले जाते और पर्दा टांग कर अभिनय का अभ्यास करते। 19 साल की उम्र में इनका पहला नाटक आफताबे मुहब्बत' (प्रेम-रवि) लिखा गया था। गायघाट (बनारस) में जो नमक सुलेमानी प्रेस था, उसके स्वामी श्री भार्गव ने उसको सिर्फ दस रुपये में खरीदा था। उस जमाने में नये लेख के लिए यही रकम न्यामत थी। धीरे-धीरे इस क्षेत्र में इनकी रुचि बढ़ती गई और 1901 ई० में यह इसी नशे को लेकर बंबई भाग गए। वहां पारसी अलफ्रेड के स्वामी कावस जी से मिले और नाटक लिखने की नौकरी चाही। उन्होंने कुछ शेर सुनाने को कहा। शेर सुनकर कावस जी खुश हुए और इन्हें रख लिया। अलफ्रेड ने इनके कई नाटक (मुरीदे शक, मीठी छुरी आदि) खेले 1905 ई० में इन्होंने 'शेरिडन के पिजारों' के आधार पर 'मीठी छुरी' नाटक लिखा था, जो दिल्ली दरबार के अवसर पर दिल्ली में खेला गया था। बाद में उन्होंने आधार लेकर 'सुफेद खून' (किंग लियर), 'सैदे हविस' (रिचर्ड थर्ड) लिखे। 1910 से 1916 के बीच उन्होंने 'ख्वाबे हस्ती' (जीवन-स्वप्न), 'खूबसूरत बला,' 'यहूदी की लड़की', 'सूरदास', 'शामे जवानी' इत्यादि नाटक लिखे। 1917 ई० में कलकत्ता में मैडन थियेटर की स्थापना हुई थी। कुछ समय बाद आगा हश्र वहां चले गए और भारत-मणि, मधुर मुरली, श्रवणकुमार इत्यादि कई नाटक लिखे जो इस कंपनी द्वारा अभिनीत हुए। इनके नाटकों की धूम मच गई, कलकत्ता वालों पर जादू-सा फिर गया। छोटे-बड़े सभी इन्हें देखने को लालायित रहते थे। न केवल नाटक लिखते थे बल्कि खुद उनका निर्देशन भी करते थे और अभिनय में जरा भी गड़बड़ी होने पर तड़ियां देते थे। 1932 में जब छायाचित्रों का युग आया तब न्यू थियेटर्स के लिए इन्होंने कई पट कथाएं लिखीं। 'चंडीदास' उनमें सर्वश्रेष्ठ थी।

उन्होंने हिंदी पढ़ी न थी; नागरी लिपि में लिखने की आदत नहीं थी; उर्दू (फारसी) लिपि में लिखते थे, पर क्या भाषा थी! शब्दों के वह बादशाह थे और कल्पनाएं बांदी की तरह उनके सामने हाथ बांधे खड़ी रहती थीं। स्टेज के उनके जो नाटक थे वे तो थे ही, परंतु उन्होंने कंपनी से अलग होने के बाद जो लिखे थे, वे हिंदी में छप नहीं सके। नारी प्रकृति के निगूढ़ कक्ष उनके स्पर्श से उद्घाटित हो उठते थे। उर्दू जगत् में तो वह अफवाह की भांति प्रसिद्ध थे और खुद उनके विषय में न जाने कितने प्रकार की अफवाहें प्रचलित थीं। कहीं सुनाई पड़ता कि आगा साहब शराब से सरशार होकर दो मुंशियों लेखकों को साथ-साथ ट्रेजेडी और कामेडी लिखवाते हैं, कहीं सुनाई पड़ता कि किसी करोड़पति सेठ को उन्होंने गाली देकर निकल जाने को कहा परंतु वह यही

कहता रहा कि 'हुजूर मैं तो आपका एक अदना खादिम हूं।' उर्दू में वह 'इंडियन शेक्सपीयर' के नाम से मशहूर थे किंतु मुझे दुःख है कि हिंदी में उनके बाद के हिंदी नाटक प्रकाशित ही नहीं हुए, न हिंदी वालों ने उन्हें अपनाया। यदि अपनाया होता तो प्रेमचन्द की भांति एक दूसरा शक्तिमान् लेखक उर्दू से हिंदी को मिला होता। थोड़े ही दिनों के परिचय के बाद वह मुझे बेहद मानने लगे थे। बड़े-बड़े राजाओं, नवाबों की पर्वाह न करते थे परंतु मुझे देखते ही उठ खड़े होते थे और सबको हटाकर अपनी रचनाएं सुनाते। औरों से कह देते : 'अब स्टेज की नौटंकी खत्म हुई; आप लोग तशरीफ ले जाइए; अब दिलसोजी और आत्मार्पण का बाब खुलता है, जो हमारे और सुमन साहब जैसे लोगों के लिए है।'

लोगों को बुरा भी लगता। मैं उनसे उम्र में बहुत छोटा था। फिर भी एकाध बार हिम्मत करके कहा : 'आप ऐसा क्यों करते हैं ?' उत्तर मिला : 'दिन भर तो घेरे रहते हैं। बस यही सुनता रहता हूं : आपने कलम तोड़ दी, और आपने कमाल किया है पर दिल की वह पकड़, वह सन्नाटा जिसमें दिल दिल से बोलते हैं; इनके पास कहां ? वह किसी हिंदी शायर ने कहा है न···क्या है वह—असमझ···। मैं बोल उठता—'असमझवार सराहिबो समझवार को मौन।' हां, हां, बस वही सुमन साहब।'

जब हम बैठते। बहुतेरी बातें होतीं। वह मेरे विचारों से परिचित थे और बड़ा खयाल रखते थे कि निम्नस्तर का कोई हंसी-मजाक या अश्लील बात मेरे सामने न होने पावे। हम लोगों में काव्य चर्चा होती, मनोभावों के जगत् में हम प्रवेश करते, धर्म और अध्यात्म की गहराइयों को हम अपनी बुद्धि से नापते। बहुत कम लोग जानते हैं कि उनकी मां हिंदू थीं। उनको हिंदू जीवन दृष्टि की गहराई विरासत में मिली थी और इसका उनको गर्व था। एक दिन बोले : 'भाई, सिर्फ पुनर्जन्म की बात मेरी समझ में नहीं आती, बाकी मैं दिल से हिंदू ही हूं।'

उन दिनों मेरा उत्तरप्रदेश के हड़कंपी नेता पं० कमलापति त्रिपाठी के घर काफी आना-जाना था। सर्व श्री कमलापति, कैलासपति (अब स्वर्गीय), कोसलपति (अब डाक्टर), करुणापति (प्रोफेसर) से तो हमारी पटती थी ही, पिता जी नारायणपति जी (अब स्वर्गीय) और बड़े भैया काशीपति जी (स्वर्गीय) का सहज स्नेह मुझे प्राप्त था। यों आगा साहब बड़े मानी आदमी थे और बड़ों-बड़ों को ठेंग पर मारते थे। किसी के यहां जाना उनके लिए बड़ा मुश्किल था, फिर बे बुलाए ! नामुमकिन बात थी। परंतु एक दिन जरा मूड में थे, तबीयत खुश थी। मैंने आग्रह किया तो मेरे साथ टहलते-टहलते शाम को त्रिपाठी जी के घर औरंगाबाद पहुंच गये। पिता जी तो चौक चले गए थे

(उनका नित्य नियम था कि शाम को चौक जाकर वहां वेंकटेश्वर प्रेस की दुकान में बैठते थे), बड़े भैया काशीपति जी मौजूद थे। बड़ा अच्छा और तैयार शरीर था उनका। दोनों में खूब छनी, खूब बातें हुई भैया बड़े प्रभावित हुए। लौटते समय आगा साहब ने भी कहा : 'ऐसे घर पर नहीं जियारत-गाह हैं।'

आगा हश्र ने लगभग 45 नाटक लिखे। उनके नाटकों में 'आंख का नशा', 'श्रवणकुमार', 'सीता-वनबास', 'पहला प्यार', 'हिन्दुस्तान', 'यहूदी की लड़की' तथा 'भीष्म-प्रतिज्ञा' बहुत प्रसिद्ध हैं। 'सीता-वनवास' भाषा, भाव तथा अभिनय कला सभी दृष्टियों से प्रौढ़ है। इसमें नारी का गौरव आत्मार्पण दोनों का अद्भुत संयोग हुआ है। संपूर्ण नाटक करुणा से ओतप्रोत है और भवभूति के उत्तररामचरितम् की याद दिलाता है। अपने जमाने में उर्दू, हिंदी, और बंगला तीनों स्टेज पर उन्होंने जो सफलता पाई और जो नाम कमाया, वह किसी दूसरे के भाग्य में नहीं

आगा हश्र जितने नाटककार थे, वैसे ही अच्छे कवि भी थे। प्रथम विश्वयुद्ध के समय इकबाल ने एक लंबी कविता लिखी थी : 'शिकवा' नाम था। उसके उत्तर में अनेक उर्दू कवियों ने कविताएं लिखीं परंतु उनमें सर्वश्रेष्ठ थी आगा साहब की। बाद की बात है कि रमजान के दिन थे। मैं पहुंच गया। बातों-बातों में शाम हो गई। कई बुजुर्ग बैठे थे। उनमें से किसी ने कहा : 'आगा साहब ! नमाज का वक्त हो गया है।'

आगा साहब बोले : 'किबला ! तशरीफ ले जाइए। बंदा तो अब उठने से रहा।' और तुरंत यह शेर बनाकर पढ़ दिया :

सब कुछ खुदा से मांग लिया, तुझको मांग कर,
उठते नहीं हैं हाथ मेरे, इस दुआ के बाद।

क्या फिकरा था, क्या शेर था ! मुझ पर तो नशा चढ़ गया। मैंने कहा : 'मान गया भाई ! क्या चिपकाया है इन नमाजियों को !'

एक बार गया तो देखता क्या हूं कि सिर में एक रूमाल लपेटे, बेचैनी के साथ, इधर से उधर दरवाजे के सामने टहल रहे हैं और कुछ गुनगुनाते जाते हैं। मैंने सिर की तरफ इशारा किया, और पूछा : 'यह कफनी ?'

मेरे सवाल पर तबीयत हाजिर हो गई। झट शेर में जवाब दिया :

जब से सुना है, मरने का नाम जिंदगी है,
सिर से कफन लपेटे कातिल को ढूंढ़ते हैं।

जहां तक नाटक संबंधी उनकी प्रतिभा का सवाल है, जब जोम पर होते, दो-दो मुंशियों को एक साथ दो अलग-अलग नाटक बोलकर लिखाते थे।

उनके बारे में यह कहा जाता है कि बिना भोंडी गालियों के बात नहीं करते थे। बहुत लोगों ने इसकी शिकायत की है। लोगों ने देखा है, सुना है, परंतु मैंने अपने सामने उनको ऐसा कभी नहीं पाया। मैं उनसे काफी छोटा था परंतु न जाने क्यों, मेरी बहुत इज्जत करते थे। मेरे सामने जबान पर बड़ा काबू रखते थे।

अपने जीवन के उत्तरकाल में वह फिल्मी दुनिया की ओर आकर्षित हुए। नाटक कंपनियों का जमाना तेजी के साथ बीता जा रहा था और छिटफुट अभिनेताओं और नाटक मंडलियों के गठन के बावजूद, सामूहिक मनोरंजन के साधन के रूप में फिल्में तेजी से फैलती जा रही थीं। 1934 ई० में वह लाहौर गए। बनारस और लाहौर उनके लगाव के दो केंद्र थे। यहां यह बता देना मुनासिब होगा कि उनकी पत्नी लाहौर की ही थीं। यद्यपि आगा साहब परहेजगार नहीं थे और सुरा-सुन्दरी के गहरे मुरीद थे किंतु अपनी पत्नी को चाहते भी थे। वह बड़ी नेक महिला थीं। अपने मायके में ही मरीं। आगा साहब ने वहीं अपने मित्रों विशेषतः हकीम फकीर मुहम्मद चिश्ती के सहयोग से हश्र पिक्चर्स का संगठन किया। इसके तत्त्वावधान में 'भीष्म-प्रतिज्ञा' की शूटिंग शुरू हुई परंतु 25 अप्रैल, 1935 को उनकी तबीयत बहुत खराब हो गई और देहांत हो गया। कुछ दिन पहले अस्पताल में बिस्तर पर पड़े हुए भी उन्होंने यही कहा था : 'एक नाटक बाहर मैदान में चल रहा है, दूसरा अस्पताल में। देखिए, क्या होता है ?'

यौवन काल में सुरा और सुंदरी उनकी दो कमजोरियां थी। सुंदरी की बात तो यों थी कि जो श्रेष्ठ नर्त्तकियां या गायिकाएं नाटकीय अभिनय के सिलसिले में इनके संपर्क में आई, इनसे बच नहीं पाई। लाहौर जब लौटे तो मुख्तार इनके जीवन में आई। अच्छी गायिका थी; अभिनय भी अच्छा कर लेती थी पर थी एक नंबर की बदसूरत। किसी ने कहा है कि बुढ़ापे का इश्क बड़ा कातिल होता है। घर में पत्नी भी न थी जो नियंत्रण रख सकती। आगा साहब उसकी बोल-चाल और संगीत पर फिदा हुए। फिर उस पर इस तरह रीझ उठे कि बस उसी के होकर रह गए। सारी जिंदगी शराब पी थी और खूब पी थी; अब उसके कहने से एकदम से छोड़ दी, कसम खा ली। उसका पूरी तरह छोड़ना ही उनके लिए काल हो गया। डाक्टरों ने बहुत समझाया, दोस्तों ने कहा, खुम के खुम न सही, चुल्लू भर तो पी लिया करो। उन्होंने कहा : 'मेरी जबान एक है, जो कौल कर लिया, कर लिया।' उर्दू के मशहूर गजलगो 'जिगर' मुरादाबादी के साथ भी ऐसा ही गुजरा। आगा साहब की अंतिम इच्छा के अनुसार, पत्नी की मजार के पास ही उन्हें दफन किया गया। एक ही पुत्र पैदा हुआ था—नादिरशाह, जो बहुत पहले लखनऊ में मर चुका था।

आगा साहब में गहराई थी, वह गहराई जो दिल के पर्दे में अपने को खोजती है। उनमें एक ऐसी रसार्द्रता थी, जो आज भी भुलाए नहीं भूलती। इस सूने दयार में चलते हुए उनकी बड़ी याद आती है। कैसे-कैसे सहृदय मित्र चले गए कि जब भी खयाल आता है, एक हूक-सी उठती है। उनके अंतिम दिनों में मैं उनसे बहुत दूर विदर्भ के अकोला नगर में था; 'नवराजस्थान' नामक सचित्र साप्ताहिक के संपादन कार्य में उलझा हुआ। पर चले गए तब मुझे खबर हुई। बनारस के बाद फिर मैं उन्हें देख न सका।

वह सदा शान के साथ जिए और शान के साथ मरे। थियेटर कंपनियों के मालिकों से वह मुंह मांगा पैसा लेते थे। उनकी जेबों में या लूंगी की टेंट में नोटों की गड्डियां भरी रहती थीं और वह उन्हें रद्दी के टुकड़ों की तरह फेंकते रहते थे। मालिकों की जी हुजूरी तो दूर, उल्टे उन्हें ही नौकरों की तरह दुतकारते रहते थे।

उनके छोटे भाई आगा महमूद कहीं सुंदर और सुदर्शन थे। वह अपने-जमाने के बड़े अच्छे अभिनेता थे। उनका एक छोटा पुत्र (जो उस समय 9-10 का रहा होगा) बड़ा होनहार था और बड़ी प्यारी सूरत थी उसकी। आगा हश्र साहब का पैगाम लेकर वह कभी-कभी मेरे यहां आता था। क्या बोली थी उसकी। बोलने-चालने का सलीका तो खानदानी मुसलमानों में ही पाया। पता नहीं अब वे लोग कहां हैं?

जगन्नाथदास 'रत्नाकर'

हश्र की याद के साथ वैसे ही भारी-भरकम शरीर वाले रत्नाकर जी की याद आ रही है। 'रत्नाकर' जी ब्रजभाषा के रससिद्ध महाकवि थे, पुरातन ब्रज-संस्कृति में आकंठ डूबे हुए। ब्रजभाषा के महाकवि एवं कट्टर पक्षपाती होते हुए भी ऐसे उदार कि क्या कहें। 'प्रसाद' जी को बहुत मानते थे और कभी-कभी उनके यहां नारियल बाजार वाली दुकान पर भी आ जाते थे। साहित्यिक द्वंद्वों की कटुता उन्हें छू नहीं गई थी। ऊपर से नीचे तक वह रईसी संस्कृति के मूर्तिमान् रूप थे और अपने पूर्वजों की परंपरा लिये हुए अन्त तक चलते रहे।

इनके पूर्वज पानीपत के रहने वाले थे वहां से वे लोग लखनऊ आए। इनके परदादा सेठ तुलाराम अपार धनराशि के स्वामी थे। लखनऊ के बहुत बड़े रईसों में उनकी गिनती होती थी। एक बार लखनऊ के एक बड़े नवाब ने उनसे तीन करोड़ रुपये उधार लिये थे। एक बार लखनऊ से जहांदार शाह के साथ काशी आए तो फिर यहीं बस गए।

रत्नाकर जी के पिता बा० पुरुषोत्तमदास फारसी के बड़े विद्वान् थे।

उनके यहां फारसी और ब्रजभाषा दोनों भाषाओं के कवियों का जमघट लगा रहता था। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से उनकी खूब पटती थी और भारतेन्दु जी अक्सर उनके यहां आया करते थे। हरिश्चन्द्र स्वभाव से ही विनोदी थे। तरह-तरह के वेश बनाकर आते। एक बार भिक्षुक के छद्मवेश में बड़े सवेरे ही वह (हरिश्चन्द्र) पुरुषोत्तमदास के यहां पहुंचे और बाहर से एक पैसे की गुहार की। लोग पैसा देने जा रहे थे कि किसी ने पहिचान लिया। बड़ी हंसी हुई।

ऐसे पिता के घर और ऐसे वातावरण में, संवत् 1923 (सन् 1866 ई०) की भाद्र शुक्ला पंचमी को काशी में इनका जन्म हुआ था। बचपन से ही इनमें काव्य के प्रति रुझान देखी गई। पहले यह फारसी में लिखते थे। 'जकी' तखल्लुस था और मिर्जा मुहम्मद हसन फायज इनके उस्ताद थे। बाद में ब्रजभाषा के रंग में रंगे तो फिर उसी के हो गए। अंग्रेजी की अच्छी शिक्षा पाई। सन् 1902 ई० में अयोध्या नरेश के प्राईवेट सेक्रेटरी हुए। 1906 ई० में महाराज का देहावसान हो गया। उसके बाद 1921 ई० तक महारानी के प्राईवेट सेक्रेटरी रहे। इस युग में इनकी काव्य-शक्ति में और निखार आ गया।

मुझे सबसे पहले घनानन्द के एक संग्रह से उनका परिचय हुआ था। वे मेरे स्वप्नों के दिन थे और घनानन्द मेरे मानस पर घन जलद-पटल की भांति छा गये थे। खोज करने पर वही पहिला संग्रह मुझे मिला और उस काल में जब घनानन्द की इतनी स्तुति हमारे साहित्य में न थी, 'रत्नाकर' जी ही हिंदी संसार के सम्मुख उसे ले आए और उस समय तक जितना भी काव्य उनका मिल सका, उसका संपादन करके प्रकाशित किया।

फिर 'रत्नाकर' जी का प्रथम काव्य 'हिंडोला' देखने में आया, जो बहुत पहले, संवत् 1951 (सन् 1894 ई०) में प्रकाशित हुआ था। फिर तो 'हरिश्चन्द्र', 'कल-काशी' (जो अन्त तक अधूरा ही रह गया) तथा महारानी अयोध्या की प्रेरणा से लिखा गया 'गंगावतरण' (जिस पर हिंदुस्तानी एकेडमी ने 500 रुपये का पुरस्कार भी दिया) उनकी एक से एक रचनाएं हमारे सामने आईं। परंतु उनकी सबसे प्रौढ़ एवं मर्मस्पर्शी रचना 'उद्धवशतक' ही है। 'उद्धवशतक' के सम्बन्ध में एक घटना उल्लेखनीय है। वह उसके लगभग सौ छंद लिख चुके थे कि पाण्डुलिपि चोरी चली गई। कुछ छंद जो याद थे और कुछ नये लिखकर उन्होंने इसे फिर पूरा किया। 'बिहारी रत्नाकर' उनकी लिखी 'बिहारी सतसई' की हिंदी में सर्वोत्कृष्ट टीका है। 'सूर सागर' का भी, अंशतः उन्होंने संपादन किया था।

'उद्धव शतक' यद्यपि ऐसी कथावस्तु पर खड़ा है जिसे मध्ययुग के अनेक कवियों ने अपनी प्रतिभा से संजोया है और आज तक थोड़ा-बहुत वह क्रम

चलता ही जा रहा है। परंतु ऐसे बहुकथित विषय पर लिख कर भी रत्नाकर ने उसमें अद्भुत चमत्कार उत्पन्न किया। उनके भावों में मौलिकता एवं उक्तियों में नवीनता है। रस में डूबी उनकी शैली सूर का स्मरण दिलाती है। भाषा पर उनका अद्भुत अधिकार और पांडित्य देख विस्मय-विमुग्ध होना पड़ता है। संस्कृत पदावली को अधिकारपूर्वक ब्रजवाणी में गूंथने की उनमें अद्भुत शक्ति थी। काव्य के कलापक्ष तथा संगीतात्मकता के ही कारण स्व० श्यामसुन्दरदास जी ने इनकी तुलना अंग्रेजी के महाकवि टेनीसन से की है।

रत्नाकर जी बीसवीं शताब्दी में भी मध्ययुग के गौरवपूर्ण अवशेष के समान थे। चूड़ीदार पायजामा, अंगरखा, दुपलिया टोपी, आंखों में सुरमा और भीमकाय शरीर, जब वह स्वयं कवित्त पढ़ते तो एक सभा बंध जाता था। यद्यपि वह मध्ययुग के वातावरण में ही निवास करते थे, किंतु उनकी विशेषता यह थी कि जहां पर पं० रामचन्द्र शुक्ल और लाला भगवानदीन आदि में काव्य के शवच्छेदन की वृत्ति भी थी, और इसी कारण वे नवीन युग के कवियों की प्रतिभा को हृदयंगम करने की स्थिति में न थे; वहां 'रत्नाकर' अपनी सहज रसात्मकता एवं कवि भावना के कारण जहां भी रस पाते, ग्रहण करने को प्रस्तुत रहते थे। मेरे परम मित्र स्व० जर्नादन झा 'द्विज' ने उनके संबंध में ठीक ही लिखा है: 'रीतिकाल के श्रेष्ठ कवियों की प्रवृत्तियों के यह परमार्जित प्रतिनिधि हैं किंतु उनकी संकुचित मनोवृत्तियों के पोषक नहीं। इसी तरह छायावाद के तरुण कवियों की सच्ची दिग्ध भावनाओं के समर्थक और उनकी रहस्यमयी कल्पनाओं के घोर विरोधी। युग की सच्ची अनुभूति-मूलक वेदना के प्रति इनके हृदय में श्रद्धा और सहानुभूति है; उसके प्रदर्शन के अनुकृतिजन्य आडंबरों के प्रति घृणा और रोष। यही कारण है कि दोनों वर्ग के कवियों में घुल-मिलकर भी ये अपना साहित्यिक व्यक्तित्व बेजोड़ बनाए हुए हैं। पुरानों के बीच ये नये-से दीखते हैं, नयों के बीच पुराने-से। 'कवित्त' और 'सवैया' बनाते समय ये पद्माकर और मतिराम को मात करते हैं, उन्हें गुनगुनाते समय पंत और निराला को।'

भारतेन्दु ने इनके पिता से इनके बचपन में ही यह भविष्यवाणी की थी: 'यह बालक आगे चलकर हिंदी की शोभा बढ़ाएगा।' वही हुआ, और भारतेन्दु जब तक जिए इन पर उनकी बड़ी कृपा थी। अंतिम युग के ब्रजभाषा-कवियों में निस्संदेह उनका स्थान सर्वोच्च है और श्यामसुन्दरदास जी ने ठीक ही लिखा है: 'अपने कतिपय श्रेष्ठ सहयोगियों और समकालीनों में, जो ब्रज-भाषा-साहित्य का शृंगार कर रहे थे, 'रत्नाकर' की विशिष्ट मर्यादा माननी ही पड़ेगी। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र में अधिक प्रतिभा थी किंतु उन्हें अवसर न

मिला; कविरत्न सत्यनारायण भी ऊंचे भावुक और गायक थे किंतु उनका न तो इतना अध्ययन था और न उनमें इतनी कल-कुशलता थी। श्रीधर पाठक ब्रजभाषा से अधिक खड़ी बोली के ही आचार्य हुए। रत्नाकर को इस क्षेत्र में शीर्ष स्थान देते हुए, आशा है किसी को कुछ असमंजस न होगा।'

आज बहुत कम लोग यह जानते हैं कि 'रत्नाकर' जी सुंदर गद्य लेखक भी थे। यद्यपि उनकी मुख्य देन, हिंदी को, कविरूप में ही है, परंतु एक समय उनके कई लेखों के कारण हिंदी संसार में एक तहलका मच गया था। इसी प्रकार खड़ी बोली से भी उन्हें कोई द्वेष नहीं था। मित्रों के अनुरोध पर उन्होंने खड़ी बोली में भी दो कवित्त लिखे थे जो उन दिनों की खड़ी बोली का एक सैनिक होने के नाते मुझे आज तक याद हैं :

नीरव दिगंगना उमंग रंग प्रांगण में,
जिसके प्रसंग का उमंग-गीत गाती हैं।
अतुल अपार अंधकार विश्वव्यापक में,
जिसकी सुज्योति की छटाएं छहराती हैं।
जिसके अमंद मुखचन्द के विलोके बिना,
पारावार तरल तरंगें उफनाती हैं।
पाने को उसी की बांकी-झांकी मनमंदिर में,
मंद मुसकाती गिरा गुप्त चली आती हैं।

आशा व्योम मंडल अखंड तम मंडित में,
उषा के शुभागम का आगम जनाता है।
उच्च अभिलाषा-कंज-कलिका अधोमुख को,
प्राण फूंक-फूंक मुकुलित दर्शाता है।
भारत प्रताप-भानु उच्च उदयाचल से,
कोहरा कुबुद्धि का चिरास्थित हटाता है।
भावी भव्य सुभग सुखद सुमनावली का,
गंधी गंधवाहक सुगंध लिये आता है।'

आज खड़ी बोली जहां आ गई है उसकी दृष्टि में इन कवित्तों में भी ब्रजभाषापन है, परंतु उस युग की दृष्टि से इसे सफल प्रयोग ही कहेंगे। आज जब वह युग बहुत दूर चला गया है, रत्नाकर जी की बड़ी याद आती है। जब कविगोष्ठियों में कभी ब्रजभाषा की घनाक्षरियां सुनाता हूं तो रत्नाकर जी सामने

आकर खड़े हो जाते हैं और उनका 'कहै रतनाकर···' कानों में ही नहीं हृदय में भी गूंज उठता है। उनकी वह उन्मुक्तता, उनकी सरलता और उदारता, उनकी वह सामंती आनबान, जिसमें पाखंड न था और जो अपनी सज्जनोचित विभा से पूर्ण था, याद आता है तो फिर याद ही आता है :

मुझे जब याद आते हो, तो अक्सर याद आते हो।

8

एक भारतीय आत्मा

छायावाद युग के प्रमुख कवियों एवं साहित्यकारों में माखनलाल जी सबसे वयोवृद्ध थे। वह 'प्रसाद' से तेइस वर्ष, 'निराला' से दस वर्ष और पन्त से तेरह साल बड़े थे। उन्होंने प्रसाद और निराला से कहीं अधिक आयु भी पाई। अपनी राष्ट्रीय प्रवृत्तियों के कारण उनकी ओर मेरा सहज सम्मान था। 'प्रताप' में रचनाएं पढ़ता रहता था। उनकी षट्पदियां मुझे बहुत पसंद थीं और यह उनकी अपनी चीज थी। उन्होंने इनके रूप में एक नई तर्ज, एक नया 'अंदाजे बयां, हिंदी को दिया था। मैं उन पर मुग्ध था। बल्कि उनके अनुकरण पर स्वयं भी कितनी ही रचनाएं की थीं। जब तक मैंने होश संभाला और कुछ समझने तथा लिखने योग्य हुआ, वह हजारों युवकों के मानस क्षितिज पर छा गए थे।

माखनलाल जी का जन्म होशंगाबाद (मध्यप्रदेश) के एक कस्बे बांवई में 4 अप्रैल, 1887 को पं० नंदलाल चतुर्वेदी के घर हुआ था। बहुत दिनों से इनके परिवार के लोग वहां रहते आए थे। आज भी उनका पुश्तैनी मकान वहां सुरक्षित है। इसी गांव में उनकी ससुराल भी है। माखनलाल जी बचपन से ही दुबले-पतले परंतु बड़े नटखट थे। हिंदी या 'भाखा' से इनका प्रेम तभी से था जब यह विद्यार्थी थे और इसके लिए उन्होंने अपने गुरु और संस्कृत के पंडित बलवन्त भट्ट के न जाने कितने सोंटे खाए होंगे। उन दिनों मंदिर में रखा प्रेमसागर चुराकर पढ़ते और उसमें मग्न हो जाते थे।

इनकी शिक्षा ज्यादा नहीं हो सकी किंतु मेधावी थे इसलिए थोड़ी शिक्षा के बाद ही प्राइमरी शाला में अध्यापक हो गए। यों यह तेजस्वी और तेज-तर्रार अध्यापक थे किंतु बच्चों और विद्यार्थियों को प्यार भी खूब करते थे। बच्चों एवं युवकों के प्रति इनमें स्वाभाविक आकर्षण था। जब स्कूल में शिक्षक थे और थोड़ा ही वेतन पाते थे, तब भी जिस दिन वेतन मिलता, घर आते-आते आधा गरीब विद्यार्थियों में बंट जाता था।

शादी छुटपन में ही हो गई थी। पति-पत्नी में गजब का प्यार था। परंतु इनकी उदारता के कारण इन लोगों को मुश्किल से पेट भर भोजन मिलता। पतिप्राण पत्नी बड़ी दिक्कत से काम चलाती; शिकायत भी करती तो इनकी मस्ती पर उनका क्या असर होता। यह उदारता आजीवन रही। किसी को कष्ट में देखते तो स्थिर नहीं रह पाते थे। इनके गले का दुपट्टा न जाने कितनी बार नीछा होगा। बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' 'जिन्हें यह शरारती' दल का सरदार' कहते थे, अवसर ऐसा करते थे और यह भी दुखियों-नंगों को देख अपना दुपट्टा निकालकर दे दिया करते थे। खुद गरीबी में दिन बिताते हुए सूखे चावलों पर गुजर करते हुए भी दूसरों को खिलाने से बाज न आते और दुखियों को कष्ट में देखकर स्थिर नहीं रह पाते थे।

किशोरावस्था में ही प्रिया पत्नी का देहांत हो गया। देह की दूरी स्वप्न बनकर हृदय में समा गई। दूसरों के बहुत आग्रह पर भी दूसरी शादी का स्वप्न में भी विचार नहीं किया। बिछुड़ी पत्नी का आकर्षण और बढ़ गया। इनके रसमय जीवन में उन्हीं की व्यथा, उन्हीं का विछोह, अनेक रूपों में बोलता था। वह कभी उन्हें भूल नहीं पाए। वही बन गई उनकी जीवन-परिधि का केंद्र विंदु। उनके अलावा इनके निर्माण में तुलसीदास के रामचरितमानस का बड़ा हाथ है। उसका इनके जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ा था। इनके सार्वजनिक जीवन को गढ़ने वालों में विष्णुदत्त शुक्ल, माधवराव सप्रे तथा गणेश शंकर विद्यार्थी प्रमुख थे। नेताओं में लोकमान्य, गांधी और सरदार पटेल का इन पर बहुत प्रभाव पड़ा था।

'प्रताप', 'प्रभा' तथा अन्य पत्रों के माध्यम से उनकी रचनाओं का सुधापान तो मैं बहुत पहले से करता आ रहा था। वह कविताएं तो 1908--09 से ही लिखने लगे थे। 1927 ई० के मुजफ्फरपुर सम्मेलन के समय से मैं छायावाद युग के श्रेष्ठ कवियों को एक-दूसरे के निकट लाकर उनका एक संघटन बनाने के काम में लग गया था। प्रसाद, पन्त, निराला, नवीन, महादेवी, दिनकर, मोहनलाल महतो इत्यादि से उसी सिलसिले मे घनिष्ठता हुई थी। स्वभावतः इन सबको निकट लाने और संघटित करने के काम में मैंने 'एक भारतीय आत्मा' का क्रियात्मक आशीर्वाद और सहयोग मांगा था। इसी समय के लगभग मेरे सखा विनयमोहन की आलोचनाएं सहृदय पाठकों और साहित्यकारों का ध्यान आकर्षित करने लगी थीं। बंबई से लौटकर मैं स्व० भाई हरिभाऊ उपाध्याय के साथ मासिक 'त्याग भूमि' का संपादक हो गया था और विनयमोहन माखनलाल जी के पास उनके 'कर्मवीर' में पहुंच गए थे। उनके माध्यम से मेरा चतुर्वेदी जी से परिचय बढ़ चला। मेरे प्रथम पत्र के उत्तर में उन्होंने 1927 ई० में मुझे जो भावनापूर्ण पत्र लिखा था, वह उनकी भावुकता और सहृदयता का

परिचायक है :

श्रीगोपाल

चैं० शु० 7/84 वि०
8/5/27

प्यारे सुमन जी,

मैं ता० 22 की रात को सम्मेलन की स्थायी समिति की बैठक में प्रयाग चला गया था, और उसके पश्चात् लगातार प्रांत के कुछ वार्षिकोत्सवों में चला गया। ता० 4-6-27 के सबेरे ही लौटा हूं। यही कारण है कि मैं आपके पत्र का उत्तर न दे सका।

मैं आप जैसे सज्जनों से बहुत डरता हूं। न आप तुच्छ, और न और अब उपक्षेणीय ही रह गए हैं। आपकी थोड़ी सी पंक्तियों ने आकर तो मेरे उपेक्षा के अधिकार ही को चुनौती दे दी है। उपेक्षा मेरी सेहत है; वह मेरी संकट की साथिन है, सुख की सलाहकार। किंतु जब कोई द्वार खटखटा बैठता है तब मेरी उपेक्षा में और मुझ में गृह-कलह उपस्थित हो जाता है। मैं पूछता हूं, गंगा यमुना और नर्मदा को भी लांघकर, आप इस झोंपड़े पर ललच क्यों रहे हैं? सुमन, भैंसों के लोटने, और ग्रामीणों के उपयोग के इस तालाब में, तुम शोभा नहीं पाओगे, जहां तली में लगने वाली एक ही ठोकर, गंदगी को सतह पर ले आती है। तुम्हारे हृदयरोग के लिए, तो ये स्मृतियां भी कुपथ्यकर होंगी। आपका कार्ड व्याकुलता का द्योतक है; व्याकुलता का पर्दा जाली है, दीवाल पर खिची हुई तसवीर स्पष्ट, छनी हुई, विमल, दीख रही है। यह विग्रह आग्रह से भी खतरनाक है; यह आह, आह से भी अधिक दंडनीय है। फिर दंडनीय की उपेक्षा कैसे की जा सकती है!

लोग कहते हैं, कवि अस्पष्ट का पूजक है; वह इस विषय में, समाज के अज्ञान का आदर्श प्रतिनिधि है। आपने पिछले कुछ वर्षों के पीछे पड़ने से कारण बिना भी चाह का बोझ मुझ पर लादने की कृपा की है और उक्त लोकापवाद को सत्य साबित किया है। पत्थर में मनुष्यता के पूर्ण विकास का स्वप्न देखने वाली आर्य-बुद्धि और कर ही क्या सकती थी? प्रियवर, हेतुशून्य मन की एक ही ओर फिसलती हुई, एकाग्र वृत्ति की यातनाओं को चुकाने के लिए, सदैव परस्पर विरोधी आकाश मंडलों में मारे-मारे फिरना ही, मेरे जीवन की साख है! फिर मेरे अकेलेपन की चहल-पहल से अपनेपन की विडंबना में खींच कर आप कौन-सा वरदान प्रदान कीजिएगा? यह निश्चित मानिये कि पहली आशाओं का संभावना के साथ सदा ही संबंध नहीं रहता। फिर असंभावनाओं के इस आकाश-मार्ग में किस ओर विचरण करने की इच्छा है? नजर से नजर न मिलने देने का कारण था, बाजार भाव का न बिगड़ने देना।

सौदे के लिए मेरे पास कुछ नहीं है, इसीलिए बाजार में आने से डरता हूं। क्या मेरी 'शून्यता के अधिक उथल-पुथल मचाने से 'अस्तित्व' का बाजार-भाव नहीं बिगड़ जाएगा ?

अब तो तुम्हारी इन मीठी पंक्तियों ने लालच पैदा किया है। अब उपेक्षा को ठौर कहां खैर आपकी पंक्तियां पहुंच गईं, यह रसीद लीजिए। शेष फिर कभी।

आपका :
मा० ला० च०

मैंने 'कर्मवीर' के लिए विनयमोहन के पास अपनी एक कविता भेजी थी। उसी का संदर्भ इस पत्र में 'मीठी पंक्तियों का लालच' कह कर दिया गया है। तब के विनयमोहन बाद में अपनी असलियत पर आ गए और पुनः पं० शुकदेव प्रसाद तिवारी बन गए तथा आगे चलकर 'स्वराज्य' के संपादकीय विभाग में रहने के बाद नागपुर विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग के प्रोफेसर और अध्यक्ष हो गए। वह कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, भोपाल विश्वविद्यालय इत्यादि के आदृत अध्यापकों में से रहे हैं, और अब तो साहित्यकारों और अध्यापकों की मंडली में 'संत' बन गए हैं किंतु उन दिनों बड़े भावुक, रोने और रुलाने वाले, निजी प्रेम भावनाओं और व्यथाओं से पीड़ित, रस में डूबे हुए युवक थे। चतुर्वेदी जी के सानिध्य से उनकी भावुकता शान पर चढ़ गई, क्योंकि चतुर्वेदी जी सदा से प्रतिभावान युवकों का दुलार-प्यार करते रहे हैं, वही लोग उनके देवता थे। इस कदर कि ओछी प्रकृति के लोग उनके बारे में बेपर की कुत्सित बातें भी उड़ाते रहते थे। विनयमोहन तो भावावेश में उन्हें 'मां' कहते थे।

चतुर्वेदी जी को मेरी कई कविताएं बहुत पसंद थीं। एक गीत को तो वह भावावेश में कई-कई दिनों तक गुनगुनाते रहते थे। आज वह गीत पूरा तो याद नहीं है। किंतु उसकी कुछ कड़ियां यों थी :

भूल गये तुम आते-आते।
मैं विलीन हो चली शून्य में तुम को पाते-पाते।
स्मृतियों से कब तक खेलूंगी, तुम हो नहीं अघाते।
भूल गयी इस पथ पर चलकर दुनिया के सब नाते ।। भूल गये० ।।
सोच रही हूं, तुम आते तो क्या-क्या मुझे बनाते।
मैं भूली हूं अपने में अपनापन लौटा लाने ।। भूल गये० ।।

मेरे ऊपर उनकी सहज कृपा हो गई थी और वह आजीवन बनी रही मैं वाराणसी से अजमेर, इंदौर या बंबई जाते हुए प्रायः खंडवा उतर जाता और

और

उनके सत्संग का लाभ उठाता था। कभी-कभी शाम को हम तांगे या कार से उस जलाशय की सैर करने जाते जो नगर से कई मील दूर है और जहां से खंडवा को पानी मिलता है। हम खूब सुनते-सुनाते; थोड़ी देर के लिए पृथिवी पर स्वर्ग उतर आता था। वह जहां भी होते, कविता तो उनके इर्द-गिर्द सर्वत्र बिखरी रहती थी। वह अत्यंत कोमल, रस से भरे मधूक-पुष्प की भांति थे। वैसा ही कंचन रंग, वैसा ही रसार्द्र अंतर, वही नशा पैदा करने और स्फूर्ति देने वाली प्रकृति। जरा-सी ठेस पहुंचते ही अंतर का रस या तो वाणी से फूट बहता या फिर आंखों से अगणित अश्रु बिंदु पारिजात पुष्प की भांति ढुलक पड़ते।

ऊपर कहीं मैंने नवीन विधा वाले कवियों और साहित्यकारों के संघटन की बात कही है। जब मैंने उन्हें आशीर्वाद के लिए लिखा तो 'निराला' दायें-बायें दुलत्तियां झाड़ने लगे थे। पंत पर तो उन्होंने प्रबल आक्रमण ही किया था। उनके इस अकांड तांडव से हमारे अनेक मित्रों को, जो 'निराला' की किसी प्रकार का अनुशासन न मानने की प्रवृत्ति से परिचित नहीं थे, बड़ा आश्चर्य हुआ था। चतुर्वेदी जी को तो बड़ी ठेस लगी थी। उस समय उन्होंने मुझे जो उत्तर भेजा था, उससे उनके विचार और मनःस्थिति पर बड़ा प्रकाश पड़ता है। मेरे पास पड़े विश्व के मनीषियों-महज्जनों के अनेक महत्त्वपूर्ण पत्र दीमकों ने चाट कर खत्म कर दिए, किंतु सौभाग्य से, उनका वह पत्र, रोशनाई कुछ फीकी पड़ जाने पर भी, बचा रह गया है। मैं उसे ज्यों का त्यों यहां देता हूं :

श्री गोपाल

कर्मवीर कार्यालय,
खंडवा
आषाढ़ कृष्ण 8/85 वि०
ता० 10/6/28

प्रियवर,

आपका कृपापत्र मिल गया। विनय मोहन जी की कैफियत इस पत्र के पूर्व मिल चुकी होगी। मेरे अपने विचार से तो जो तरुण अपने आपको 'बिम्बवादी', 'रहस्यवादी', 'छायावादी' और न जाने किन-किन वादियों में बांट रहे हैं और आपस में ही एक दूसरे के 'आचार्य' होने की कोशिश में हैं, वे स्वतः नहीं जानते कि वे क्या कर रहे हैं। नवीन युग की नीवों की इन कंकरियों को, मंदिर के कंगूरों पर शोभित होने का लालच है; यदि ये, यह छोड़कर, चुपचाप मिल-जुलकर, क्रांति पर समर्पित हों तो युग अपने आप इनमें से आचार्य को ढूंढ लेगा। हर सेनापति को तो सैनिक रहित ही रहना

पड़ेगा। मुझे, नया से नया, नवीन युग का स्वप्न देखने या औरों के स्वप्नों का अनुकरण और नकल करने वाला अपना सैनिक मानें, मैं आज्ञाओं का पालन कर दूंगा। पहले, इस छोटे से घर में, आपस में होने वाले 'तू-तू मैं-मैं' को 'संघ' का महत्त्व जता लीजिए, फिर बाहर बाण छोड़िए।

युग तो आप लोगों का आ पहुंचा है। इसका कोई शक्ति सामना न कर सकेगी। परंतु आज तो आपके दायें-बायें की विभूतियां दंभ का सामना अज्ञान को सामने रख कर कर रही हैं। जरा इन्हें समझा लीजिए। 'वे मूंछों का आचार्य', एक दूसरे को कोस रहा है। आपस की सिविल वार वाली सेना से आप आडंबर पर आक्रमण करने जा रहे हैं। भगवान आपको बल दे।

संगठन मैं स्वयं पसंद करता हूं। उसी तरह, जिस तरह मनुस्मृतियों के समुद्र में फेंक दिए जाने पर भी, सद्गुणों और सत्कार्यों की चाह जिंदा रखने में ललचता रहना चाहूंगा। मेरे बोलने से नवीन युग की हानि न होगी, शायद लाभ होगा—यही आपकी भावना है। आपकी आज्ञा का समय की मांग शायद कभी पालन करा लेगी। पर मेरे मौन से आपको हानि कैसे पहुंचेगी? मैं बोलता तो हूं ही; किसी न किसी रूप में बोलता ही रहा हूं। आबरू खो खो कर, और प्रतिध्वनि के सिवा कोई सुनने वाला न होने पर भी, बोलता ही रहा हूं। किंतु जो कुछ बोलता रहा हूं, उससे जो कुछ न बोला, वह बहुत था। कितने ही स्वप्नों की हत्या का पुण्य कमा चुका हूं, और कमाने का लालच अभी भी है। इसलिए कि कुछ तो अपने पतन की कीमत पर, जिस रस्सी पर मैं और वे बैठे थे, बिना जाने काट रहे थे और कुछ घुटनों के बल चल रहे थे, उनके बीच बैठकर क्या बोलता? अब जिस तरह मुंह खोलने की बात आप कह रहे हैं, वह किस बूते हो? यदि आप यह विश्वास कर सकें कि कम से कम, घर में तो, आपका स्वर संयुक्त हो सकेगा—तो मुझे लिख भेजिए। मैं अंतःकरण की गरीब आबरू को एक बार और बाजार में रख दूंगा। वह है ही कितनी सी। गरीब को अपनी एक दिन की मजदूरी दे देने में देर नहीं हुआ करती। यह तो बड़ों की बातें हैं; जहां ब्याज का अंश भी बाजी पर नहीं रखा जाता।

जरा, अपने शिल्पियों को भी समझाइए। स्वप्नों की कल्पना मात्र को लिखने न दौड़ पड़ें। पूरा स्वप्न ही लिखें। नकल का अनुकरण भी, स्वप्न देखने की सामर्थ्य रख कर ही करें।

'कर्मवीर' आपके उद्योगों से दूर नहीं रहेगा। विनय मोहन जी की शिकायत है कि वे अपने बाग के छोटे और दूषित पुष्पों वाले गुलाबों की कलम कर देने का कष्टमय धंधा करते भले ही रहें, पर आपका स्वर, नवीन युग की ध्वनि, नीचे नहीं गिरेगी।

पता नहीं, मेरा यह लंबा पत्र, आपको दुख देगा या और कुछ। भाई गणेश जी ने क्या उत्तर दिया ? शेष कुशल।

आपका अपना
मा०

इस पत्र में हमारे साहित्य की उस समय की स्थिति पर तो चुटकियां हैं ही, स्वयं चतुर्वेदी जी की विचारधारा और मनःस्थिति पर भी इससे कुछ कम प्रकाश नहीं पड़ता।

माखनलाल जी के समस्त जीवन, काव्य और साहित्य में चार मुख्य तत्त्व रहे हैं :

1. भारत माता की जीवित मांसल मूर्त्ति के दर्शन एवं स्पर्श से कंपित समर्पण-भावना।
2. दीन-दुखियों, पीड़ितों की वेदना का प्राणद स्पर्श। कठिनाइयों की चुनौतियों का निरंतर ग्रहण।
3. तरुणाई के प्रति अप्रतिम आकर्षण।
4. अपनी पत्नी, और उसके माध्यम से नारीत्व की मृदुल भावनाओं पर सब कुछ चढ़ा देने का लोभ।

हिंदी के राष्ट्रीय काव्य के लिए उनकी देन असाधारण है। उसमें एक सिपाही की अकड़ और अपना सब कुछ न्यौछावर कर देने की ललक है। उन्होंने कोई खंड काव्य नहीं लिखा किंतु अपनी छोटी-छोटी षट्पदियों और रचनाओं में जो समर्पण-भावना, जो तेजस्विता, कांटों पर हंसते-हंसते चलने की प्रेरणा और सहज भाव से चुनौतियों के ग्रहण की जो महिमा है, वह अन्यत्र दिखाई नहीं देती। राजनीति के प्रत्येक ज्वार में तरंगों की चोटियों पर नर्तन करते रहने वाले इस कवि में राजनीति का ओछापन कहीं नहीं है; वह राजनीतिक कवि हैं भी नहीं; उनमें हमारी उच्च, उदार राष्ट्रीय संभावनाएं, चेतनाएं और प्रेरणाएं बोलती हैं। जीवन की छोटी-छोटी घटनाओं को काव्य के मृदुल-मंजुल प्रसूनों की माला में गूंथकर रख देने का उनका कौशल और उनकी सामर्थ्य अपूर्व है। उनके विषय में यह जान लेना भी आवश्यक है कि उनकी अधिकांश कविताएं निजी हैं और निजी घटनाओं से निःसृत हुई हैं।

जेल-जीवन में बिछौने और कपड़ों का अभाव था। बस जमीन पर सोने और जेल के प्रहारों को लेकर लिखी गई उनकी वह कविता कैसी अपूर्व है जिसकी अंतिम दो पंक्तियां यों हैं :

भूखण्ड बिछा, आकाश ओढ़, नयनोदक ले, मोदक प्रहार।
ब्रह्माण्ड हथेली पर उछाल, अपना जीवन-धन ले निहार।

धरती को बिछौना और आकाश को ओढ़ना बनाने, प्यास के लिए आंसू पीने और भूख के बदले जेल के प्रहारों का मोदक खाने तथा इन सब यातनाओं के बीच अपने जीवन-धन का दर्शन करने की कल्पना में कवि की संवेदना धुल कर कितनी स्वच्छ हो गई है।

और जेल के सीखचों के अंदर लिखी इस रचना को देखिए :

किस प्रकार मिनटें गिनता हूं, दिन के बरस बनाता हूं।
खान-पान की, ज्ञान-ध्यान की धूनी यहां रमाता हूं।
तुमको आया जान वायु में बांहों को फैलाता हूं।
चरण समझते हुए, सीखचों पर मैं शीश झुकाता हूं।
सुध-बुध खोने लगे, कहो क्या पूरी नहीं सुनोगे तान ?
होता हूं कुरबान, बताओ किस कीमत पर लोगे जान ?

संवेगों से भरी, वर्षा-नद के प्रवाह-सी इनकी कल्पना तटों को डुबाते-बहाते हुए चलती है। 'व्यथिता कोकिला' एक कविता है जिसमें सूने वृन्दावन का चित्र है :

विरह-सनी ब्रजरानी बैठी व्याकुल-सी ब्रजबाले।
हुए विदेह ब्रजेश गोपदल बैठे आंसू ढाले।
धौरी धूमरियां, जोगनियां, भूल रहीं तृण छूना।
तुतलेश्वर सो रहे, हृदय है वृंदावन का सूना।
हूकूंगी ही टुकड़े होंगे, मैं कैसे कूकूंगी।
तू ललचाये नहीं बौर, अबकी बसंत चूकूंगी।

सार्वजनिक संदेश से पूर्ण उनका काव्य एक प्रकार का निजी काव्य है। उनकी अधिकांश रचनाओं की पार्श्वभूमि में कोई न कोई घटना है। इसी लिए उनसे दूर रहने वाले, उनको ठीक तरह न समझ पानेवाले, उनकी रचनाओं की अंतर्भावना को छू नहीं पाते।

वृंदावन सम्मेलन में गए थे। वहीं नीलांबरदत्त चंदोला तथा सत्याचरण से मेरे मालवीय बंधु गोपीवल्लभ जी उपाध्याय ने परिचय कराया। युवा चंदोला ने उन दिनों कुछ अच्छी कविताएं लिखी थीं और पढ़ते भी अच्छा थे। सत्याचरण भी कुछ लिखते थे। चंदोला के उत्तर जीवन के विषय में मुझे कुछ नहीं मालूम, पर सत्याचरण बाद में बहुत दिनों तक डी० ए० वी० स्कूल इलाहाबाद के प्रधानाध्यापक रहे तथा किसी लघु राष्ट्र में कुछ दिन हमारे देश के राजदूत भी थे। बोलने लिखने की कला में पटु थे। अस्तु, चंदोला की भावुकता पर यह लट्टू हो गए और जो कविताएं कभी किसी को न दिखाई-सुनाई थीं वे भी भावावेश में दिखाई-सुनाई। जैसे वर्षा की स्रोतस्विनी में बाढ़ आती है, वैसे ही उनमें भाव-प्रवणता की बाढ़ आती थी।

और जब वह आती थी. इनका संपूर्ण अस्तित्व उसमें डूबने-उतराने लगता। चन्दोला इत्यादि के साथ रात को चांदनी में नाव पर देर तक यमुना की सैर हुई। उसी समय यह कविता लिखी गई थी :

पगली, तेरा ठाठ, किया है रत्नाम्बर परिधान।
अपने काबू नहीं, और यह सत्याचरण विधान।
उन्मादक मीठे सपने ये, और अधिक मत ठहरें।
साक्षी न हों, न्याय-मंदिर में, कालिन्दी की लहरें।
डोर खींच, मत शोर मचा, मत बहक, लगा मत जोर।
मांझी, थाह देखकर आ तू, मानस तट की ओर।।

कौन गा उठा? अरे करे मत ये पुतलियां अधीर।
इसी कैद के बंदी हैं, वे श्यामल गौर शरीर।
पलकों की चिक पर, हृत्तल के छूट रहे फव्वारे।
निश्वासें पलकें झलती हैं, उनसे मत गुंजारे।
यही व्याधि मेरी समाधि है, यही राग है त्याग।
क्रूर तान के तीखे शर, मत छेदे मेरे भाग।।

काले अन्तस्तल से छूटी कालिन्दी की धार।
पुतली की नौका पर लाई मैं दिलदार उतार।
बादवान तानी पलकों ने, हा! यह क्या? चीत्कार?
कैसे ढूंढूं हृदय-सिन्धु में छूट पड़ी पतवार।
भूली जाती हूं अपने को, प्यारे मत कर शोर।
भाग नहीं, गह लेने दे, तेरे 'अम्बर' का छोर।।

अरे, बिकी बेदाम कहां मैं, हुई बड़ी तकसीर।
धोती हूं, जो बना चुकी हूं पुतली में तसवीर।
डरती हूं, दिखलाई पड़ती, तेरी उसमें वंशी।
कुंज कुटीरे यमुना तीरे, तू दिखता यदुवंशी।
अपराधी हूं, मंजुल मूरत ताकी, हां, क्यों ताकी।
वनमाली, मुझसे न मिटेगी, ऐसी बांकी झांकी।।

अत्यंत भाव प्रवण कवि होने के अतिरिक्त माखनलाल जी एक शक्तिमान गद्यकार भी थे। उन्होंने दो नाटक भी लिखे थे। 1911 ई० में 'विद्या विलासी बालक' नाटक लिखा, जो उसी समय अभिनीत एवं छात्र समुदाय में प्रशंसित हुआ था। फिर 1914 में 'कृष्णार्जुन युद्ध' नाटक लिखा गया,

जो उसी वर्ष जबलपुर सम्मेलन के अवसर पर खेला गया था। उसकी गणना, उस समय के लोकप्रिय और उच्च कोटि के नाटकों में की गई। वह केवल 13 दिनों में लिखा गया था। बाद में तो इसको लेकर बड़ा अप्रिय विवाद खड़ा हो गया था। इनके बहुत पुराने साथी सिद्धनाथ माधव आगरकर (वह अपने को लोंढ़े भी लिखते थे) जब 'कर्मवीर' से अलग हो गए और उन्होंने 'स्वराज्य' नामक पत्र खंडवा से ही निकाला तो उन्होंने कितने ही गड़े मुर्दे उखाड़े और यह आरोप लगाया कि यह नाटक माखनलाल जी का नहीं किसी दूसरे का लिखा है। वह इसके लिए पूरा प्रमाण देने को प्रस्तुत थे। विवाद जब चरम सीमा पर था, दोनों पक्षों से प्रेमल संबंध होने के कारण मैंने यह सुझाव दिया कि दोनों पक्ष जमनालाल जी बजाज का आदर करते हैं अतः वह दोनों को बुलाकर उनकी बातें सुन लें और अपना निर्णय दे दें। जमनालाल जी इस झगड़े में पड़ने को तैयार न थे। किंतु मेरे बार-बार के आग्रह पर उन्होंने उसे स्वीकार किया और एक तिथि निश्चित कर दोनों को वर्धा बुलाया। आगरकर जी तो आए किंतु माखनलाल जी नहीं आए। इसलिए वह प्रयत्न असफल हो गया।

ईश्वर ही जाने, सत्य क्या है किंतु इन आक्षेपों के बावजूद इसमें कोई संदेह नहीं कि वह एक शक्तिमान गद्य लेखक थे। उनके गद्य में विचारक की अंतर्दृष्टि, कवि का भावोद्रेक और उपासक का प्राण-निवेदन होता था। उनका 'साहित्य-देवता' ग्रंथ बहुत आदृत हुआ, यहां तक कि उनका नाम ही 'साहित्य-देवता' पड़ गया।

वक्ता तो वह प्रथम कोटि के थे। विराट् जन समुदायों को भाव विभोर कर देना उनके लिए बाएं हाथ का खेल था। वैसा वक्ता हिंदी में दूसरा नहीं हुआ।

एक मानव के रूप में उनमें दुर्लभ गुणों का समावेश था। अपने प्रति मौन रहना उनका स्वभाव था किंतु यदि किसी ने उनके हृदय के बंद कपाट की कुंडी खटखटा दी और द्वार खुल गया तो फिर वर्षों का संचित मौन क्षण भर में वेदी पर चढ़ जाता था। फिर बोलते थे तो बोलते ही थे। यद्यपि जीवन भर उनका बाना एक सिपाही का रहा, सदा बलि जाने को तैयार किंतु अंदर उनमें श्रेष्ठ नेतृत्व के गुण थे। अपने साथियों को बढ़ाते हुए, नवयुवकों की प्रतिभा को शान पर चढ़ाते हुए, चलने की वृत्ति उनमें सजग थी। जैसा उनका नाम था, वैसे ही हृदय भी उनका मक्खन का था; स्नेह की आंच, अपनापन का स्पर्श पाते ही द्रवीभूत हो जाता था। अंदर से मृदुल पर ऊपर से कठोरता का बाना बनाए वह जीवन के पथ पर चलते रहे। अभिमान तो उनमें जरा भी न था, किंतु स्वाभिमान का सौदा किसी भी कीमत पर करने को कभी तैयार

नहीं हुए । दोनों के बीच की दूरी वह जानते थे ।

अपने काव्य और अंतरानुभूतियों की दृष्टि से वह एक प्रकार के 'प्रेमिक रहस्यवादी' (लव-मिस्टिक) हैं और अंग्रेजी कवि पैटमोर की याद दिलाते हैं। जैसे पैटमोर की पत्नी ने उसके हृदय में रहस्य की ज्योति जलाई थी, वैसे ही चतुर्वेदी जी की पत्नी ने भी इन्हें प्रेम की पूजा का आस्वाद प्रदान किया था। जब वह सदा के लिए बिछुड़ गई तो भी अपने विरह में उनके अंदर चिरमिलन का आश्वासन छोड़ गई। वह अक्सर कहा करते थे : 'भई, मैं बड़ा स्त्रैण हूं पर क्या करूं ?'

एक बार उन्होंने मेरे एक सुहृद् से कहा था : 'मैं तो अपनी ही दुनिया में रहना चाहता हूं। एक कोने में आकाश के तारों से बातें करते रहने में बड़ा आनंद आता है। इधर-उधर की दौड़-धूप, मिलना-जुलना तो बहुत अखरता है।' फिर बोले : 'समाज के बंधन निरे ढकोसला हैं। मैं उन्हें नहीं मानना चाहता। हृदय का बंधन ही विवाह है। प्रेम की कीमत पुरोहित के आडंबर-पूर्ण गठबंधन का मंत्र नहीं है। नेत्रों का मिल जाना, हृदयों का गुंथ जाना, आजीवन, विवाह है। प्रेम की संकुचितावस्था का आवाहन कभी भी जीवन में सुख-स्वास्थ्य की प्रेरणा नहीं कर सकता।···मेरा कोई 'रिलीजन' नहीं है। कविता ही मेरा धर्म है, और प्रेम ही मेरी कविता है। यदि कविता या प्रेम को 'रिलीजन' मान लें तो मैं किसी धर्म का मानने वाला कहा जा सकता हूं, अन्यथा नहीं।' उन्होंने मेरे साहित्यकार मित्र से कहा था : 'प्रत्येक को साहित्य-जीवन की चार अवस्थाओं का मुकाबला करना पड़ता है : उपेक्षा, आलोचना, मौनावस्था और फिर 'एप्रीशियेशन' (प्रशंसा)। लेखक और कवि को अपने जीवन में उपेक्षा और आलोचना से खूब मुठभेड़ करनी पड़ती है। 'एप्रीशियेशन' तो अंतिम अवस्था है। कभी-कभी तो कई अच्छे कवि-लेखक अपने जीवन-काल में इस अवस्था तक पहुंच भी नहीं पाते। लोग उन्हें उपेक्षा से ही पूजते रहते हैं।' एक बार उन्होंने कहा था : 'मैं विद्यार्थियों से प्रेम करता हूं। नवयुवक मेरी कविता की सामग्री हैं। उन्हीं में मैं अपने वनमाली की सुंदर झांकी देखता हूं। वे मेरी निधि हैं, राष्ट्र के सर्वस्व हैं।'

कुछ लोगों ने उन पर नवयुवकों के शोषण का आरोप भी लगाया है। उनका कहना है कि वह दो-चार चाटुकारिता के शब्द कह कर नवयुवकों को खुश कर दिया करते थे और उनकी प्रतिभा और कर्मठता का उपयोग चंद पैसों पर 'कर्मवीर' के लिए कर लिया करते थे। विनयमोहन, बेनीपुरी और हरिकृष्ण प्रेमी इत्यादि युवकों का सहयोग इसी प्रकार उन्होंने प्राप्त किया था। इस आक्षेप में भले सत्यांश हो किंतु यह भी सत्य है कि जिन युवकों का सहयोग उन्होंने लिया उन्हें साहित्य के क्षेत्र में सदा आगे बढ़ाया। उनकी

प्रेरणा और प्रोत्साहन पाकर उनकी प्रतिभाएं निखर पड़ीं। प्रकारांतर से यह भी साहित्य के प्रति उनकी छोटी सेवा नहीं।

अंदर से जैसी भी हालत हो, बाहर वह भव्य वेशभूषा में रहते थे और शान से रहते थे। प्राय: प्रथम श्रेणी में यात्रा करते थे और अनेक श्रीमानों पर उनका अच्छा प्रभाव था तथा वह अपने कार्यों के लिए धन भी प्राप्त करते रहते थे। उत्तरकाल में वह अनेक रोगों से आक्रांत हो उठे थे। हृत्कंप के रोगी तो पुराने थे। एक छोटा-मोटा दवाखाना उनके साथ चलता था; कोई न कोई साहित्य प्रेमी युवक या सेवक उनके साथ रहता था। प्राय: द्राक्षासव की बोतल भी साथ चलती थी। ऊपर की मंजिलों या पहाड़ों पर जाने का निषेध था और उन्होंने सदा ही इसका पालन किया। वृद्धावस्था में मोतिया-बिंद के आपरेशन के बाद वह शिथिल होते गए; ज्ञानतंतु अशक्त होते गए। यहां तक कि खड़े होने और चलने में डगमगा जाते थे। मेरा ख्याल है कि उनके रक्तचाप में गड़बड़ी रही होगी।

रोग बढ़ते गए और शक्ति क्षीण होती गई। उनकी जो वाणी सभाओं का श्रृंगार थी, जिसमें सिंह की तड़प और द्रष्टा का भावाकुल वेग था, वह गले में कफ का प्रकोप बढ़ने से दिन-दिन क्षीण होती गई और 30 जनवरी, 1968 ई. को सदा के लिए असीम मौन के सिंधु में विलीन हो गई।

80 वर्ष का उनका लंबा जीवन अध्यापक, पत्रकार, कवि, सैनिक, वक्ता, नेता के अनेक रूपों में बिखरा पड़ा है। इनमें से प्रत्येक क्षेत्र में उनकी उपलब्धियां असाधारण थीं। उनका साहित्य केवल मनोविनोद का नहीं, प्रेरणा का, समर्पित साधना और पूजा का, यौवन के गौरव-गान का साहित्य है। वह सरस्वती के मंदिर के ऐसे दीपक थे जो बुझकर भी जल-जल उठता है और जिसकी ज्योति की बाती के नीचे स्नेह की ऐसी पावन राशि है कि वह जलती ही रहेगी। जलती रहेगी और हमें प्रकाश देगी, हमें प्रकाश देगी और जलती रहेगी।

9

'प्रसाद'

प्रथम यूरोपीय महायुद्ध (1914-1918 ई०) के दिनों में मैं बालक ही था किंतु उस छोटी अवस्था में भी आंग्ल साम्राज्यवाद का विरोधी होने के कारण धौरहरा (तहसील चंदौली, जिला वाराणसी) के आस-पास के गांवों में, जहां मैं पिता जी के साथ जाया करता था, मुझे 'जर्मनी' के नाम से पुकारा जाने लगा था। जब वह भयानक युद्ध धन-जन की अपार क्षति के बाद समाप्त हो गया, तब समाप्त होकर भी अपने पीछे एक कराह छोड़ गया। समाज के चतुर्दिक् एक जिज्ञासा थी, यद्यपि इस जिज्ञासा की जिह्वा मानो किसी मंत्र द्वारा कीलित कर दी गई हो: 'लब बंद, जुबां बंद, कलम बंद, नजर बंद।' आलोड़न तो था परंतु अभिव्यक्ति नहीं थी; दर्द था, आह नहीं थी। एक घुटन थी, एक मूर्च्छना। परंतु इस मूर्च्छना के आंचल-तले सोया जागरण कुनमुनाने लगा था।

वे मेरे पनपने के दिन थे, और मेरे चारों ओर धुआं था। खीझ थी पर असमर्थता भी थी। इसीलिए खीझ और असह्य हो रही थी। भावुकता के पंख उग आए थे। आकाश में उड़ने लगा था परंतु अंदर से खोखला-सा अपने ही भार से दबा हुआ—उस पंछी के समान, जो कफस की तीलियों से निकलकर उड़ चला हो परंतु जिसके न आगे, न पीछे कहीं आशियां के चिह्न शेष रह गए हों; कहां जाये, किधर उड़े? मेरा मन और मेरा जीवन अपने में ही डूब रहा था। कुछ संस्कार, कुछ राजनीति, कुछ काव्य और कुछ आध्यात्मिकता की खिचड़ी मेरे अंदर पक रही थी। आध्यात्मिकता शब्द लिखते हुए मैं अपने दुस्साहस का अनुभव कर रहा हूं क्योंकि उसके संबंध में स्पष्ट विचार कर सकने की क्षमता मुझ में न थी परंतु अंदर जो आलोड़न था,—एक जिज्ञासा जिसके ओठ सी दिए गए-से लगते थे—उसके लिए मुझे इससे उपयुक्त दूसरा शब्द नहीं मिल रहा है।

ऐसे थे 1918 के वे दिन। चंद दिनों पहले ही मैंने लिखना शुरू किया था। साहित्य में मेरा जन्म गांधी जी (गद्य) तब 'कर्मवीर गांधी'—कभी

काठियावाड़ी पगड़ी, कभी नंगे सिर वाले—और ईशस्तवन (पद्य) को लेकर हुआ। ये दोनों धाराएं आज तक मेरे जीवन में हैं। वे फैलती गई हैं, गहरी होती गई हैं; उन्होंने मुझे परिष्कृत और परिप्लावित किया है। बट वृक्ष की अगणित बांहों की भांति मुझ से ही निकलती हैं, दूर तक फैल जाती हैं परंतु कभी मुझे छोड़ती नहीं। वे ही मेरे प्रेम की आश्वासनमयी भुजाएं हैं; मेरे यौवन की हरीतिमा हैं; मेरे वार्द्धक्य की लाठी हैं; मेरे स्वप्नों के इंद्रजाल हैं; मेरी भक्ति एवं आत्मार्पण के स्रोत हैं और जिस पथिक को जीवन में चलना ही चलना है, उसकी कल्पना के नीड़ हैं; उसकी संध्या की मंजिलें हैं।

प्रथम दर्शन : अपनी किशोरावस्था के ऐसे ही हड़कंपी दिनों में मैंने छायावाद मन्वन्तर के मनु जयशंकर 'प्रसाद' के दर्शन किए थे। मैं कहीं लिख चुका हूं कि युवकों में स्वस्थ साहित्य के पठन-पाठन की रुचि पैदा करने के लिए मैंने एक पुस्तकालय-वाचनालय की स्थापना की थी। इसी पुस्तकालय के लिए पुस्तकें एकत्र करने के सिलसिले में साहित्यकारों के पास जाना पड़ता था। इसी माध्यम से अनेक गुरुजनों तथा साहित्यकारों से मेरा परिचय हुआ था। इसी उपक्रम में एक दिन तीसरे पहर मेरी प्रथम भेंट 'प्रसाद' जी से हो गई।

वह दृश्य प्रायः पचपन वर्षों के बाद, आज भी मेरी आंखों के सामने बिल्कुल स्पष्ट और ताजा है। काशी का सराय गोवर्द्धन मुहल्ला, शिवालय के बाग के खपरैल वाले बाहरी बरामदे में बिछा तख्त, कुछ लोगों की मंडली, जिनमें प्रसिद्ध कवि-चक्रवर्ती पं० देवीप्रसाद भी थे। इन सबके बीच एक प्रौढ़ युवक गोरा-चिट्टा, मझोला कद, गठी हुई देहयष्टि, भव्य ललाट, राजकुमारों-सा चेहरा-मोहरा। आंखों में एक विनोद, एक जादू, एक रहस्य। सामने देखती हुई भी मानो दूर का कोई दृश्य देखती-सी आंखें। यही थे 'प्रसाद' जी।

बातें हुई। परंतु बातें क्या हुई? बस, इधर-उधर की बातें। मैं उन्हें देखता रहा और पीता रहा। उनकी आंखें, सारी बातों के बीच, रह-रहकर मेरे आगे उभर कर आ जाती थीं। आज भी, उसी तरह, आंखें मूंदते ही, आ जाती हैं। उनमें संसार के प्रति विनोद का भाव था। उनमें दुनिया का दर्शन था परंतु उसके प्रति एक सूक्ष्म एवं रहस्यमय विनोद दृष्टि भी थी। सब में रस लेते हुए भी उनमें एक विचित्र निस्संगता थी।

बाद में तो उनसे बड़ी घनिष्ठता हुई। उन्हीं के मकान में, उनके पड़ोसी, एक प्रकार से परिवार के बनकर हम वर्षों रहे। मैंने उन्हें खूब देखा-परखा, हर पहलू से देखा। उनका शरीर बदला, परिस्थिति बदली, उनके चतुर्दिक् का संसार कुछ से कुछ होता गया परंतु वे आंखें अंधकार और प्रकाश में, विपदा

और संपदा में, दुःख और सुख में, ज्यों की त्यों रहीं। वे उनमें जो कुछ चिरंतन था, उसका प्रतीक थीं। शैवदर्शन का समस्त प्रत्यभिज्ञा-तत्त्व जैसे उनमें आकर समा गया हो।

जीवन की पृष्ठभूमि : प्रसाद जी के विषय में कुछ लिखने के पूर्व जीवन की उस पृष्ठभूमि की जानकारी आवश्यक है, जिसमें उनका उदय और विकास हुआ। कुछ लोगों ने उन्हें सामंती युग के वैभव-विलास का प्रतिनिधि बताया है, जो गलत है या जिसमें केवल आंशिक सत्य है। यह सच है कि 'प्रसाद' जी के जन्म के समय और उसके पूर्व उनका घराना वैभव और प्रतिष्ठा के शीर्ष पर था। 'प्रसाद' जी के पितामह शिवरत्न साहु के समय से ही कवियों, गायकों और कलाविदों का जमघट इनके यहां लगा रहता था। वह प्रतिदिन कितने ही दीन-दुखियों और विद्वानों की सहायता करते रहते थे। शौचादि के लिए जाते समय लोग वस्त्र तथा लोटा तक मांग लेते थे। भरा-पूरा कुटुंब था; आय अच्छी थी परंतु खर्च भी बहुत था। ये लोग जौनपुर से आकर काशी में बस गए थे और सुर्ती-जर्दे-तंबाकू के व्यवसाय में अग्रणी थे। शिवरत्न साहु ने दो विवाह किए थे। पहली से शीतलप्रसाद एकमात्र पुत्र हुए। वह आजीवन अविवाहित रहकर अध्यापन कार्य करते रहे और घर-गृहस्थी के झगड़ों में कभी नहीं फंसे। दूसरी स्त्री से पांच पुत्र हुए : देवीप्रसाद, बैजनाथप्रसाद, गिरिजा शंकर, जित्तू साव और गौरी शंकर। सबसे बड़े थे देवीप्रसाद। यही देवीप्रसाद 'प्रसाद' जी के पिता थे। देवीप्रसाद को भी पांच संतानें हुईं। इनमें सबसे बड़ी थीं पुत्री देवकी। जीवित पुत्रों में बड़े थे शंभुरत्न और सबसे छोटे थे जयशंकर।

पितामह शिवरत्न साहु की भांति ही पिता देवीप्रसाद भी बड़े उदार और धर्मात्मा थे। विद्वानों और साधु-पुरुषों की सेवा-सहायता उनका जीवन-व्रत था। 'प्रसाद' जी के सहपाठी पं० श्रीकृष्ण शुक्ल ने उनकी उदारता एवं क्षमा के विषय में एक घटना का उल्लेख किया है। संस्कृत कालेज के एक छात्र ने एक दिन उनसे कहा, 'साहु जी! मेरी परीक्षा निकट है और मुझे एक पुस्तक की बड़ी आवश्यकता है। कृपया आप मुझे वह पुस्तक दिलवा दें।' साहुजी ने कहा, 'अभी मुनीम जी नहीं आये हैं। शाम को आना तो दिलवा देंगे।' छात्र दो-तीन बार आया परंतु मुनीम से भेंट नहीं हुई। एक दिन वह तड़के ही आ पहुंचा। उस समय साहु जी चांदी का पूजापात्र लेकर घर से बगीचे के शिव मंदिर में पूजा करने जा रहे थे। छात्र के याद दिलाने पर उन्होंने कहा : 'इतने तड़के मुनीम जी कहां मिलेंगे ? दस बजे तक आओ तो पोथी का मूल्य दिला दें।' छात्र कई बार निराश लौटने से खीझा हुआ था। दो दिन बाद उसकी परीक्षा होने वाली थी। बस, उत्तेजना में आकर उसने

साहु जी के गाल पर एक तमाचा जड़ दिया। झट साहु जी के नौकर दौड़े किंतु साहु जी ने सब को रोक कर छात्र के चरण पकड़ लिए और बोले, 'मैं इनका अपराधी हूं। इन्हें दो दिन मेरे द्वार से विमुख लौटना पड़ा है। अभी चांदी का यह पूजा पात्र ले जाओ और बेचकर सब दाम पंडित जी को दे दो।' ऐसा ही किया गया। ऐसे साधु प्रकृति के थे देवीप्रसाद जी।

पिता देवीप्रसाद के बाद जयशंकर प्रसाद के बड़े भाई शंभुरत्नप्रसाद घर के कर्ता और व्यवसाय के प्रधान अधिकारी हुए। यह भी बड़े उदार और खर्चीले स्वभाव के थे। चचा गिरिजाशंकर तथा अन्य चचेरे भाइयों को यह बात न भाती थी। इसलिए झगड़े खड़े हुए; संपत्ति को लेकर मुकदमा चला। कई साल यह चलता रहा। मजा यह कि सब एक ही घर में रहते थे और दुकान में भी बैठते थे परंतु दिन में मुकदमा लड़ते थे। शंभुरत्न को मारने के लिए गुंडे भी लगाए गए। पंरतु उनका शरीर इतना बलिष्ठ और व्यक्तित्व इतना रोबीला था कि उनके सामने किसी का साहस हाथ उठाने को न होता था। सहस्राधिक डंड-बैठक उनका नित्य का नियम था। शान-शौकत का यह हाल था कि अपने प्रिय घोड़े को स्नान कराने के बाद एक बड़ी परात भर कर नित्य दूध-जलेबी खिलाते थे।

मुकदमे में लाखों खर्च हो गए। अंत में दुकान तो शंभुरत्न को मिल गई, शेष चल-अचल संपत्ति के चार बराबर हिस्से हुए जो अन्य भाइयों के हिस्से में आए। सारा कर्ज भी शंभुरत्न जी के हिस्से में आया। इस मुकदमे में घर के वैभव का सत्यानाश हो गया। फिर भी जब तक बड़े भैया शंभुरत्न जी जीवित रहे, जयशंकरप्रसाद को बच्चे की भांति मानते रहे और उनकी सुख-सुविधा की व्यवस्था खुद ही करते रहे। 12 से 17 साल की उम्र तक 'प्रसाद' बड़े सुख से रहे। व्यायाम, खान-पान का पूरा प्रबंध था। दो पहलवान 'प्रसाद' को कुश्ती लड़ाने के लिए रखे गए थे। वह हजार डंड-बैठक करते। उस समय 18 गायें घर में थीं। 'प्रसाद' व्यायाम के बाद डेढ़ पाव बादाम की गुद्दी या गिरी छानते थे। टमटम के लिए तीन बढ़िया घोड़े थे।

परंतु सुख के दिन जल्द समाप्त हो गए। मुकदमे के फैसले के दो ही वर्ष बाद शंभुरत्न जी का देहांत हो गया। अब नाटक का दूसरा अंक शुरू हुआ। घोर कठिनाइयों का युग आया। 'प्रसाद' 12 वर्ष के थे तब पिता गए। 15 वर्ष के थे तब मां चली गईं। 18 वर्ष के थे तब पिता-तुल्य भाई भी छोड़ गए।

भाई की मृत्यु : बड़े भाई की मृत्यु की चोट सबसे गहरी लगी। जब पिता-माता का देहावसान हुआ, तब भाई संभालने वाले थे। भाई के बाद अब सहायता करने वाला कोई न था; नोचने-खसोटने वाले बहुत थे। व्यवसाय का, घर-गृहस्थी का पूरा भार इन पर आ पड़ा। सबसे बड़ी कठिनाई तो यह

थी कि वैभव के दिनों की कुल-परंपरा को तिलांजलि भी नहीं दी जा सकती थी; भैया भारी कर्ज का भार अलग छोड़ गए थे। जयशंकर 'प्रसाद' की पूरी परीक्षा थी। ये ऐसे दिन थे जब सामान्य मानव टूटकर बिखर सकता था किंतु 'प्रसाद' के जीवन की नींव में दादा और पिता की उदारता के साथ, गहरा संयम, आत्म-नियंत्रण, गंभीर शास्त्रज्ञान, मौन त्याग और कष्ट सहन की वृत्ति भी थी। दीनबंधु ब्रह्मचारी के ज्ञान-दान से उनका चरित्र बहुत पुष्ट और उन्नत हो चुका था। इसलिए विपदा उन्हें तोड़ न सकी, अपितु उनमें एक अपूर्व शक्ति का विकास करने में सहायक हुई। विपत्ति की छेनियों से परम पुरुष एक उच्च स्तरीय मानव को गढ़ने लगा। प्रसाद जी पैदा जरूर एक वैभव संपन्न सामंती गृह में हुए थे किंतु उनका निर्माण दुःख-कष्ट, आवश्यकताओं और अनेक प्रकार के अभावों के बीच हुआ। बचपन के सुनहले दिन बड़े भाई के साथ सदा के लिए लोप हो गए। इसके बाद तो जीवन भर वह संघर्ष ही करते रहे।

डूबते-डूबते बचे : यों बचपन भी बेलाग तो नहीं बीता। संवत् 1958 में, जब 12 वर्ष के थे, मां और तीन बहनों के साथ नर्मदा तट-स्थित झारखंड स्थान को गए थे। वहीं इनका मुंडन हुआ था। वहीं नाव पर घूमने गए थे। वहां के प्राकृतिक दृश्यों का इनके मन पर स्थायी प्रभाव पड़ा था। उनकी एक कविता में इसका प्रत्यक्ष संकेत है। वहीं स्नान करते समय फिसल कर गहरे जल में चले गए और डूबने लगे। मुश्किल से लोगों ने निकाला। झारखंड में मुंडन होने के कारण घर के लोग इन्हें 'झारखंडी' कहते थे। इसी साल पिता के देहांत से पहला कठोर आघात लगा था। तीन वर्ष बाद मां इन्हें छोड़ गई और तब से भाई और भाभी ही इस मातृ पितृ हीन बालक के स्नेहाधार रह गए।

काव्य की प्रारंभिक प्रवृत्तियां : बड़े भाई शंभुरत्न के जमाने में प्रसाद उन की आज्ञा से नारियल बाजार, वाराणसी की दुकान पर बैठने लगे थे। भाई की अनुपस्थिति में वह दुकान की गद्दी पर बैठते और बीच-बीच में कागज के टुकड़ों पर कविताएं लिखते; समस्या-पूर्तियां करते और गद्दी के नीचे दबा दिया करते। एक दिन गद्दी की सफाई के समय, बड़े भाई को इनके लिखे सैकड़ों कवित्त दिख गए। उन्होंने उस बाल-काव्य को नष्ट कर दिया और सख्त ताकीद की कि यह सब छोड़ो, काम-काज देखो। इन्होंने आज्ञा का पालन किया; काम-काज में मन भी लगाया परंतु दुकान पर अक्सर आने वाले कवियों की कविताएं सुनते रहने के कारण काव्य-रचना की प्रवृत्ति निर्मूल नहीं हुई। एक बार इनकी एक समस्या-पूर्ति सुनकर विद्वानों ने बड़ी सराहना की। तभी से इन्हें लिखने की आज्ञा मिल गई।

उनकी अधिकांश प्रारंभिक रचनाएं ब्रजवाणी में हैं। इस बाल-काव्य पर उनके संस्कृत काव्य के अध्ययन का भी प्रभाव पड़ा है। यह उल्लेखनीय है कि 'प्रसाद' जी ने पहले प्राइमरी पाठशाला चेतगंज में और बाद को क्वींस कालेजिएट स्कूल में केवल आठवें दर्जे तक स्कूली शिक्षा पाई थी। इनकी अधिकांश शिक्षा घर पर ही हुई थी और बड़े-बड़े विद्वान् इनकी शिक्षा-दीक्षा के लिए नियुक्त थे। कुशाग्रबुद्धि होने के कारण अल्पकाल में ही इन्होंने संस्कृत काव्य एवं दर्शन का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया था। कविता में भी इन्हें बचपन से ही अच्छा अभ्यास हो गया था। इनके बाल-काव्य पर दो साथियों का भी प्रभाव पड़ा था। एक तो उनके ही मुहल्ले के थे और सहपाठी भी थे : श्री लक्ष्मीनारायण सिंह 'ईश'। 'ईश' जी से बाद में मेरा भी अच्छा परिचय हो गया था। कभी-कभी जब ईश जी पहुंच जाते और काशी के ही रघुनाथसिंह जी (जो आगे चलकर एम० पी० संसदीय कांग्रेस दल के सचिव और शिपिंग बोर्ड के अध्यक्ष हुए) के बड़े मामा श्री बैजनाथ सिंह भी मिल जाते, तो ब्रजभाषा-कविता का समां बंध जाता था। 'ईश' जी तो, बाद में खड़ी बोली में भी कविता करने लगे थे। दूसरे कवि, जिनकी मस्ती और सरसता का 'प्रसाद' जी पर प्रभाव पड़ा, थे रामानंद। रामानन्द बड़े ही रसिक और चुलबुली तबीयत के थे; फारसी-उर्दू शब्द प्रधान अच्छे कवित्त और सवैये कहते थे। उनका एक संग्रह भी 'उर्दू शतक' के नाम से, शायद 1906 ई० में निकला था। मेरे पुस्तकालय में उसकी जो प्रति है, उसका आवरण पृष्ठ गायब है, इसलिए प्रकाशन-तिथि की बात मैं ठीक नहीं कह सकता। परंतु 1907 ई० की 'सरस्वती' में आचार्य द्विवेदी जी ने उसकी बड़ी प्रशंसा की है, इसलिए अनुमान है कि 1906 में ही यह संग्रह प्रकाशित हुआ होगा। 'उर्दू शतक' के छंद सचमुच ही चुटीले हैं। उन दिनों, किशोरावस्था में, मुझे देव, घनानन्द, बोधा, रसखान और रामानन्द के प्रेम विषयक कवित्त-सवैये बहुत पसंद थे; याद भी थे। घनानंद की भांति रामानंद भी एक वारांगना पर मुग्ध थे। यह वारांगना 'प्रसाद' जी की दुकान के ऊपर ही, कोठे पर, बैठती थी। रामानंद नीचे से ही उसे अपनी कविताएं सुनाया करते। बहुधा वह 'प्रसाद' जी की दुकान पर भी बैठ जाते। कभी रूप-वर्णन करते कभी विरह-वेदना सुनाते। एक दिन की बात है कि वारांगना बाल छिटकाए खिड़की पर बैठी थी। रामानंद आ गए, देखा और तुरंत यह सवैया रचकर सुनाया :

> आफ़त के परकाले हैं काले ये गेसू[1] निराले, अजीबोग़रीब हैं।
> मोश[2] तक आए, बढ़े फिरदोश[3] तक, ताकमर आकर पाये-तसीब हैं।
> हैं 'रामानंद' दोचन्द ये मार-से, हाय किसी के न होते हबीब हैं।

---

1. केश 2. कान 3. कंधे

आशिक़, खूब संभाल के बैठो, क़यामत शामत दोनों क़रीब हैं।

इन मित्रों तथा वातावरण के प्रभाव से 'प्रसाद' जी कविता की ओर उन्मुख होते गए और ब्रजभाषा में विविध छंदों में रचना करने लगे। जुलाई, 1906 ई० के 'भारतेन्दु' में 'कलाधर' उपनाम से इनकी कविता पहली बार प्रकाशित हुई। तब से बराबर कुछ लिखने लगे।

संस्कृत साहित्य के अध्ययन का प्रभाव : किशोरावस्था की अधिकांश रचनाओं पर इनके संस्कृत साहित्य के अध्ययन का गहरा प्रभाव पड़ा है। 'फार्म' पर तो बहुत ज्यादा। संस्कृत कवियोंकी भांति ही इन्होंने चम्पू, व्यायोग, भिन्न-तुकांत काव्य इत्यादि के विविध प्रयोग किए। संस्कृत साहित्य में काव्य और नाटक का अभिन्न संबंध है इसीलिए यह भी काव्य के साथ नाटक-लेखन की ओर अग्रसर हुए। नाटकों के कथानक भी सब प्राचीन हैं, यद्यपि उनकी पकड़ में एक नवीनता और मौलिकता है।

शैशव और यौवन की स्मृति : इनके काव्य में क्या, संपूर्ण रचना-मालिका में, बीते हुए सुखप्रद शैशव की झलक, यौवन के श्रृंगार और सौंदर्य की पुलक, विगत सुख-वैभव के लिए निराश ललक तथा भविष्य के संयम एवं त्याग की गरिमा है। बचपन का कुतूहल अंत में रहस्य बनकर रह गया है। उनके यौवन सौंदर्य की झलक पर सदैव सामंती शराफत का पर्दा पड़ा रहा ; गृह सौंदर्य कभी खुलकर सामने नहीं आया, बाजारू नहीं हुआ। फिर इनका काव्य इनके जीवन के साथ-साथ चला और प्रस्फुटित हुआ है। बड़े भाई ने अपने जीवन-काल में ही इनका विवाह तय कर दिया था। उनकी मृत्यु के कुछ दिनों बाद, उसी लड़की से, इनका विवाह हो गया। उनकी यह प्रथम पत्नी सुशिक्षिता थीं और 'प्रसाद' जी उन्हें बहुत चाहते थे। देखने में भी रूपवती थीं। 'प्रसाद' कविता, कहानियां, नाटक इसके पहले से ही लिख रहे थे। कविताएं तो वह शुरू से लिख रहे थे परंतु पुस्तक-रूप में उनकी पूरी रचना 'विशाख' नाटक है जो 1904 ई० में, केवल पंद्रह वर्ष की अवस्था में लिखा गया था।

अपनी पत्नी के साथ इनका जीवन बड़े सुखपूर्वक बीत रहा था। इस सुखी दांपत्य प्रेम के बल पर वह बाहर के सब झगड़ों को सहन करते हुए, आकंठ कर्ज में डूबे रहने पर भी, विश्वास और निष्ठापूर्वक जीवन का निर्माण कर रहे थे। 'प्रसाद' जी के काव्य की अधिकांश सौंदर्य कलाओं में इसी प्रिया पत्नी की छवि अंकित होती गई है। वही श्रद्धारूपिणी हैं। अपने जीवंत सहयोग के द्वारा जहां 'प्रसाद' जी के जीवन में उन्होंने साहित्य की विविध विधाओं को प्रतिष्ठित होने का अवसर दिया, वहां मृत्यु में भी उन्होंने 'प्रसाद' का त्याग नहीं किया। 'आंसू' जैसा श्रेष्ठ गीति काव्य उन्हीं के विरह

की स्मृतियों से आलोकित है। 10-12 वर्ष के विवाहित जीवन के बाद उनका देहावसान हो गया था और 'प्रसाद' जी अपने को निपट अकेला पाकर बहुत ही उद्विग्न तथा दुखी थे। किसी काम में उनका मन नहीं लगता था। यह मेरे सामने की बात है। वह एकांत में होते तो गुम-सुम बैठे रहते; कभी उनकी आंखें गीली हो जातीं। कभी अतीत में बिल्कुल खो जाते। पत्नी की स्मृति उनको सदैव कचोटती रहती थी। जीवनपट पर अनेक दृश्य आए और गए किंतु वह अपनी प्रथम पत्नी को कभी न भूले।

भाभी का शासन : जब समय गुजर गया और 'प्रसाद' कुछ प्रकृतिस्थ हुए तो भाभी ने दूसरे विवाह के लिए जोर दिया, क्योंकि न उन्हें, न 'प्रसाद' को कोई संतान थी। यहां एक बात बता देना जरूरी है। 'प्रसाद' जन्म भर अपनी भाभी को मां समझते रहे; वह उनकी कोई आज्ञा अमान्य नहीं करते थे। मैंने यह देखा है कि सारे घर पर भाभी का ही राज्य था। किसे क्या देना, लेना, किससे क्या संबंध निबाहना, घर की मर्यादा संबंधी हर काम उन्हीं की राय से होता था। 'प्रसाद' विवाह के लिए तैयार न थे परंतु जानते थे कि भाभी का आग्रह वह बहुत दिनों तक टाल न सकेंगे। अंत में उन्हें राजी होना पड़ा। दूसरी शादी हुई किंतु कैसा दुर्भाग्य था कि वह एक बार भी सुसराल नहीं आई और साल के अंदर ही उसकी मृत्यु हो गई। इस बार भी वही दृश्य दोहराया गया। 'प्रसाद' अब कोई विवाह नहीं करना चाहते थे किंतु जब काफी दिन बीत गए और भाभी रो-रो कर वंश चलाने की बात कहने लगीं, तब उन्होंने तीसरा विवाह किया। उनके एक मात्र पुत्र रत्न शंकर इसी पत्नी की संतान हैं।

काव्य और जीवन की पार्श्व भूमि

मैं ऊपर बता चुका हूं कि उनकी काव्य रचना का आरंभ ब्रजवाणी से हुआ। परंतु उन रचनाओं में भी एक नवीन स्पर्श, एक जिज्ञासा का स्वर है। वही स्वर उनके जीवन में अनुभव एवं अवस्था के साथ, प्रधान होता गया है।

जब मेरा उनसे प्रथम परिचय हुआ, तब यूरोपीय युद्ध बंद हो चुका था। 1918 के दिन थे। 'चित्राधार' निकल चुका था और कहानियों का संग्रह 'छाया' अलग से भी छप गया था। 'चित्राधार' का प्रथम संस्करण बड़ा ही सुंदर और मनोरम था, - क्या कागज, क्या छपाई, क्या सज्जा सबमें एक नवीनता थी। प्रथम परिचय के बाद ही उन्होंने उसकी एक प्रति स्नेहोपहार स्वरूप दी और उपहार का यह क्रम सदैव बना रहा। मैं उसी रात, रतजगा करके, 'चित्राधार' को आद्यंत पढ़ गया। उसमें 'प्रेम-पथिक' ने मुझे बहुत

लुभाया। उस जमाने में प्रेम का ऐसा चित्र—सात्त्विक, उज्ज्वल किंतु आर्द्र—कहीं दिखाई नहीं पड़ता था क्योंकि रीतिकालीन कविता की भोगबहुल मोहिनी तब भी हमें गुदगुदाती थी। गुदगुदाती क्या, वह हिंदी संसार के मानस पर छाई हुई थी। 'प्रसाद' ने पहली बार उस प्रेम की झलक हमें दी, जो जीवन का बंधन नहीं, जीवन की मुक्ति है। 'प्रेम-पथिक' के कवि के लिए प्रेम भोग नहीं, जीवन यज्ञ है, जिसमें स्वार्थ और कामना का हवन करना पड़ता है। यह व्यक्ति में ही बंधकर नहीं रह जाता क्योंकि यह प्रभु का स्वरूप है :

प्रेम पवित्र पदार्थ, न इसमें कहीं कपट की छाया हो,
इसका परिमित रूप नहीं, जो व्यक्ति-मात्र में बना रहे;
क्योंकि यही प्रभु का स्वरूप है, जहां कि सबको समता है।
इस पथ का उद्देश्य नहीं है श्रांत भवन में टिक रहना,
किंतु पहुंचना उसी सीमा पर, जिसके आगे राह नहीं।

इस महत् प्रेम का वर्णन करके ही कवि संतुष्ट नहीं है; वह इसके चरम अनुभव की आवश्यक शर्तें भी हमारे सामने रखता है :

इसका है सिद्धांत मिटा देना अस्तित्व सभी अपना,
प्रियतममय यह विश्व निरखना फिर उसको है विरह कहां ?
फिर तो वही रहा मन में, नयनों में, प्रत्युत जग-भर में,
कहां रह गया द्वेष किसी से, क्योंकि विश्व ही प्रियतम है।
जब ऐसा वियोग हो तो संयोग स्वयं हो जाता है,
ये संज्ञाएं उड़ जाती हैं, सत्य तत्त्व रह जाता है।
आत्म-विसर्जन करो उसी विश्वात्मा को पुलकित होकर,
प्रकृति मिला दो विश्व-प्रेम में, विश्व स्वयं ही ईश्वर है।

इसमें न केवल प्रेम की एक स्वच्छ कल्पना हम देखते हैं बल्कि आगे चल कर उनके जीवन और काव्य में जो दर्शन विकसित हुआ, उसके बीज भी इसमें पाते हैं। सत्य पुरुष से उद्भूत कोई वस्तु मृषा नहीं हो सकती; सत्य से असत्य नहीं, सत्य ही उद्भूत होगा। इसीलिए यह प्रकृति भी पुरुष की ही अंग भूता है। दोनों अभेद हैं और एक दूसरे की पूर्ति और आनंद के लिए हैं। जल-बीचि-सम वे भिन्न होकर भी अभिन्न हैं।

जब उन्होंने मुझे 'झरना' दिया तो उससे मेरे प्राण अघा गए। 'प्रेम-पथिक' में सात्त्विकता थी; जीवन की संवेदना भी थी परंतु रसानुभूति की मात्रा कम थी। 'झरना'—जैसा उसका नाम उन्होंने दिया—उमड़ते हृदय से फूटकर वह निकला था। 'प्रसाद' उस वयःसंधि में थे, जब उस परम प्रेम की साधना स्वयं किसी के प्राणों को छूकर उसके अंधेरे हृदय को प्रकाशित

करने से, अपने को किसी पर लुटाने से ही संभव होती है। 'झरना' का समर्पण ही उसकी भूमिका है :

हृदय ही तुम्हें दान कर दिया।
क्षुद्र था, उसने गर्व किया।
तुम्हें पाया अगाध, गंभीर।
कहां जलबिंदु, कहां निधिक्षीर॥
हमारा कहो न अब क्या रहा ?
तुम्हारा सब कब का हो रहा।
तुम्हें अर्पण; और वस्तु त्वदीय ?
छीन लो छीन, ममत्व मदीय।

तुम्हें ही मैंने हृदय ही दान कर दिया था, परंतु वह क्षुद्र था, इसलिए उसने गर्व किया......अब हमारा क्या रह गया है ? जो कुछ था, वह तो कभी से तुम्हारा हो रहा है। तुम्हें क्या अर्पण करूं तुम्हारी ही वस्तु ? मुझ से मेरा यह ममत्व छीन लो।

रवि ठाकुर ने भी एक दिन निवेदित होकर गाया था—

आमार माथा नत करे दाओ, हे तोमार चरण धूलार तले।
सकल अहंकार हे आमार, डुबाओ चोखेर जले॥
(तेरी चरण-धुलि के नीचे सिर मेरा नत हो जाए।
अहंभाव मेरा तेरी आंखों के जल में बह जाए॥)

यह आत्मार्पण ही श्रेष्ठ जीवन है और महत् काव्य की पृष्ठभूमि है। यही वह जिज्ञासा है जो प्रकाश की ओर ले जाती है; वह करुणा है जो मृदुल स्पर्श से हमें आर्द्र एवं द्रवीभूत करती है। ये पंक्तियां निश्चय ही प्रेम की मंजुल देहरी पर जीवन के विराट् अंकन को, कलेजा मथते हुए लिखी गई होंगी :

जिज्ञासा :

कौन प्रकृति के करुण-काव्य-सा, वृक्षपत्र की मधु छाया में।
लिखा हुआ-सा अचल पड़ा है, अमृत-सदृश नश्वर काया में ?
किसके अंतःकरण-अजिर में, अखिल व्योम का लेकर मोती,
आंसू का बादल बन जाता, फिर तुषार की वर्षा होती ?

समाधान :

जिज्ञासा का उत्तर भी कवि देता है :

किसी हृदय का यह विषाद है, छेड़ो मत यह सुख का कण है।
उत्तेजित कर मत दौड़ाओ, करुणा का यह थका चरण है।

इस प्रकार कवि प्रेम की साधना में आगे बढ़ गया है परंतु विवशता यह है कि आत्मार्पण अब भी नहीं कर पाता है; मन में अब भी द्विधा है,

अभिमान है। वह इसे अनुभव करता है और रो कर कहता है :

प्रणयी-प्रणत बनूं मैं क्योंकर, दुर्बलता निज समझ क्षोभ से,
जीवन-मदिरा कैसे रोकर भरूं, पात्र में तुच्छ लोभ से ?
हाय ! मुझे निष्किंचन क्यों कर डाला रे मेरे अभिमान।
वही रहा पाथेय तुम्हारे इस अनंत पथ का अनजान।
बूंद-बूंद से सींचो, पर ये भीगेंगे न सकल अणु तुम से।
खोजो अपना प्रेम-सुधाकर, प्लावित हो अब शीतल हिम से।

'आंसू' तक आते-आते 'प्रसाद' ने स्वरूप-दर्शन कर लिया था। 'आंसू' में उनका निजत्व सबसे अधिक है। यह उनके जीवन के संचित रस से उद्भूत हुआ है। यह उनके अपने भोगे हुए जीवन का प्रसाद है। 'आंसू' की रचना की भी एक कहानी है।

'आंसू' की रचना कैसे हुई ? मैं बता चुका हूं कि 'प्रसाद' अपनी प्रथम पत्नी को बहुत चाहते थे। उनको पाकर वह पूर्ण संतुष्ट थे। अपने संघर्षमय जीवन में इस पत्नी के कारण उन्होंने आश्वासन प्राप्त किया। वह सुदर्शन थीं, विदुषी थीं, समझदार थीं। उनसे 'प्रसाद' का पूर्ण मतैक्य था। उन्हीं को लेकर उन्होंने अपनी कल्पना सृष्टि सजाई थी। इसलिए उनके मरने पर 'प्रसाद' बड़े बेहाल हो गए थे। उनका कहीं मन नहीं लगता था। सदा उन्हीं की बात सोचा करते थे। एकांत में रहने लगे थे—गुम-सुम। उन्होंने पत्नी को बचाने के लिए बड़ी दौड़-धूप की थी; काफी चिकित्सा-व्यवस्था की थी परंतु उन्हें राजयक्ष्मा हो गया। उस जमाने में राजयक्ष्मा सबसे भयंकर और प्रायः असाध्य माना जाता था। प्राणवायु सेवन के लिए उन्हें पिशाच-मोचन के पास एक बाग में रखा गया किंतु अंत में सब निष्फल हुआ। इस वज्रपात से 'प्रसाद' बिल्कुल श्रीहत हो गए और उनका लिखना-पढ़ना सब छूट गया।

मैथिलीशरण गुप्त प्रायः प्रति वर्ष राय कृष्णदास के यहां आकर कई-कई दिनों तक रहते थे। वह 'प्रसाद' के भी अन्यतम मित्र थे। जब वह काशी आए तो 'प्रसाद' से मिलने गए। उनकी दुरवस्था देख बड़े दुखी हुए और आश्वासन देते हुए बोले : 'तुम कवि हो। पत्नी वियोग में इस प्रकार रोते और आंसू बहाते हो ? जानते हो, कवि के अश्रु बिंदु कितने मूल्यवान होते हैं ? फिर तुम्हारे आंसू बहाने से तुम्हारी प्रियतमा की आत्मा भी अशांत हो कर भटकती रहेगी, उसे शांति नहीं मिलेगी।'

'प्रसाद' ने कहा : 'सब कुछ जानता और समझता हूं परंतु उसकी स्मृति किसी तरह नहीं भूलती। जब थोड़ी देर रो लेता हूं तो आंसू निकल जाने पर कुछ संतोष होता है।'

मैथिलीशरण : 'यदि ऐसी बात है तो उनकी स्मृति में निकलने वाले इन

आंसुओं को कविता में अमर कर दो और उनकी याद को चिरस्थायित्व प्रदान करो। इसमें तुम्हें संतोष होगा और उनकी आत्मा को भी शांति मिलेगी।'

प्रसाद : 'कहते तो ठीक हो। मैं भी कुछ इसी प्रकार सोचता और करना चाहता हूं किंतु मेरी अक्ल ठिकाने नहीं है। मेरी शक्ति कुंठित हो रही है। कोई रास्ता नहीं सूझता कि कैसे क्या करूं ? तुम्हीं कोई रास्ता बताओ तो मैं उस पर चलने का यत्न करूंगा।'

इस पर दोनों चुप हो गए। फिर मैथिलीशरण कुछ देर गुनगुनाते रहे। बोले, देखो, एक पद बन गया है :

जो घनीभूत पीड़ा थी,
मस्तक में स्मृति-सी छाई।
दुर्दिन में आंसू बन कर,
वह आज बरसने आई॥

इसी राह पर चलो; गंतव्य पर पहुंच जाओगे। अपने आंसुओं को काव्य की भूमि पर प्रवाहित करो।

मैथिलीशरण की सलाह मानकर 'प्रसाद' ने इसी छंद में अपने भावों को गूंथना शुरू कर दिया। विदग्ध हृदय अपने को प्रभावित करने लगा। तुरंत ही 'प्रसाद' ने दूसरा पद करा :

इस करुणा-कलित हृदय में,
अब विकल रागिनी बजती।
क्यों हाहाकार स्वरों में,
वेदना असीम गरजती।

इस प्रकार हुआ 'आंसू' का आरंभ। 1923 ई० जब वह इसे लिख रहे थे तभी बीच-बीच में अपने मुख से रोज बने छंद मुझे सुनाते थे। उन दिनों मैं उन्हीं के मकान में, उनके भवन के बिल्कुल निकट रहता था। अक्सर भोजनादि के बाद मुझे आवाज देते; मैं और वह उनकी बैठक में चले जाते और मैं छेड़-छेड़ कर उनसे ताजे पद सुनाने के लिए कहता। वह सुनाते। आज तक मेरी डायरी में उस समय के बहुतेरे छंद लिखे हुए हैं। आरंभ में इनका वह क्रम भी न था, जो प्रथम संस्करण में दिखाई पड़ा।

'आंसू' का प्रथम संस्करण मैथिलीशरण की देख-रेख में ही छपा था और बहुत ही मामूली ढंग से प्रकाशित किया गया था। परंतु यह दीखने में अशोभन लघुकाय काव्य ऐसा लोकप्रिय हुआ, जैसा उनका कोई काव्य नहीं हुआ था। अनेकानेक हिंदी कवियों ने 'आंसू' के छंद और लय पर कविताएं लिखीं। जैसे एक दिन 'भारत-भारती' की हरिगीतिका अपनाई गई थी उसी तरह 'आंसू' एक छंद ही हिंदी में चल पड़ा।

'आंसू' की लोकप्रियता का पहला कारण तो यह था कि उसमें 'प्रसाद' का भोगा हुआ यथार्थ तीव्र वेदना-व्यथा के रस से आलोड़ित होकर प्रकाश में आया था। इसमें उनके निजत्व की अभिव्यक्ति थी। दूसरा कारण यह था कि उर्दू गजल की तरह वह पाठक में उसकी अपनी प्रेमल स्मृतियों को ऊर्जस्वित करती थी और उसके पढ़ने में उसे निजत्व की अनुभूति होती थी। 'आंसू' कवि के यौवन का प्रतिनिधि काव्य है। वह उसकी आत्माभिव्यक्ति है। उसके जीवन में जो कुछ आवेदन-निवेदन है, जो कुछ मृदुता-मनोरमता है, उसके दर्शन हमें यहां होते हैं। गहरी संवेदनाओं के बीच लिखी होने के कारण इन कविताओं में 'प्रसाद' के यौवन की संपूर्ण खुमारी है। यह कवि के जीवन की वास्तविक प्रयोगशाला का आविष्कार है। विरह काव्य होने के कारण इसमें जो गहरी वेदना है, उसी से यह अमर है। परंतु 'प्रसाद' के जीवन के पीछे एक दर्शन भी है। एक जिज्ञासा और आध्यात्मिक दृष्टि उनमें शुरू से रही है। 'आंसू' की विशेषता यही है कि उसमें व्यक्त और पूरित वेदना केवल रोदन और जलन में नहीं समाप्त हो जाती। यह वेदना जीवन से समझौता करती है और अपने ऊपर उठकर जगत् को जीवन देती है; स्वयं जलकर संसार का कल्याण करती है।

जब पहली बार 'आंसू' लिखा जा रहा था तो उसमें कोई क्रम नहीं था; ज्यों-ज्यों छंद बनते गए, लिखे जाकर एकत्र होते रहे। बाद को इसे एक रूप दिया गया। परंतु जिस रूप में 'आंसू' पहली बार प्रकाशित हुआ, उससे 'प्रसाद' का मन नहीं भरा। न बहिरंग, न अंतरंग ऐसा था कि उनकी वेदना और जिज्ञासा, हृदय और मस्तिष्क, रसमयता एवं दर्शन दोनों वृत्तियां संतुष्ट होतीं। पहले संस्करण में गत वैभवपूर्ण विलास के स्मरण में कवि का रोदन है; उसमें वेदना की विवृति मात्र है। धीरे-धीरे मन स्थिर होने पर कवि ने उस वेदना का मंथन किया और अमृत निकाल कर जगत् के सामने रख दिया। दो-तीन वर्ष में, स्थिर होने पर, उन्होंने अपने इस काव्य का संस्कार किया; अनेक नए पद लिखे। यौवन के व्यामोह के व्यतीत हो जाने पर 'प्रसाद' को स्मरण आया कि विषपान से ही शिव के शिवत्व की साधना पूर्ण होती है। जीवन में वेदना का यही महत्त्व है। वह जलती है कि औरों का पथ प्रकाशित हो। ऐसी वेदना और ऐसी ज्वाला जिसके जीवन में जगती है, वही महान् होता है और जब एक बार यह जग जाती है तो फिर बुझती नहीं और जब निशांचल में हिमकर थक कर सो जाते हैं और अस्ताचल की घाटी दिनकर को आत्मसात् कर लेती है, जब आकाश-गंगा की धारा में नक्षत्र डूब जाते हैं और कादम्बिनी के कारागृह में बिजली बंद हो जाती है, तब भी :

मणिदीप विश्व-मंदिर की,

पहिने किरणों की माला।
तुम एक अकेली तब भी,
जलती हो मेरी ज्वाला।...
इस व्यथित विश्व-पतझड़ की,
तुम जलती हो मृदु होली।
हे अरुणे! सदासुहागिनि,
मानवता-सिर की रोली।
जीवन-सागर में पावन,
बड़वानल की ज्वाला-सी,
यह सारा कलुष जलाकर,
तुम जलो अनल-बाला-सी।
जग द्वंद्वों के परिणय की,
हे सुरभिमयी जयमाला!
किरणों के केसर-रज से,
भव भर दो मेरी ज्वाला।...
जगती का कलुष अपावन,
तेरी विदग्धता पावे,
फिर निखर उठे निर्मलता,
यह पाप पुण्य हो जावे।

जो प्रेम जीवन की शक्ति है, जो जीवन की मुक्ति है, उसके दर्शन हमें यहां होते हैं। समस्त प्रसाद साहित्य इसी सत्य की व्याख्या है।

'प्रसाद' की मित्र मंडली

'प्रसाद' के यहां नित्य बैठक जमती थी। सुबह अपने कामकाज को देखने के बाद मंदिर वाले बगीचे के पश्चिम-दक्षिण की ओर स्थित बरामदे में वह आठ, साढ़े आठ बजे आ जाते थे। यहां छोटे-बड़े हर तरह के परिचित लोग आते और बैठते। इसमें समय-समय पर कवि—चक्रवर्ती पं० देवीप्रसाद शुक्ल, ईश, दुर्गाप्रसाद (अभिनेता और नाटक लेखक), 'उग्र', बेढब बनारसी, विनोद-शंकर व्यास, वाचस्पति पाठक, प्रो० ब्रजमोहन लाल साहनी, नन्ददुलारे वाजपेयी, विश्वम्भरनाथ जिज्जा, रूपनारायण पाण्डेय, निराला, शांतिप्रिय द्विवेदी आदि शरीक होते रहते थे। मुहल्ले के पंडित-पुजारी तथा अन्य लोग भी अक्सर आ जाते थे। यहां हर तरह की चर्चा होती, गप्पें लगतीं, हंसी, व्यंग्य और कह-कहों का बाजार गर्म होता। अक्सर जब कोई बहस छिड़ जाती तो 'प्रसाद' मुस्कराते और विनोदपूर्ण आंखों से सब देखते रहते; बोलते बहुत कम, बस,

कभी-कभी व्यंग्य भरी चुटकी ले लेते। घनिष्ठ साहित्यिक मित्रों या आगंतुकों से प्राय: तीसरे पहर अपने मकान की बैठक में मिलते थे।

शाम सात बजे के बाद बैठक नारियल बाजार वाली दुकान के सामने वाले चबूतरे पर लगती। यहां मैंने बड़े-बड़े साहित्यकारों और गुणीजनों को आकर थोड़ी देर बैठते देखा है। जो उनकी विचारधारा के नहीं थे, वे भी 'प्रसाद' की सहृदयता से खिचकर कभी न कभी आया ही करते थे। यहां मैंने लाला भगवान दीन, बाबू जनन्नाथ दास रत्नाकर, पं० केशव प्रसाद मिश्र, पं० रामचन्द्र शुक्ल, बाबू रामचन्द्र वर्मा, पं० कृष्ण विहारी मिश्र—जैसे लोगों को भी देखा है। निराला, नन्ददुलारे वाजपेयी, विनोदशंकर व्यास, शिवपूजन सहाय, बेनीपुरी, बेढब बनारसी, वाचस्पति पाठक, प्रवासीलाल वर्मा इत्यादि तो अक्सर आते रहते थे। 9-10 बजे तक का यह समय स्वर्गीय आनंद के साथ गुजरता था। यह एक प्रकार की अनौपचारिक साहित्यिक गोष्ठी थी।

परंतु ये जितने लोग थे, वे 'प्रसाद' के घनिष्ठ परिचय में आते हुए भी उनके मित्र नहीं कहे जा सकते। 'प्रसाद' में एक तटस्थता, एक गम्भीरता थी जो भीड़ में शामिल होने पर भी उन्हें भीड़ से सदा अलग रखती थी; अंतर्मन् तक जो मित्रता प्रविष्ट हो जाती है, वह उनमें प्राय: नहीं थी। इसी लिए उनकी घनिष्ठ मित्र मंडली में या तो कोई था नहीं या एकाध ही जन थे।

उनके सबसे पुराने मित्र और सखा हैं राय कृष्णदास। उनके सबसे पुराने जीवित बाल्यकालीन सहपाठी हैं, काशी के ही पं० श्रीकृष्ण शुक्ल, जो राय साहब से भी पहले चेतगंज की एक प्रारंभिक शाला में 'प्रसाद' के साथ पढ़ते थे और उन्हें उनके प्रारंभिक जीवन में आने का अवसर मिला था। शुक्ल जी लाला भगवान दीन जी के प्रारंभिक शिष्य और सहयोगी रहे और उनके समय में तथा उनके बाद भी उन्होंने हिंदी साहित्य की नियमित शिक्षा देने का क्रम जारी रखा। हिंदी पर्यायवाची कोश उनकी प्रसिद्ध रचना है।

राय कृष्णदास से 'प्रसाद' का परिचय 1906 ई० से हुआ, जब दोनों स्कूल में पढ़ते थे। 1908 ई० में दोनों का परिचय मित्रता में परिवर्तित हो गया। आजीवन दोनों आत्मीय और मित्र रहे। राय साहब पहले उन्हें नाटककार के रूप में ही प्रधानता देते थे। कई बार उन्होंने मुझसे बातें करते हुए अपना यह मत व्यक्त किया है किंतु 'कामायनी' के प्रणयन के बाद उन्होंने मेरा यह मत मान लिया कि 'प्रसाद' महाकवि हैं और कवि रूप में प्रधान हैं।

शुक्ल जी और राय साहब के पास 'प्रसाद' की अगणित स्मृतियां सुरक्षित हैं। राय साहब ने तो अपने परिचय और मित्रता की कहानी के कुछ अंश लिख कर प्रकाशित भी कराए थे किंतु न जाने क्यों अंतरंग संस्मरणों की वह लेख-माला बंद हो गई? उनसे उनके आरंभिक जीवन पर पर्याप्त प्रकाश पड़ा

था और आशा थी कि किशोर तथा यौवनकाल की स्मृतियां और भी रमणीय तथा उद्घाटक होंगी। मैंने एकाध बार उनसे अनुरोध भी किया परंतु वह अस्वस्थता तथा व्यस्तता के कारण आगे कुछ न लिख सके। यदि कोई सज्जन राय साहब के पीछे पड़ जायं और बैठकर उनसे नोट ले लें तो कार्य हो सकता है।

राय साहब मैथिलीशरण के अभिन्न मित्र रहे हैं। गुप्त जी अकेले या स्व० मुंशी अजमेरी जी के साथ प्रायः प्रति वर्ष वाराणसी आया करते थे और लंबे अर्से तक राय कृष्णदास के यहां ठहरते थे। राय साहब के ही माध्यम से पहली बार 1911 ई० में 'प्रसाद' का मैथिलीशरण से परिचय हुआ, और धीरे-धीरे वह घनिष्ठता में परिवर्तित हो गया; तीनों अभिन्न मित्र-से बन गए। जब-जब मैथिलीशरण जी वाराणसी आते, तीनों की खूब छनती। इनमें कभी-कभी अजमेरी जी और 'प्रसाद' के दूसरे अन्यतम मित्र स्व० केशव जी भी मिल जाते। केशव जी भी 'प्रसाद' की भांति गंभीर स्वभाव के थे; कम बोलते थे परंतु संस्कृत साहित्य एवं भाषा विज्ञान के गहरे अध्येता थे। विनोद करने और चुटकी लेने में अद्वितीय थे। सहृदयता में उन जैसा दूसरे को मैंने पाया नहीं। बाद में वह काशी विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग के अध्यक्ष हो गए थे। वह उन गंभीर विद्वानों में थे जिनकी परंपरा का आज लोप हो गया है। दुःख यही है कि अपने आत्म संतुष्ट एवं आलसी स्वभाव के कारण वह हिंदी को उसका शतांश भी नहीं दे गए, जो दे सकते थे।

मैथिलीशरण के साथ 'प्रसाद' का संबंध, राय कृष्णदास की मैत्री की भांति ही घनिष्ठ होता गया। 'प्रसाद' पत्र बहुत कम लिखते थे किंतु यौवन-काल में वह मैथिलीशरण को प्रायः पत्र लिखा करते थे। एक बार मैथिली-शरण कहीं यात्रा में बाहर चले गए थे और उनके छोटे भाई तथा प्रतिभा-शाली कवि सियारामशरण भी नहीं थे। अपने कई पत्रों का उत्तर न मिलने पर 'प्रसाद' ने उन्हें निम्नलिखिल मनहरण छंद लिख भेजा :

तेरे स्मृति-सौरभ में मृग-मन मस्त रहे,
यही है हमारी अभिलाषा सुन लीजिये।
शीतल हृदय सदा होता रहे आंसुओं से,
छिपिए उसी में, मत बाहर हो भीजिये।
हो जो अवकाश कभी, ध्यान आवे मेरा तुम्हें,
ए हो प्राणप्यारे ! तो कठोरता न कीजिये।
हर्ष से, विषाद से हो अथवा पूर्व प्रीति से,
किसी भी बहाने से तो याद किया कीजिये।

संयोगवश यह अंतिम पत्र बाहर से घर आने पर, तांगे से उतरते ही डाकिए

द्वारा मैथिलीशरण को मिला। वह, स्त्री से, संचित सब डाक लेकर उसी तांगे से स्टेशन लौटे और काशी के लिए रवाना हो गए तथा काशी आते ही सबसे पहिले 'प्रसाद' से जाकर गले मिले और पत्र का जवाब न आने की स्थिति से उन्हें अवगत कराया।

यह घटना मैंने यह दिखाने के लिए लिखी है कि यौवनकाल में दोनों कितने निकट आ गए थे किंतु बाद में कितने खिंच गए।

उन दिनों वाराणसी में विद्वानों, साहित्यकारों, कवियों का जमघट था। 'हरिऔध' जी तथा 'रत्नाकर' जी के कारण भी बड़ी चहल-पहल थी। एक बार राय कृष्णदास, मैथिलीशरण तथा 'प्रसाद' शिवाला मुहल्ले में स्थित जगन्नाथ दास रत्नाकर के मकान पर उनसे मिलने गए। 'रत्नाकर' जी कविता जल्द सुनाते न थे परंतु रसिक-श्रोता प्राप्त होने पर जब सुनाने लगते तो लगता वाणी की धारा दीर्घकाल तक बहती रहेगी। एक बार छेड़ दिए जाने पर उनके मुख से निकलने वाली ब्रजवाणी की मधुरिमा समाप्त होने का नाम न लेती थी। इस बार भी ऐसा ही हुआ; वह कविता सुनाने लगे तो सुनाने ही लगे। मैथिलीशरण जी ऊबने लगे किंतु शिष्टाचारवश कुछ कह न पाते थे। 'प्रसाद' ने ताड़ लिया और बीच में ही निवेदन कर दिया : 'अब आप अंत में अपना वह कवित्त सुना दें : 'चुप रहो ऊधो, सूधो पथ मथुरा को गहो'। उसे सुनाना था कि प्रसाद ने कहा : 'इसमें आपने कलम तोड़ दी है। अब इसके आगे कुछ सुनने को जी नहीं चाहता।' बाहर आए तो गुप्त जी ने 'प्रसाद' की पीठ ठोंक दी और बोले : 'मान गया भाई ! ऊधो को ख़ूब चुप कराया तुमने।'

परंतु जीवन में परिस्थिति कैसे-कैसे रंग बदलती है। जब दुलारेलाल भार्गव ने 'सुधा' निकाली तो 'प्रसाद' ने उधर ध्यान न दिया। फलतः वह नाराज थे। बाद में मैथिलीशरण के सान्ध्यि एवं स्नेहछाया में रहने वाले सुलेखक कृष्णानन्द गुप्त ने 'सुधा' में प्रसाद की रचनाओं को लेकर विरोधी लेखमाला प्रकाशित कराई। 'प्रसाद' बाहरी आलोचनाओं की कभी परवा न करते थे; परंतु मैथिलीशरण का हाथ समझ मैत्री के नाते, उन्हें बुरा जरूर लगा। उन्होंने कुछ कहा नहीं किंतु बात लग गई थी। मैथिलीशरण काशी आए तो भी पूर्ववत् गोष्ठियां हुईं; सैर-सपाटे हुए। एक दिन की बात है कि राय कृष्णदास, मैथिलीशरण, 'प्रसाद' सब गंगा स्नान के लिए गए। कृष्णदास, मैथिलीशरण तो पानी में उतर गए किंतु 'प्रसाद' तट पर ही बैठे रहे। उनका विचार नहाने का नहीं था; सिर्फ साथ देने के लिए चले गए थे। कृष्णदास और मैथिलीशरण उन्हें पानी में आने को कह रहे थे परंतु 'प्रसाद' आनाकानी कर रहे थे। मैथिलीशरण ने कहा : 'सीधे नही आओगे तो मैं पानी उछाल कर तुम्हें भिगो दूंगा।' 'प्रसाद' के मन में कृष्णानन्द वाली बात तो थी ही। झट

उन्होंने व्यंग्य किया : 'और क्या करोगे तुम ? जितनी इच्छा हो पानी और कीचड़ उछालो ।' मैथिलीशरण समझ गए कि उनकी ओर से गलतफहमी का मौका दिया गया है, इसलिए चुप हो गए ।

आज न मैथिलीशरण हैं, न 'प्रसाद' हैं, इसलिए दोनों की तुलना कुछ बहुत अच्छी नहीं लगती किंतु इतना निश्चित है कि 'प्रसाद' की अभूतपूर्व काव्य-प्रतिभा पर मैथिलीशरण आह्लादित नहीं थे । एक प्रकार की प्रतिद्वंद्विता का भाव उनमें घर कर गया था । जिन दिनों 'प्रसाद' कामायनी लिख रहे थे, उन्हीं दिनों की बात है । लंबे अर्से तक रहने का कार्यक्रम बनाकर मैथिलीशरण काशी आए थे । उनका 'साकेत' उस समय अधूरा था, एक दिन उन्होंने 'प्रसाद' से 'कामायनी' के कुछ अंश सुने और उसके विराट 'कैनवास', कल्पना, शब्द-शक्ति और वर्णन से अभिभूत हो गए । उनके मन में आया कि 'कामायनी' यदि पहले निकल गई तो 'साकेत' का साहित्य क्षेत्र में वह समादर न होगा, जो होना चाहिए । फलतः काशी में रहने का कार्यक्रम समाप्त करके वह बिना कोई कारण बताए, चिरगांव लौट गए और सब काम छोड़ 'साकेत' को जल्द पूरा करने में अपनी शक्ति लगा दी । प्रकारांतर से 'प्रसाद' ने उन्हें उत्तेजित कर दिया था । इस स्वस्थ प्रतियोगिता के कारण हिंदी को दो उत्कृष्ट महाकाव्य प्राप्त हुए ।

कवि और काव्य की दृष्टि से भले मतभेद हो किंतु एक इंसान और मित्र के रूप में 'प्रसाद' मैथिलीशरण से कहीं आगे थे । मैथिलीशरण-दल के आक्रमण के बावजूद उन्होंने आजीवन अपनी मित्रता कायम रखी; बल्कि मैथिलीशरण को अपनी एक श्रेष्ठ रचना समर्पित कर अपनी उदारता का सिक्का उन पर जमा दिया । उनकी उदारता, सहृदयता और प्रतिभा से, बाद में, मैथिलीशरण अभिभूत हो गए । 'प्रसाद' के देहावसान पर उन्होंने व्यथित होकर लिखा :

जयशंकर कहते-कहते ही, अब भी काशी जाएंगे ।
किंतु प्रसाद न विश्वनाथ का, मूर्तिमंत हम पाएंगे ।
तात, भस्म भी तेरे तनु की, हिंदी की विभूति होगी ।
पर हम जो हंसते जाते थे, रोते-रोते आएंगे ।

'प्रसाद' की मित्रता का स्तर बहुत ऊंचा था । वह जिसे मित्र बना लेते थे, उसके लिए हर तरह का त्याग करने को तैयार रहते थे । कृष्णदास को वह बहुत मानते थे । मैत्री एक प्रकार से प्रेम में बदल गई थी । उन्होंने राय साहब को अपनी कृति समर्पित भी की । यही नहीं, चूंकि साहित्य की प्रत्येक विधा में उनकी अद्भुत गति थी, जिन दिनों कृष्णदास जी रवीन्द्रनाथ की गीतांजलि से प्रेरित होकर 'साधना' के गद्यकाव्य लिख रहे थे, प्रसाद ने भी कुछ गद्य काव्य लिखे और कृष्णदास को दिखाया; कृष्णदास आशंकित हो उठे । उनकी झिझक देख कर, प्रसाद ने अपनी रचनाएं नष्ट कर दीं । राय साहब ने स्वयं ही इस घटना

का वर्णन करते हुए लिखा है :

'इन्हीं दिनों जयशंकर जी ने भी 'साधना' को देखा । उन्होंने भी उसे बहुत पसंद किया; केवल जुबानी ही नहीं । एक दिन आए, सुदामा की तरह कुछ छिपाए हुए । उसे बहुत छीना-झपटी और हां-नहीं के बाद बड़े हाव-भाव से उन्होंने दिखाया । उन दिनों उनकी ऐसी ही आदत थी कि अपनी रचनाएं दिखाने में बड़ा तंग करते थे । वह एक साफ-सुथरी छोटी-सी कापी थी, जिसमें बीस के लगभग गद्यगीत लिखे हुए थे । मैंने कइयों पर नजर दौड़ाई : सुंदर थे । एक संध्या-वर्णन अभी तक नहीं भूला । किंतु मैं उन दिनों बावला हो रहा था । मुझे अपनी शैली पर इतना ममत्व और आग्रह था कि जरा भी उदार नहीं होना चाहता था । मैंने छूटते ही कहा : 'क्यों गुरु ! मुझी पर हाथ फेरोगे ?' वे मेरी संकीर्णता पहचान गए । कई दिन बाद कोई मुनासिब बात कहकर उसे उठा ले गए ।'

फिर 'प्रसाद' ने कभी गद्यकाव्य को हाथ नहीं लगाया और सदैव कृष्णदास को ही प्रोत्साहित करते रहे ।

मित्र के लिए त्याग की यह वृत्ति 'प्रसाद' में अंत तक बनी रही ।

विरोध की आंधी में जलता निष्ठा का दीप

'प्रसाद' ने साहित्य की अपनी साधना में शुरू से ही विरोध के प्रहार झेले हैं । शुरू में तो घर के लोगों और भैया का ही विरोध था । उसे पार कर आगे बढ़े तो प्राचीनता ने नवीनता की अभ्यर्थना उपहास के साथ की । समय-समय पर इन्हें न जाने कितने विरोधियों के विरोध झेलने पड़े । बनारस के ही एक थे ज्वालाराम नागर 'विलक्षण' । उन्होंने तो एक कविता में उपहास करते हुए सलाह दी कि 'साहु जी ! कलम छोड़ बाप-दादों का पेशा अपनाइए और तराजू पकड़िए ।' विलक्षण जी से मेरा अच्छा परिचय था । उन्होंने 'तरंगिनी' नाम की एक पत्रिका निकालने में प्रमुख भाग लिया था । होमियोपैथिक दवाइयां भी दिया करते थे । मैंने कई बार उन्हें समझाया परंतु वह काव्य में किसी नवीन विधा का स्वागत करने के लिए कभी तैयार न हुए । उनके अतिरिक्त 'प्रसाद' को पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी, लाला भगवानदीन, पं० रामचन्द्र शुक्ल, मैथिलीशरण, प्रेमचन्द्र तथा दुलारे लाल इत्यादि की आलोचनाओं का सामना करना पड़ा । उन्होंने किसी को कभी प्रत्युत्तर नहीं दिया । उनकी वृत्ति खंडनात्मक नहीं, रचनात्मक थी । वह चुपचाप सरस्वती की आराधना में लगे रहे । यही उनका प्रत्युत्तर था । परिणाम यह हुआ कि प्रौढ़ावस्था आते-आते उनके अधिकांश आलोचक उनके प्रशंसक बन गए ।

'सरस्वती' की अनुदार और नवीनता-विरोधी वृत्ति के उत्तर में ही उन्होंने

1910 ई० में 'इन्दु' मासिक निकलवाया। इसकी सारी व्यवस्था, उनकी देख-रेख में, उनकी बड़ी बहिन श्रीमती देवकी के पुत्र अम्बिकाप्रसाद गुप्त करते थे। सदैव शिव-शिव करते रहने के कारण उनका नाम ही 'शिवशिव' पड़ गया था। उस काल के साहित्य में 'सरस्वती' की भांति ही 'इन्दु' का भी श्रेष्ठ स्थान है। 'सरस्वती' ने परिष्कार और परिमार्जन का काम किया तो 'इन्दु' ने रचना और निर्माण की नवीन उद्भावनाएं प्रस्तुत कीं। हास्य एवं व्यंग्य के आचार्य जी० पी० श्रीवास्तव, महाकाव्य 'रामचरित चिंतामणि' के रचयिता पं० रामचरित उपाध्याय, हरिवंश शर्मा काव्यतीर्थ, रूपनारायण पाण्डेय इत्यादि कितने ही साहित्यकारों को उसने प्रोत्साहित किया। किंतु उसकी सब से बड़ी देन तो स्वयं 'प्रसाद' ही हैं। इसमें वह निरंतर लिखते रहे। बाद में व्यय भार बहुत बढ़ जाने पर वह बंद हो गया। एक बार फिर निकला। 'प्रसाद' के जीवन के उत्तरकाल में अम्बिकाप्रसाद गुप्त ने उसे मेरे संपादकत्व में निकालने की घोषणा की थी किंतु प्रकाशन की कुछ ठीक व्यवस्था न हो सकने के कारण वह सब सपना ही रह गया।

'प्रसाद' को अपनी एक न एक पत्रिका निकालने की धुन थी। 'इन्दु' के अतिरिक्त 'गल्पमाला', 'जागरण', 'हंस' आदि उनकी प्रेरणा और सलाह से निकाले गए थे किंतु सब क्षणजीवी सिद्ध हुए और काल के प्रवाह में विलुप्त हो गए।

मेरे कहने का अभिप्राय यह कि जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोण रचनात्मक था। खंडन-मंडन, शास्त्रार्थ और झगड़ों से वह दूर रहते थे। अपने प्रशंसकों और शुभैषियों को भी अपनी ओर से बोलने को उत्साहित नहीं करते थे। 1927 ई० में प्रमुख छायावादी कवियों—प्रसाद, पन्त, निराला—के प्रति विद्वानों तथा पत्रिकाओं—द्वारा अपनाए गए अनुदार रुख से क्षुब्ध होकर मैंने हिंदी साहित्य सम्मेलन के मुजफ्फरपुर अधिवेशन में उसके अध्यक्ष स्व० पद्मसिंह शर्मा के भाषण के विरुद्ध वहीं लिखकर एक निबंध पढ़ा था। 'विशाल भारत' के संपादक पं० बनारसीदास चतुर्वेदी के आग्रह से मैंने नूतन छायावादी कवियों पर एक लेखमाला लिखने का निश्चय किया। स्वभावतः माला का प्रथम लेख 'प्रसाद' जी पर था। इसमें प्रसंगवश कई मूर्धन्य समीक्षकों के विषय में कुछ कर्कश संदर्भ थे। उस लेख को छापकर बड़ों में अप्रिय बनने की तैयारी चतुर्वेदी जी की नहीं थी। इसलिए उस लेख को उन्होंने 'प्रसाद' जी के पास उनकी राय जानने के लिए भेज दिया। भला 'प्रसाद' जी अपने विषय में चतुर्वेदी जी से क्यों कुछ कहते? वह मुझे उलाहना देते रहे कि तुम्हें इन सब झगड़ों में नहीं पड़ना चाहिए। आगे मुझे लिखने को मना भी कर दिया।

भावना और विचार दोनों में 'प्रसाद' अल्पावस्था से ही पुष्ट थे। उन्हें अपने और अपने भविष्य में पूर्ण विश्वास था। इसलिए न तो स्वयं, न मित्रों द्वारा ही किसी प्रकार के प्रचार की योजना को उन्होंने प्रोत्साहित किया। वह किसी सभा-सोसाइटी में भी नहीं जाते थे; न किसी कवि सम्मेलन में वा किसी मंच से कविता पढ़ते थे। केवल एक अपवाद है। काशी नागरी प्रचारिणी सभा के कोशोत्सव पर उन्होंने कविता पढ़ी थी।

साहित्य से अर्जन का प्रश्न

निरंतर विरोध और संघर्ष में उगने के कारण उनके काव्य में सर्वत्र जीवन की शक्ति और अरुणिमा है। जिस वैभव के बैकग्राउंड में वह जन्मे थे, वह तो उनकी रचनाओं में है ही परंतु जैसे जीवन में, वैसे ही अपनी कृतियों में भी वह सामंती संस्कृति के कुहासे को भेदकर ऊपर उठते गए हैं। आरंभ में तो अपनी रचनाओं के प्रकाशन का भार उन्होंने स्वयं ही उठाया और आर्थिक हानि भी सहन की। 'अजातशत्रु' के प्रथम संस्करण की न जाने कितनी प्रतियां दीमक से नष्ट हो गईं। 1910 से 1922 तक उन्होंने 'प्रेम-पथिक', 'चित्राधार', 'महाराणा का महत्त्व', 'विशाख', 'राज्यश्री', 'अजातशत्रु', 'झरना', प्रतिध्वनि', 'छाया' इत्यादि कृतियां हिंदी को दीं। यह उनका प्रारंभिक रचनाकाल है। मध्यकाल 1923 से 1929 तक माना जा सकता है। इसमें 'स्कन्दगुप्त', 'चन्द्रगुप्त', 'जनमेजय का नागयज्ञ', 'कामना', 'आकाशदीप', 'आंसू', 'कंकाल', 'एक घूंट' इत्यादि रचनाएं उन्होंने लिखीं। उत्तरकाल (1929-1937 ई०) में 'आंधी', 'तितली', 'ध्रुवस्वामिनी', 'इन्द्रजाल', 'लहर', 'कामायनी', 'काव्य और कला' तथा 'इरावती' (अपूर्ण) उनकी कलम से निकली रचनाएं हैं। जैसा मैं संकेत कर चुका हूं, आरंभ में अपनी अधिकांश रचनाओं के प्रकाशन का व्यय भार उन्होंने स्वयं उठाया। मध्यकाल के आरंभ में भी अपनी रचनाओं से आर्थिक लाभ उठाने की कोई कल्पना उनके मन में नहीं थी। उन्होंने कई रचनाएं अपने मित्रों या हितैषियों को प्रकाशनार्थ दे दी थीं। श्री रामचन्द्र वर्मा ने अपने साहित्य रत्नमाला कार्यालय से 'जनमेजय का नागयज्ञ' प्रकाशित किया था और पुस्तक भंडार, लहेरिया (बिहार) से बेनीपुरी ने 'कामना' प्रकाशित की थी। इनमें से किसी से उन्होंने कोई पैसा नहीं लिया, न और भी किसी से पैसा लेने का इरादा था।

एक दिन मैंने उनकी इस वृत्ति के विरुद्ध अनेक तर्क दिए और इस पर उनसे पुनर्विचार करने को कहा। कई दिनों तक बहस होती रही। वह इस ओर से निरपेक्ष थे किंतु उन दिनों मेरी आर्थिक स्थिति अच्छी न थी। 'आज' के संपादकीय विभाग में काम करने से बहुत कम पैसे मिलते थे; कुछ इधर-उधर फुट-

कर रचनाओं के प्रकाशन से मिल जाते थे। मेरी स्थिति को सुखद बनाने के लिए वह यथासंभव चेष्टा करते थे, जैसा कि वह अपने समस्त मित्रों एवं हितैषियों के हित संवर्द्धन के लिए सदैव ही सचेष्ट रहते थे। इसलिए जब मैंने उनके सामने यह तर्क रखा कि 'जब आप जैसे प्रतिष्ठित साहित्यकार अपनी रचनाओं के लिए पारिश्रमिक न लेंगे तो हमारी क्या गति होगी ? आप अपने व्यक्तिगत उपयोग के लिए भले पारिश्रमिक न लें किंतु जो मिले उससे अन्य लोकोपकारी कार्य कर सकते हैं या साधनहीन साहित्यकारों के लिए उससे ट्रस्ट बना सकते हैं।' मेरे तर्क का बल उन्होंने स्वीकार किया किंतु किसी प्रकार से मोल-तोल करना उनके वश की बात न थी। उनके अनन्य मित्र राय कृष्णदास ने भारती भंडार नाम की प्रकाशन संस्था चलाई तो उससे उनकी पुस्तकें प्रकाशित होने लगीं। बीच में स्व० विनोदशंकर व्यास के साथ भी प्रकाशन की बात चली और एकाध पुस्तकें उनके यहां से प्रकाशित भी हुई किंतु वह क्रम आगे नहीं चल सका। इस बात को लेकर विनोदशंकर जी रुष्ट भी हो गए। उन्होंने अपने लेखों में इस बात को लेकर 'प्रसाद' पर आक्रमण भी किया है। आज न 'प्रसाद' हैं, न विनोद हैं, किंतु मैं अधिकारपूर्वक कह सकता हूं कि 'प्रसाद' जी ने सदा विनोद का भला किया। उन्हें गलत जीवन मार्ग से हटाकर रास्ते पर लगाया; उन्हें साहित्य रचना के क्षेत्र में अग्रसर किया; उनकी कितनी ही रचनाओं का संशोधन किया। किंतु उन्हीं विनोद ने उनकी मृत्यु के उपरांत उन पर अनेक भद्दे आक्षेप किए, जो नितांत असत्य थे।

निष्कर्ष यह कि 'प्रसाद' जी में अपनी रचनाओं से आर्थिक लाभ उठाने की इच्छा न थी। इस विषय में वह उदासीन थे। इसी उदासीनता के कारण जब भारती-भंडार न्यूजपेपर्स लिमिटेड, इलाहाबाद में, राय कृष्णदास की सहमति से, मिल गया तो भी शर्तनामे की शर्तों पर बिना गंभीर विचार किए उन्होंने हस्ताक्षर कर दिए। इस शर्तनामे की कई धाराओं को लेकर प्रकाशक एवं 'प्रसाद' जी के पुत्र श्री रत्नशंकर में मुकदमेबाजी की नौबत आई।

'प्रसाद' जी की एक इच्छा जरूर थी कि उनकी रचनाएं सुदर्शन ग्रंथावली के रूप में निकाली जाएं किंतु उनकी वह कामना आज तक अपूर्ण है। जब संपूर्णानन्द जी उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री थे तब उन्होंने इच्छा प्रकट की थी कि दस लाख रुपये एकमुश्त देकर 'प्रसाद' जी की रचनाओं का अधिकार शासन हस्तगत कर लें और उनके सुदर्शन संस्करण प्रकाशित करें। इस पैसे तथा बिक्री की आय से वाराणसी में प्रसाद-प्रतिष्ठान स्थापित हो। कानूनी तथा अन्य बाधाओं के कारण उनकी वह इच्छा पूरी नहीं हुई।

जीवन विधि : जहां तक व्यक्तिगत जीवन की बात है, 'प्रसाद' सहृदय और सरल थे किंतु इसके साथ ही बड़े व्यावहारिक भी थे। मर्यादा का उल्लंघन न

स्वयं करते थे, न किसी से उसका उल्लघंन किया जाना पसंद करते थे। जहां वह एक समर्थ कवि, एक उच्च कहानी-लेखक, श्रेष्ठ नाटककार और शक्तिमान निबंध लेखक थे, वहीं अपने तंबाकू, सुर्ती-जर्दे के व्यवसाय में भी निपुण थे। वहां का सब काम उनकी देख-रेख में होता था। वह बैठे हैं, गुलकंद बन रहा है, इत्र निकाला जा रहा है। एक से एक चीजें वह बनाते थे किंतु उनका हृदय व्यवसाय में न था। इसलिए पैतृक व्यवसाय में उन्नति नहीं की और उनके यहां काम करने वाले कई व्यक्ति अलग व्यवसाय करके लक्षाधीश बन गए। साहित्य एवं पुरातत्व की ओर उनकी स्वाभाविक रुचि थी और किशोरावस्था से ही इस क्षेत्र में, उनकी प्रतिभा के दर्शन होने लगे थे। उसी काल में लिखा 'चन्द्रगुप्त मौर्य' पर उनका निबंध उनकी गहरी प्रज्ञा और अन्वेषण वृत्ति का द्योतक है। उस काल में कवि– चक्रवर्ती देवीप्रसाद शुक्ल, केशव जी, राय कृष्णदास, मैथिलीशरण इत्यादि की मित्रमंडली में प्रसाद जी हिंदी में आशु कविता करते तथा कभी-कभी विविध छंदों में वार्तालाप भी करते थे। उनकी यही क्षमता विकसित होती गई और हमारे साहित्य में उनका विशिष्ट स्थान सुरक्षित हो गया।

रवीन्द्रनाथ को प्रत्युत्तर : 'प्रसाद' जी स्वभावतः गंभीर थे; बहस-मुबाहिसे में बहुत कम पड़ते थे और प्रायः चुप रहकर गुरुजनों की बातें सुनते थे। किंतु असत्य या अन्याय होते देख वह बड़े से बड़े को भी उत्तर देने में हिचकते नहीं थे। उनको अपनी महत्ता का भान था और जरा भी हीन भावना उनमें नहीं थी। मुझे ऐसा ही एक प्रसंग याद आता है। एक बार की बात है कि रवीन्द्रनाथ वाराणसी आए हुए थे और हिंदू विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग के अध्यक्ष प्रो० अधिकारी के यहां ठहरे थे। उन दिनों, जैसा कि पर्याप्त मात्रा में आज भी, बंगाली साहित्यकार हिंदी के प्रति बड़ी उपेक्षा का भाव रखते थे। जलधर सेन ने तो 'शनिवारेर चिठि' में हिंदी के प्रति अपनी तुच्छ वृत्ति को कई बार व्यक्त किया था। उनमें हिंदी साहित्य के अध्ययन की ओर जरा भी रुचि नहीं थी। हां, राष्ट्रीय आंदोलनों में पड़े लोग यदा-कदा दबी जबान से हिंदी का समर्थन करते थे। ऐसी ही पृष्ठभूमि में रवीन्द्रनाथ का आगमन हुआ था।

'प्रसाद' जी बिना बुलाए किसी के यहां जाते नहीं थे किंतु राय कृष्णदास के आग्रह से वह रवीन्द्रनाथ से मिलने गए। सब का परिचय कवि ठाकुर से कराया गया। धीरे-धीरे कई विषयों पर बातें हुईं। साहित्य और हिन्दी भाषा का प्रश्न किसी ने पूछ लिया। रवीन्द्रनाथ ने कहा : 'वह बड़ी परुष भाषा है।' लोग चुप रहे; इतने बड़े आदमी का क्या जवाब देते। किंतु 'प्रसाद' से रहा नहीं गया। वह बोल ही उठे : 'अंशतः आपकी बात ठीक है किंतु क्या कभी आपने विचार किया है कि ऐसा क्यों है? बात यह है कि यह राष्ट्र के 'मासेसज'

की भाषा है। इसमें ग्रामीण वातावरण में फैला भारतीय तत्त्व है : अनगढ़ पौरुष का स्वर है और ग्रामों की अकृत्रिम सुगंध है। यह कोई दरबारी भाषा नहीं, इसीलिए इसमें कृत्रिम मार्दव के तत्त्व कम हैं।' जब वह बोल रहे थे तब मुझे ऐसा लग रहा था कि उत्तर और मध्य भारत की मिट्टी की सुगंध वातावरण में फैल गई है। बात सच थी; रवीन्द्रनाथ चुप हो गए।

कभी पुरस्कार नहीं लिया : 'प्रसाद' जी की एक और विशेषता यह थी कि वह कभी किसी पुरस्कार के आकांक्षी नहीं हुए। हिंदुस्तानी एकादमी और नागरी प्रचारिणी सभा दोनों के पुरस्कार उन्होंने नागरी प्रचारिणी सभा को भेंट कर दिए।

वह सुरुचिसंपन्न पुरुष थे। सुरुचि के साथ सादगी उनके जीवन में मिल गई थी। असहयोग आंदोलन का कुछ प्रभाव उन पर था। वह प्रायः खादी या भागलपुरी या अंडी सिल्क का इस्तेमाल करते थे। सुबह प्रायः लुंगी पहन कर टहलते थे और अंगोछा या लूंगी पहन कर रोज घंटा भर तेल की मालिश कराते थे। चमेली का तेल उन्हें ज्यादा पसंद था; मालिश और शिरोमर्दन दोनों के लिए वह प्राय: इसी का प्रयोग करते थे। स्नान करके थोड़ी देर शिवोपासना करते थे। बिना शिव का प्रसाद पाए वह कुछ भी ग्रहण न करते थे। स्नान-भोजन के बाद थोड़ी देर विश्राम करते थे। फिर व्यवसाय व काम कराते या लिखते-पढ़ते थे।

शाम को गर्मी के दिनों में सिल्क, मलमल या पतली खादी का कुर्ता, शांतिपुरी धोती, गांधी टोपी पहन कर निकलते थे। हाथ में चांदी की मूंठ का एक डंडा होता था। बाद में चश्मा भी लगाने लगे थे। बड़ा सुदर्शन रूप था उनका। बीच में सुबह बेनिया बाग (विक्टोरिया पार्क) में घूमने लगे थे। यहीं अक्सर प्रेमचन्द जी मिल जाते थे। दोनों में मनोरंजक बातें होती थीं। एक बार प्रेमचन्द जी ने उनके नाटकों को पढ़कर कहा : 'अम्यां ! क्या गड़े मुर्दे उखाड़ते हो ? आज के जीवन और उसकी समस्याओं पर लिखो; कुछ धरती की बात करो, स्वर्ग को छोड़ो।' प्रसाद जी मुस्करा कर रह गए; कुछ बोले नहीं। बाद में 'कंकाल' और 'तितली' लिखकर उन्होंने प्रेमचन्द को चकित कर दिया।

मैं पहले कह चुका हूं कि 'प्रसाद' अपने मित्रों तथा हितैषियों के हित संवर्द्धन का सदैव ध्यान रखते थे। यह बात मैं अपने अनुभव से कह रहा हूं। मेरी उन्नति तथा सहायता के लिए वह सदा तत्पर रहते थे और इसीलिए भारत धर्म महामंडल के स्वामी ज्ञानानन्द से मुझे मिलाया; यह दूसरी बात है कि मैं वहां जम न सका। स्व० शिवपूजन सहाय जी के सुझाव पर मैं 1927 ई० में बंबई चला गया। 8.10.27 को 'प्रसाद' जी और स्व० बेढब जी के प्रयत्न

से मेरे आसन्न बंबई प्रवास के उपलक्ष्य में वाराणसी की कार्माइकेल लाइब्रेरी में एक साहित्यिक जलपान-गोष्ठी हुई थी। 'प्रसाद' जी ने बड़ी भावभीनी विदाई मुझे दी थी। 1928 ई० में 'त्यागभूमि' का संपादक होकर अजमेर जाने पर भी उन्होंने स्नेह-गद्‌गद हृदय से मुझे विदा किया था। बंबई प्रवास में मैं वहां के अनेक श्रेष्ठ अंग्रेजी पत्रों के संपर्क में आया और अंग्रेजी में ही अधिक लिखने लगा था। इस पर उन्होंने चिंता प्रकट की थी और 'त्यागभूमि' में आ जाने पर मुझे बधाई दी थी। केवल मौखिक बधाई देकर ही चुप नहीं रह गए, बराबर उसमें लिखते रहे। उनकी अनेक श्रेष्ठ रचनाएं मैंने 'त्यागभूमि' में प्रकाशित की थीं। 'कामायनी' के 'नारी और लज्जा' खंड का प्रकाशन भी पहले उसी में हुआ था। 'त्यागभूमि' में मुझे जवाहरलाल, सी० एफ० एंड्रूज, राजगोपालाचार्य, के० संतानम्, लाजपत राय, शार्दूलसिंह कवीश्वर, जयशंकर 'प्रसाद', माखनलाल चतुर्वेदी, सुमित्रानन्दन पंत, महादेवी वर्मा, रामकुमार वर्मा, बालकृष्ण शर्मा नवीन जैसे श्रेष्ठ लेखकों की कृतियां प्रकाशित करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। जैनेन्द्रकुमार को हिंदी में प्रतिष्ठित करने का श्रेय भी इसी को है।

व्यक्तिगत जीवन की निर्मलता : 'प्रसाद' का बचपन सामंती वातावरण में शुरू हुआ था; आरंभिक किशोरावस्था बड़े लाड़-प्यार से बीती थी। संगीत और कला का वातावरण उनके चतुर्दिक् फैला था। वह उस समाज की उपज थे जिसमें रखैलें भी सहज थीं और जहां गणिकाओं का स्वागत-सत्कार विभिन्न पर्वों और अवसरों पर होता रहता था। गोरे-चिट्टे, कसरती पुष्ट शरीर, बढ़िया नाक-नक्श वाले 'प्रसाद' जी यदि उधर झुक जाते तो कोई आश्चर्य की बात भी न थी किन्तु अपने दीर्घ-कालिक संपर्क से मैं कह सकता हूं कि उनमें अपनी मर्यादा और स्वाभिमान का भाव सर्वोपरि था और यद्यपि वह रीति-रिवाज या परंपरा के मामलों में कोई हस्तक्षेप न करते थे किंतु अपने एवं वंश के गौरव की खातिर अपने पर गहरा नियंत्रण रखते थे। वह हंसोड़ और रसार्द्र थे किंतु कभी निम्न वासनाओं के दास नहीं हुए। स्व० विनोद-शंकर व्यास ने उनके संबंध में कितनी ही ऊल-जलूल कल्पनाएं कर ली हैं और ऐसी बातें लिखी हैं जिनसे उनके विषय में गलतफहमियां हो सकती हैं। 'प्रसाद' जी परिस्थिति के शिकार हुए हैं। वह बड़े ही सौंदर्य प्रेमी और कला प्रेमी थे। सौंदर्य एवं गुणियों की कला उन्हें सदैव आकर्षित करती थी। उनके यहां समारोहों में वाराणसी की श्रेष्ठ गायिकाएं आती रहती थीं। जिस दुकान पर उनकी संध्या प्रायः बीतती थी, उसके सामने और इर्द-गिर्द परिस्तान था। कोठे की खिड़कियों पर बैठी परियों से आंखें तो लड़ती ही थीं, कभी-कभी हंसी-मजाक भी होता था। प्रायः बात किन्नरियों के पक्ष से उभरती थी पर

'प्रसाद' या तो मुस्करा कर रह जाते या कभी एकाध शब्द कह देते थे। 'प्रसाद' के जीवन में उनके रूप-रंग, व्यक्तित्व तथा महिमा से आकर्षित होकर अनेक ऐसी कामिनियां आईं किंतु उधर से इशारा या बढ़ावा न पाकर चुप हो गईं। किशोरी, श्यामा, भगवती और सिद्धेश्वरी सब इसी श्रेणी में आती हैं। इसमें सिद्धेश्वरी का उस समय भी नाम था और बाद में तो उसने भारतव्यापी ख्याति प्राप्त की। उसकी गायन शैली और शिष्टता 'प्रसाद' को बहुत आकर्षित करती थी। वह भी उनकी ओर आकर्षित थी परंतु दोनों के संबंध शिष्टता की सीमा को कभी लांघ नहीं पाए।

किशोरी दुकान के सामने ही बैठती थी और 'प्रसाद' से बहुत प्रभावित थी। उसकी ओर से कई बार हाव-भाव शुरू हुए किंतु कोई प्रोत्साहन न पा अंत में निराश हो गई। श्यामा तो उस कोटि की थी भी नहीं; वह एक कथकिन थी; रूप-रंग भी कुछ न था; सांवले नाक-नक्श की थी। किंतु कद और आंखों में आकर्षण था। बड़ी-बड़ी आंखें थीं। जैसे तीज-त्यौहार पर अन्य गौनहारिनें घर में आती थीं, वैसे ही वह भी आती थी। हारमोनियम पर घरेलू गीत अच्छे गाती थी। उन दिनों 'प्रसाद' की मसें भींग रही थीं; उठती जवानी थी। वह उधर खिच गई, किंतु भैया और भाभी के भय-वश 'प्रसाद' ने उसे प्रोत्साहित नहीं किया। भगवती इनमें सबसे सरलहृदया थी। वेश्या होकर भी उसका हृदय वेश्या का न था। उसमें अपने व्यवसाय के प्रति बड़ी ग्लानि का भाव था। वह 'प्रसाद' के मनमोहन रूप पर रीझ उठी थी और उनके चरणों में अपने को समर्पित करना चाहती थी। एक दिन तो वह अपने हजारों रुपयों के आभूषण तथा नकदी के साथ उनके यहां पहुंच भी गई और सब उनके सामने रख कर कहा : 'हुजूर की नजर है। अब मैं कोठे पर नहीं बैठूंगी और यह व्यवसाय नहीं करूंगी।' 'प्रसाद' उसके आत्मार्पण से अभिभूत तो हुए किंतु क्षण भर में ही उन्होंने अपने ऊपर नियंत्रण स्थापित कर लिया; बड़ी मुश्किल से उसे किसी तरह वापस लौटाया।

इन्हीं संपर्कों को लेकर विनोदशंकर जी ने अपनी कल्पनाओं के ताने-बाने बुने हैं और मनमाने निष्कर्ष निकाले हैं। जो बातें 'प्रसाद' की महिमा और उनके उज्ज्वल चरित्र पर प्रकाश डालती हैं, जो बताती हैं कि कैसी विषम परिस्थितियों में भी उन्होंने आत्म नियंत्रण रखा उन्हीं को गलत ढंग पर पेश करके शिष्य ने बढ़िया गुरु दक्षिणा चुकाई है। मनुष्य की यह मजबूरी है कि वह अपने अनुभवों के प्रकाश में ही सब कुछ देखता है या ज्यादा सही यह कहना होगा कि देखना चाहता है। विनोद जी का स्वयं का जीवन ऐसी ही वासना की कुंजगलियों में गुजरा था; गुरु ने उनको उबारने की बड़ी चेष्टा की परंतु वह सफल नहीं हुए। शिष्य के जीवन का उत्तरकाल तो ठीक उसी

परिस्थिति में गुजरा जिसका गलत आक्षेप उन्होंने गुरु पर किया था। निराला जी तक को वह ले डूबे थे और शायद 'प्रसाद' से भी यही अपेक्षा रखते थे। शायद उनकी स्थापना यह थी कि कवियों और साहित्यकारों के लिए ये दुर्बलताएं आभूषण-तुल्य हैं।

'प्रसाद' जी के जीवन एवं कला के कितने ही अध्येता समय-समय पर मुझे इन बातों की वास्तविकता पर प्रकाश डालने का अनुरोध करते रहे हैं, इसलिए यहां प्रसंगवश मैंने इन बातों पर रोशनी डालना उचित समझा है। प्रसाद मंडली के कितने ही लोग मांस-मदिरा का सेवन करते थे। भांग तो बाबा विश्वनाथ की प्रसादी ही मानी जाती थी और दूसरों के लिए उनके यहां भी घुटती-छनती थी किन्तु वह स्वयं इन सब चीजों से दूर रहते थे। उस मंडली में मैं और वह दो ही आदमी थे जो केवल ठंडाई लेते थे।

घरेलू या खुले मैदान में खेले जाने वाले किसी खेल की ओर भी उनकी रुचि नहीं थी। किशोरावस्था और जवानी में कुछ दिन अश्वारोहण का शौक जरूर रहा। घरेलू खेलों में उन्हें केवल शतरंज पसंद था और उसमें उनकी अच्छी गति भी थी। वह पाक कला में कुशल थे और मामूली चीजें भी ऐसी बनाते थे कि आश्चर्य होता था। संतरे की खीर उनकी एक विशेषता थी और मुझे बेहद पसंद थी। जब भी घर में बनवाते, मेरे लिए रख छोड़ते थे। बाद में उनसे पूछकर मैं अपने घर भी बनवाने लगा परन्तु वैसी कभी न बनी।

केसर, कस्तूरी, मोती तथा मणियों के वह अच्छे पारखी थे और इन चीजों में उन्हें कोई भी धोखा न दे सकता था। एक निगाह डालते ही असलियत भांप जाते थे। व्यक्तिगत जीवन में वह फूलों के बड़े प्रेमी थे। फूलों में भी गुलाब, जुही, चमेली, केवड़ा, पारिजात तथा रजनीगंधा उन्हें ज्यादा पसंद थे।

निश्चय ही वह छायावाद युग के मनु थे। उन्होंने हमारे साहित्य को जो दिया वह तो महान् है ही, किंतु जो दृष्टि उन्होंने दी, वह उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। फिर उनकी उम्र ही क्या थी; आगे वह जो कुछ कह देते, वह शायद और भी महत् होता। मैं पास रहता था, इसलिए न जाने कितने विषयों पर वह मुझसे विचार-विमर्श करते रहते थे। कभी-कभी बात कुछ होती और परिणाम कुछ और निकलता। उन के अंतिम अपूर्ण उपन्यास 'इरावती' की भी विचित्र कथा है। एक दिन मुझे बुला कर कहा कि कोई ऐतिहासिक उपन्यास तुम्हारे पास हो तो पढ़ने को दो; आजकल कुछ पढ़ने की इच्छा होती है। उस समय मेरे पास जी० ए० हेंटी नाम के एक अंग्रेज लेखक का उपन्यास था, 'आन दि इरावदी'। इसका कथानक बर्मा से संबद्ध था; इरावदी (इरावती) नदी के आस-पास उसका ताना-बाना बुना गया था। मैंने दे दिया। कुछ

दिनों बाद उसे पढ़कर लौटा दिया परंतु उसी नाम के कारण उन्हें एक दूसरे संदर्भ में 'इरावती' नाम रखकर उपन्यास-लेखन की प्रेरणा मिल गई।

वह वैदिककालिक और पौराणिक इन्द्र के रूप-परिवर्तन पर गहन अन्वेषण में लगे थे और इन्द्र के चरित्र पर एक नाटक लिखने का विचार था। वह उन्हीं के साथ चला गया।

अंतिम दिनों में : मुझे दुःख है कि उनके अंतिम दिनों में मैं उनके पास न था। 1936 ई० में मैं अकोला (विदर्भ) में 'नवराजस्थान' नामक सचित्र साप्ताहिक का प्रधान संपादक होकर चला गया था। 28 जनवरी, 1937 को उनको ज्वर आया। पहले उस पर ठीक तरह से ध्यान नहीं दिया गया। 22 फरवरी को पता चला कि यह तो राज्यक्ष्मा का केस है। उन्हें जलवायु परिवर्तन के लिए कहा गया परंतु वह काशी छोड़ने को तैयार नहीं हुए। सारनाथ के बगीचे में रखने की बात हुई; उसे भी उन्होंने स्वीकार नहीं किया। इलाज पर भी गंभीरता से ध्यान नहीं दिया गया। 8-9 माह तक होमियोपैथिक चिकित्सा चलती रही। मेरे बहनोई कविराज हरिवंश सहाय ने कई बार उनसे आयुर्वेदिक चिकित्सा कराने की बात कही। हरिवंश जी राज्यक्ष्मा के विशेषज्ञ हैं और कितने ही असाध्य केस उनके हाथ से अच्छे हो चुके हैं। परंतु महंगी दवाइयों के कारण वह इससे कतराते रहे। दीर्घकालिक बीमारी में और कार-बार की नियमित देखरेख न होने के कारण, उनकी आर्थिक स्थिति खराब हो गई थी; व्यवसाय ठप हो रहा था। अंत में जब आयुर्वेदिक चिकित्सा शुरू हुई, तब बहुत देर हो गई थी।

मुझे कविराज जी के पत्र से जब यह बात मालूम हुई तो मैं उत्तेजित हो गया। उनकी प्रतिभा पर मुझे गहरी आस्था थी। मैं जानता था कि उनके पास कितने ही मकान, खंडहर और भूखंड हैं। अधिकांश बेकार पड़े हुए थे, जिनमें से एकाध को बेचकर उनकी अच्छी चिकित्सा की जा सकती थी और उनको बचाया जा सकता था। मैंने उत्तेजनापूर्ण भाषा में कविराज जी की मार्फत यही उन्हें लिख भेजा। उन्हीं की मार्फत उनका उत्तर मिला कि 'संपत्ति मेरी नहीं है, जो है, पूर्वजों की है, मैंने उसमें कुछ बढ़ाया नहीं। मैं उनका ट्रस्टी-भर हूं। जब मैंने स्वतः कुछ किया नहीं तो मुझे उसे बेचने का अधिकार क्या है?' ऐसा निस्संग उत्तर उन्हीं जैसा महापुरुष दे सकता था। अपने जीवन के मूल्य एवं महत्त्व को समझते हुए भी, मृत्यु जब सामने घूर रही थी, तब उन्होंने ऐसा उत्तर दिया था। इस पर मैंने लिखा कि मैं हिंदी संसार से अपील करके धन एकत्र करूंगा और उनकी चिकित्सा कराऊंगा किंतु उन्होंने कहलाया कि 'इससे मुझे हार्दिक दुःख होगा और मैं किसी की सहायता स्वीकार न कर सकूंगा।'

ऐसा उत्तर देने वाले और संसार से विदा होते हुए भी अपनी गरिमा से

न हिलने वाले 'प्रसाद' का साहित्यिकों में यह अकेला उदाहरण है। इससे जीवन के वैभव के प्रति उनकी विराट निस्संगता व्यक्त होती है।

इस प्रकार दिन-दिन उनकी तबीयत गिरती ही गई किंतु उस अवस्था में बिना शिव का चरणामृत ग्रहण किए और कुछ वह लेते न थे। अंत में जो होना था, वही हुआ और 15 नवम्बर, 1937 को साढ़े चार बजे सुबह वह हमें सदा के लिए छोड़कर चले गए।

यह स्थान उनके साहित्य के मूल्यांकन का नहीं है किंतु मैं इतना अवश्य कहूंगा कि हिंदी में वही एक थे जो हमें रवीन्द्रनाथ की याद दिलाते हैं। उनको जीवन में वे सब सुविधाएं भी नहीं मिलीं जो रवीन्द्रनाथ को मिली थीं; न उन्हें दीर्घायु प्राप्त हुई, फिर भी वह काव्य, कथा-उपन्यास, नाटक, निबंध आदि के क्षेत्र में जो कृतियां छोड़ गए हैं, वे हिंदी की निधि हैं। निश्चय ही वह छायावादी-सृष्टि युग अथवा मन्वन्तर के मनु थे।

10

राय कृष्णदास और प्रेमचंद

राय कृष्णदास

प्रसाद जी की चर्चा करते समय, स्वभावतः उनके परम मित्र राय कृष्ण-दास जी का स्मरण हो आता है। हिंदी के सौभाग्य से वह अब भी जीवित हैं, यद्यपि लिखना बंद-सा कर दिया है और साहित्य की दुकान समेट ली है। जान पड़ता है, प्रसाद जी की मृत्यु की गहरी चोट उन्हें लगी है, एक लंगोटिया यार की मृत्यु, जिसके साथ हंसे-रोये, खेले-खाये, विलास एवं वैभव की अनेक संध्याएं बीतीं तथा साहित्य के अनेक प्रयोग किए। सचमुच 'प्रसाद' जी की मृत्यु उन सबके हृदय में, जो उनके निकट परिचय में आए, ऐसी चुभ गई है कि भूलती नहीं। प्रसाद जी ऐसे ही मित्र थे जिनके लिए तुलसीदास ने कहा है 'बिछुरत एक प्राण हरि लेहीं।'

और अब वृद्धावस्था में दूसरी गहरी चोट लगी है उनके परममित्र, साथी और अग्रज मैथिलीशरण जी के देहावसान से। युगों के दोनों जीवन-साथी बिछुड़ गए हैं और राय साहब साहित्य-जगत् में एकाकी से हो गए हैं और संन्यास ले चुके हैं।

यद्यपि राय कृष्णदास जी 'सरस्वती' युग के लेखक और कवि हैं परंतु छायावाद युग में वह अपनी पूरी जवानी पर थे। चढ़ी हुई नदी के समान भावना के ज्वार से उल्लासित। इनसे मेरा परिचय 'प्रसाद' जी के ही माध्यम से हुआ। कभी-कभी जब वह 'प्रसाद' जी के यहां पहुंच जाते थे बड़ा आनंद आता था। कभी उनके घर—रामघाट—भी गया हूं, वह पुराना आलीशान रईसी घर जो गंगा की बाढ़ में एक दिन अकस्मात् धराशायी हो गया, जैसे विभुपूर्ण जीवन को मौत के पंजे एकाएक दबोच लें।

इनका जन्म 1892 ई० में, अर्थात् उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम चरण में, काशी के प्रतिष्ठित रायवंश में हुआ। शाही जमाने से ही इन लोगों को 'राय' की खानदानी पदवी प्राप्त थी, जो प्रजातन्त्र के युग में भी, जब संपूर्ण आभि-

जात्य पदों, पदवियों एवं संस्कारों का लोप हो चुका है, बड़ी आसक्ति एवं आग्रह के साथ चली जा रही है। इनके पिता राय प्रह्लाद दास संस्कृत भाषा एवं हिंदी काव्य के प्रेमी थे। इसलिए घर का वातावरण ऐसा था कि बचपन से ही राय कृष्णदास में काव्यरुचि उत्पन्न हो गई। आठ वर्ष की वय में ही इन्होंने कुछ तुकबंदियां की थीं। किशोरावस्था से ही महावीरप्रसाद द्विवेदी एवं मैथिलीशरण जी के संसर्ग का लाभ इन्हें प्राप्त हुआ। पद्य-रचना शुरू हुई। कविताएं 'सरस्वती' में प्रकाशित होती रहीं।

जिस जमाने में हमारा परिचय हुआ, वह हिंदी में गद्यकाव्य के इने-गिने लेखकों में सर्वश्रेष्ठ थे। 'गीतांजली' की शैली पर लिखी उनकी 'साधना' उस समय हमारे आकर्षण एवं मनन की वस्तु थी। इसमें जीवन की सरसता तथा आत्मार्पण है परंतु वह आत्मार्पण गूढ़ प्रेमदान की भांति रहस्योन्मुख है। भाषा और भाव का उपर्युक्त संग्रथन 'साधना' के गद्यगीतों में दिखाई पड़ता है। राय साहब के दूसरे अनन्य मित्र मैथिलीशरण ने 'साधना' के कई गद्य-गीतों का पद्यानुवाद भी किया था। 'छायापथ' और 'प्रवाल' में इनके भावात्मक गद्यगीत, शैली की दृष्टि से, अधिक मुखर हैं परंतु आरंभिक यौवन का वह निगूढ़ प्रणय निवेदन, वह लुकाछिपी, वह प्यास, वह उन्मेष, वह लुटने की तत्परता इनमें नहीं है जिसकी रेखाएं 'साधना' को उभार देती हैं, नवोढ़ा, आत्ममग्ना के कभी-कभी निकलने वाले भावोच्छ्वास की तरह।

उन दिनों राय साहब लघु कथा की एक नवीन शैली का भी निर्माण कर रहे थे। इनकी कहानियों की दो पुस्तकें 'अनाख्या' और 'सुधांशु' निकली थीं। परंतु बाद में उसका क्रम भी बंद हो गया। इनकी उन्हीं दिनों निकली 'गहूला' कहानी आज तक मेरी स्मृति में बैठी हुई है। इसी प्रकार इनकी सामाजिक कहानी 'अन्तःपुर का आरम्भ' भी मैं भूल नहीं पाया हूं। जब मैं अजमेर (राजस्थान) से निकलने वाली मासिक 'त्यागभूमि' का संपादक था तो उसमें मैंने इनकी कहानियां छापी थीं। कानपुर की 'प्रभा' और श्री ज्वालादत्त शर्मा के संपादकत्व में मुरादाबाद से निकलने वाली 'प्रतिभा' में भी इनकी कई कहानियां छपी थीं। इनकी कहानियों पर इनके परममित्र 'प्रसाद' जी की प्रारंभिक कहानियों की आदर्शात्मक प्रवृत्तियों की छाप स्पष्ट दिखाई पड़ती है। इनकी कहानियों में व्यक्ति, कुटुंब तथा समाज के जीवन के विविध चित्रों का आकलन हुआ है। उपर्युक्त दोनों कथा-संग्रहों के अलावा बाद में इनका एक और कथा-संग्रह लखनऊ से 'आंखों की चाह' के नाम से निकला। स्पष्टतः ही इसकी रचनाएं उस काल की लगती हैं जब यौवन के स्वप्नों पर जीवन के यथार्थ की क्रूरता स्थापित होने लगी है। फिर भी सब मिलाकर इनकी अधिकांश कहानियों पर इनके व्यक्तित्व की छाप है। इनमें समाज, प्रणय संबंधी इनके वर्ग के विचारों

की झलक भी है जो इन्हें एक सामाजिक सार्थकता देते हैं।

गद्यकाव्य एवं कहानियों के अतिरिक्त इन्होंने पुरानी शैली की कविताएं भी लिखी हैं, परंतु इनका पुराना क्षेत्र है कला। यों तो किशोरावस्था से ही इनमें कला के प्रति तीव्र अभिरुचि थी किंतु अपने मित्र श्री एन० सी० मेहता आई० सी० एस० से प्रोत्साहन प्राप्त कर वह बराबर बढ़ती और परिमार्जित होती गई। हिंदी में कला, विशेषत: चित्रकला के यह एक ही मर्मज्ञ हैं और इस विषय पर पुस्तकें भी लिखी हैं। राजपूत, मुगल तथा कांगड़ा शैली की चित्रकला पर इनका बड़ा ही गंभीर अध्ययन है। 'भारतीय कला भवन', जो पहले नागरी प्रचारिणी सभा में था और अब हिंदू विश्वविद्यालय के साथ संबद्ध है, इनकी कलाप्रियता का प्रतीक है। इन्होंने वाल्मीकीय रामायण और अष्टादश पुराणों के संबंध में मौलिक अनुसंधान कार्य किया है। मुझे दुःख यही है कि वह हिंदी जगत् के सामने नहीं आ रहा है। इसी प्रकार अपने अनन्य मित्र प्रसाद जी के संबंध में जो संस्मरणमाला लिखनी इन्होंने आरंभ की थी वह भी आज तक अधूरी पड़ी है। काशी की साहित्यिक एवं सांस्कृतिक परंपरा के संबंध में (मैथिलीशरण, 'प्रसाद', केशवप्रसाद मिश्र) भी राय साहब के पास बहुमूल्य संस्मरण हैं। क्या अच्छा हो, वह उन्हें अपने बाद आने वालों के लिए लिख डालें।

राय साहब का स्मरण होते ही मुझे उनके दो सहयोगी कलाकारों का स्मरण अनायास आ जाता है। इनमें एक थे उस्ताद रामप्रसाद और दूसरे थे लक्ष्मणदास मुनीम। पहले का क्षेत्र था—चित्रकला और मूर्तिकला; दूसरे का था संगीत—विशेषत: वाद्यसंगीत। 'भारतीय कला भवन' में आज जो कलाकृतियां सुरक्षित हैं उनके उद्धार का बहुत बड़ा श्रेय स्व० रामप्रसाद को है। लंबी मूंछें, अपने में खोये, सनकी से, बाहरी टीम-टाम के प्रति स्वभावत: उपेक्षा से भरे थे रामप्रसाद। राय साहब ने स्वयं ही उनका परिचय देते हुए लिखा है: ' यदि आपने काशी की गलियों में 60-62 बरस के एक वृद्ध कृश स्थविर को किसी धुन में तेजी से चले जाते देखा है, जिसकी आंखें खुड़राई हुई हैं, पकी हजामत बढ़ रही है, मूंछें बिना संवारी हुई हैं, सिर पर मैली मुड़ी-तुड़ी गांधी टोपी है और कटि में उससे भी मैली धोती किंतु तन पर एक बढ़िया दुपट्टा पड़ा हुआ है, पैर में जूता हो या न हो…तो जान लीजिए कि आप मुगल शैली के एक मात्र अवशिष्ट उस्ताद रामप्रसाद जी के दर्शन कर चुके हैं।'

उजड़ती दिल्ली छोड़कर शाह आलम के द्वितीय पुत्र मिर्जा जहांदार शाह काशी आए थे। उनके साथ कुछ मुगलकला के जानकार भी थे। इन्हीं में एक थे, लाल जी चित्रकार। उनके प्रधान शिष्य हुए काशी के सिक्खी, जो ग्वाले थे।

सिक्खी के पुत्र मूलचन्द उर्फ मूला ने मुगल शैली और काशी की परंपरागत लोकशैली के मिश्रण से एक नई शैली चलाई। रामप्रसाद इन्हीं मूलचन्द के पुत्र थे। राय साहब के संरक्षण एवं संसर्ग में रामप्रसाद की प्रतिभा पनप उठी और उन्होंने कला की साधना में ही अपना संपूर्ण जीवन लगा दिया। इन्होंने मुगल तथा राजपूत शैली के शतश: नष्टप्राय चित्रों का जीर्णोद्धार किया, मिटते चित्रों को जीवन-दान दिया, मानो मृत्यु की छाती चीरकर जीवन की पौध रोप दी हो। हाथी दांत पर भी वह बहुत बढ़िया चित्रांकन करते थे। 'उमर खैयाम' की रुबाइयों पर भी इन्होंने अनेक मौलिक चित्र बनाए थे जिनमें कई कानपुर की 'प्रभा' में उन्हीं दिनों प्रकाशित हुए थे। इन चित्रों की प्रशंसा डा० आनन्दकुमार स्वामी तक ने की। 1943 में इनका देहावसान हो गया। इनके पुत्र शारदाप्रसाद भी वैसे ही प्रतिभाशाली चित्रकार हैं।

लक्ष्मणदास जी मुख्यत: मुनीम जी के नाम से प्रसिद्ध थे। प्रसाद जी के नाटकों से आए अनेक मधुर गीतों की स्वर लिपि इनकी बनाई हुई है। इन्हें राग-रागनियों का बड़ा अच्छा ज्ञान था परंतु इनके हाथ की सफाई तो हारमोनियम जैसे नीरस वाद्य से माधुरी बरसाने में दिखाई पड़ती थी। हारमोनियम ऐसा बजाते मानो सितार या सारंगी बजा रहे हों। काशी विद्यापीठ में शिक्षण का कार्य भी करते रहे।

प्रेमचंद

'प्रसाद' जी के बाद हिंदी के क्षेत्र में जो दूसरी सर्वश्रेष्ठ विभूति आई उसे हम प्रेमचंद के नाम से जानते हैं। वह मेरे सामने हिंदी में आए और चले भी गए। उनकी मृत्यु को युग बीत गए हैं। समय दूर चला गया है और हिंदी मंजिल की ओर बहुत आगे बढ़ आई है। उस युग और आज के बीच एक लंबा व्यवधान आ गया है। परंतु इस अंतर को लांघकर, समय तथा मृत्यु एवं जीवन के व्यवधान को अन्यथा करता हुआ उनका वह अद्भुत हास्य मेरे कानों में आज भी गूंज रहा है। मृत्यु के अंधकार में जीवन के प्रकाश की मुस्कराहट के समान, समस्त निराशा और संदेह, संपूर्ण नास्तिक भावों के लिए एक चुनौती के समान – जैसे वह हास्य उनके जीवन का प्रतीक हो— मुक्त, निर्मल, हृदय की शिराओं से उठने वाला, बाधा-बंध-विहीन उसके सामने जो पड़ेगा, बह जाएगा।

ठिगना कद, सामान्य शरीर, गोरी काया पर गोल सिर, घनी मूंछें और संसार की ओर विनोद, कुतूहल तथा जिज्ञासा से देखने वाली आंखें। कठिनाइयों के बीच पलने पर भी मानो उनका उपहास करते हुए, व्यावहारिक होकर भी आदर्श की ओर झुके, शहरी होकर भी देहाती और प्रौढ़ होते हुए भी

बच्चे, कुछ अजीब टेढ़ी-मेढ़ी रेखाओं से बने, पर सरलता एवं सौष्ठव की मूर्ति, यह थे प्रेमचंद। जब उनके पास बैठना होता तो अर्थ-कष्ट में आकंठ डूबा मेरा तन और तूफानी नदी में पड़ा, तैरने की कला में कच्चा, अतः उभ-चुभ करने वाला मन पुलकित, प्रफुल्लित हो उठता। गांधी जी ने लिखा है : 'आंखें जीवन का दीपक हैं।' प्रेमचंद की आंखें उनके जीवन का भाष्य थीं। उनकी आंखें और उनका हास्य इनमें ही उनके जीवन का रहस्य समाया हुआ था। अवसर या तो मैं उनके मुक्त हास्य को अकचकाकर पकड़ने की चेष्टा करता या उनकी आंखों को देखता। उनमें एक हंसी होती, एक विनोद होता-- आंखें जो प्रत्येक वस्तु के ऊपर उठकर मानो पूछती हों 'और तब ?' वे गरीबी, निराशा और चटियल मैदान के लंबे सफर के बीच की थकावट के पीछे, अंतःकरण के अतल से झांकती सी पूछती थीं : 'और तब ?' जैसे जीवन एक लंबी कहानी हो, जिसमें थकावट के बावजूद आगे और आगे क्या आता है, इसकी जिज्ञासा हो। आंखें जो जीवन के अनुभवों के प्रकाश में प्रत्येक घटना को यों देखती हों, मानो ललकार रही हों कि आओ, तुम्हें भी देख लूं। 'प्रसाद' जी को छोड़ दूसरे किसी हिंदी साहित्यिक में आंखों का यह भाव मैंने नहीं देखा। परंतु 'प्रसाद' जी की आंखों में विनोद कम, रहस्य अधिक था, दार्श-निक गहराइयां मानो विनोद को उभरने न दे रही हों या जैसे नारी पर लज्जा का अवगुंठन-सा छा गया हो और उसे उभरने न दे रहा हो; जब प्रेमचंद में जीवन की अगम-दुर्गम घटनाओं के लिए मानो शिशु का सर्वग्राही कुतूहल और विनोद प्रधान हो उठता हो।

कदाचित् ही कोई साहित्यकार जीवन की पाठशाला में इतने कष्ट से गढ़ा गया होगा। वह गरीबी में जन्मे, गरीबी में पले और सब होते हुए भी जिस प्रकार चले गए उसे बेबसी और गरीबी ही कहना चाहिए। वह नीचे से उभ-रने वाले, अपने कष्टमय वातावरण से ही जीवन का रस ग्रहण करते हुए बढ़ने वाले साहित्यकार थे। वह हिंदी के एक वास्तविक जन-प्रतिनिधि कलाकार थे। उनका स्वर्ग एवं नरक, उनका कल्पना-लोक और उनका साध्य सब इसी देश की मिट्टी का था। इसीलिए हम उनके पात्रों को यांत्रिक नहीं पाते; उनमें रक्त और मांस है; उनमें अगणित संवेदनाएं हैं; उनमें कुंठाएं और प्रतारणाएं हैं। परंतु एक भी ऐसा पात्र नहीं है, जो भारत के देहात में न देखा जा सके। उस देहात में जहां हमारी प्राचीन सभ्यता के युगानुभूत सत्यों के सोते फूटते हैं और हमारी सड़ी-गली परंपराओं के नासूर विष उगलते हैं; जहां गरीबी और भूख में भी वृन्दाटवी की कुंजगलियों में भटकती गोपिका की मर्मवाणी कभी-कभी फूट ही उठती है और आम के गदराये-बौरे बागों में दुःख-कष्ट पर 'विरहा' लहरा-लहरा उठता है। इस देश की मिट्टी के स्पर्श, रूप, रस, गंध को इस

प्रकार सजीव करने वाला दूसरा साहित्यकार किसी भी दूसरी भाषा में नहीं दिखाई देता। निश्चय ही अपनी इस मौलिक विशेषता के कारण प्रेमचंद भारतीय साहित्य की राष्ट्रीय प्रतिभा बन गए हैं।

उन्हें समझने के लिए उनके बचपन के दिनों की ओर लौटना होगा। जब मैट्रिक में थे तब उनका जीवन-चित्र देखिए :

'पांव में जूते न थे, देह पर साबित कपड़े न थे। महंगी अलग। स्कूल से साढ़े तीन बजे छुट्टी मिलती थी। काशी के क्वींस कालेज में पढ़ता था।.......इम्तहान सिर पर था। और मैं 'बांस का फाटक' एक लड़के को पढ़ाने जाता था। जाड़ों के दिन थे। चार बजे पहुंचता था, पढ़ाकर 6 बजे छुट्टी पाता। वहां से मेरा घर देहात में पांच मील पर था। तेज चलने पर भी आठ बजे से पहिले घर न पहुंच सकता और प्रातःकाल आठ ही बजे फिर चलना पड़ता था, वक्त पर स्कूल न पहुंचता। रात को भोजन करके कुप्पी के सामने पढ़ने बैठता था और न जाने कब सो जाता।'

'............ शहर में रहना जरूरी था। संयोग से एक वकील साहब के लड़कों को पढ़ाने का काम मिल गया। पांच रुपया वेतन ठहरा। मैंने दो रुपयों में अपनी गुजर करके तीन रुपये घर देने का निश्चय किया। वकील साहब के अस्तबल के ऊपर एक छोटी-सी कच्ची कोठरी थी। उसी में रहने की आज्ञा मैंने ले ली। एक टाट का टुकड़ा बिछा दिया।...... एक वक्त खिचड़ी पका लेता और बर्तन-धो मांज लाइब्रेरी चला जाता।'

बड़ी कठिनाइयों से काम चलता। प्रायः दूसरों से उधार भी लेना पड़ता। एक बार की बात है :

'जाड़ों के दिन थे। पास एक कौड़ी न थी। दो दिन एक-एक पैसे का चबेना खाकर काटे थे। मेरे महाजन ने उधार देने से इन्कार कर दिया था। चिराग जल चुके थे। मैं एक बुकसेलर की दुकान पर एक किताब बेचने गया। चक्रवर्ती गणित की कुंजी थी। दो साल हुए, खरीदी थी। अब तक उसे बड़े जतन से रखे हुए था; पर आज चारों ओर से निराश होकर मैंने उसे बेचने का निश्चय किया। किताब दो रुपये की थी लेकिन एक पर सौदा ठीक हुआ ....।'

यह है विपत्ति और कष्ट की वह घाटी जिसके बीच से उनका बचपन गुजरा था। यह व्यथा ही उनकी मानवता की साधना का आदि-स्रोत है। वह आरंभ से कठिनाइयों में पले, कठिनाइयों में बढ़े। उनमें दुर्बल, पीड़ित, अशक्त, दीन के प्रति जो प्रबल सहानुभूति है वह श्रम से प्राप्त की हुई नहीं है; वह उनके रक्त और मांस का अंग है। वह उनके जीवन की जड़ों में पड़ा रस है। संसार में जितने भी मानवता के साधक और पुजारी हुए हैं उन्होंने इसी प्रकार वेदना की छाती से अमृत दुह लिया है। कष्टों एवं कठिनाइयों में गढ़ा जीवन ही वास्तविक जीवन है और प्रेमचंद ने हमारे देश की प्रत्येक सामाजिक श्रेणी के मानव की सहृदय-व्यथा का, इसीलिए मार्मिक चित्रण किया है।

प्रेमचंद उर्दू से हिंदी में आए। वह पहले उपन्यास लेखक ही थे; कहानियां तो बाद में लिखने लगे। 1901 ई० में इन्होंने उपन्यास लेखन कार्य

आरंभ किया था। 1902 ई० में इनका पहला उपन्यास 'कृष्णा' छपा। कहानियां 1907 ई० से लिखनी आरंभ कीं। इनकी पहली कहानी थी : 'संसार का सबसे अनमोल रत्न।' लिखने के कुछ दिनों बाद ही, वह 1907 ई० में कानपुर से निकलने वाले प्रसिद्ध उर्दू मासिक 'जमाना' में छपी थी। उन दिनों यह नवाबराय के नाम से लिखा करते थे। सरकारी नौकरी में रहते हुए भी विदेशी शासन की वास्तविकता और गुलामी इन्हें बराबर चुभती रही। 1909 ई० में इनकी पांच कहानियों का संग्रह 'सोजे वतन' के नाम से प्रकाशित हुआ परंतु बाद में जब्त हो गया।

जब वह गोरखपुर में काम कर रहे थे तभी श्री महावीरप्रसाद पोद्दार से इनका परिचय हुआ। पोद्दार की प्रेरणा से ही इन्होंने हिंदी में लिखने का कार्य शुरू किया। पोद्दार जी ने ही सबसे पहिले इनकी कहानियों का संग्रह 'सप्त सरोज' (8 जून, 1917 ई०) प्रकाशित किया था; बाद में इनका दूसरा कहानी संग्रह मेरे कृपालु मित्र, हिंदी ग्रंथरत्नाकर, बंबई के स्वामी श्री नाथूराम प्रेमी ने निकाला। उन दिनों पोद्दार जी ने कलकत्ता में हिंदी पुस्तक एजेंसी नाम से एक पुस्तक प्रकाशन संस्था खोली थी। प्रेमचंद जी ने, पोद्दार जी की प्रेरणा से लिखा गया प्रथम उपन्यास 'सेवासदन' उन्हीं के हाथों में सौंप दिया था और वह उन्हीं की इस प्रकाशन संस्था (हिंदी पुस्तक एजेंसी) से निकला। यह असहयोग का जमाना था। राष्ट्र ने, युगों बाद, आंखें मलकर, करवट ली थी और गांधी जी भारतीय रंगमंच पर एक जादूगर की भांति, मिट्टी से प्राणवान जन सेवकों की सृष्टि करते फिरते थे। लोगों की सामाजिक सेवा की सुप्त कल्पनाएं सजग हो रही थीं। 'सेवासदन' में वही प्रेरणा और कथावस्तु थी जो वातावरण में प्रतिध्वनित हो रही थी। इसलिए हिंदी में प्रवेश करते ही लेखक का स्वागत हुआ और ऐसा लगा जैसे कहानी और उपन्यास की गतानुगति के बीच एक नया मोड़ हिंदी को मिला है। शीघ्र ही उनका 'प्रेमाश्रम' भी निकला। ये दोनों ही उपन्यास न केवल गांधी जी के सिद्धांतों से, बल्कि उनके कार्यक्रम से भी, प्रभावित होकर लिखे गए थे।

प्रेमचंद जी ऐसे व्यक्तियों में न थे जो जीवन और साहित्य में भिन्न-भिन्न मानदंडों को लेकर चलते हैं और जिनका जीवन उनकी साहित्यक अभिव्यक्तियों से भिन्न होता है। मैं कह चुका हूं कि वह इस देश की मिट्टी की सहज कृति थे, इसलिए इस देश की धरती की वेदना उनके जीवन में पहले फूटी; उनके साहित्य में तो बाद में आई। कैसा ही कष्ट हो, वह अपने को अस्वीकार न कर पाते थे। कष्ट एवं बीमारी के बीच भी गांधी जी के गोरखपुर पहुंचते ही और असहयोग का शंख फूकते ही इन्होंने सरकारी नौकरी से इस्तीफा दे दिया। यह मेरे जीवन की एक सुखद घटना है कि मैंने ही उनके एवं रामदास जी गौड़ के

इस्तीफे की खबर अखबारों को भेजी थी।

हिंदी में जहां उनका स्वागत हुआ वहां विरोध भी कम नहीं हुआ। प्रसिद्ध गणितज्ञ श्री अवध उपाध्याय तो उनके पीछे ही पड़ गए थे। उन्हें 'वैनिटी फेयर' का नकलची बताया गया। डा० हेमचंद जोशी एवं श्री इलाचंद जोशी आदि ने भी उनका काफी विरोध किया। प्रायः वह इन विरोधों के प्रति मौन रहे; चुपचाप अपना काम करते गए।

उनका संपूर्ण जीवन साधना का जीवन था। आदर्शवादी प्रेरणाएं उनमें प्रधान थीं। आज बहुत से लोग उनके विषय में नाना प्रकार की बातें करते हैं; कोई-कोई तो उन्हें साम्यवादोन्मुख भी बताते हैं। सौदेबाजी के पर्दे में सत्य को ढकने की कोशिश की गई है। परंतु यह सब गलत है। उनमें मानवीय प्रेरणाएं इतनी प्रधान थीं कि वह किसी राजनीतिक या सामाजिक विचारधारा में बंधकर, या उसी में चुककर, न रह सकते थे। उन्मुख मानस से वह चारों ओर की प्रतिक्रियाओं को ग्रहण करते थे; परंतु उन्हें अपना बनाकर। मजदूर, किसान, उत्पीड़ित वर्ग के प्रति उनकी गहरी सहानुभूति एवं संवेदनाओं के दर्शन उनकी विशाल साहित्य सृष्टि में सर्वत्र होते हैं परंतु वे सब गहरे मानवीय या गांधीवादी रंग में डूबी हुई हैं। रुपये को वह तुच्छ नहीं समझते थे, परंतु रुपये वालों के प्रति उनकी कोई अच्छी भावना न थी। इसीलिए अपनी गरीबी के जीवन में भी वह अनेक-अनेक प्रलोभनों से बच सके, और प्रलोभन कभी हावी भी हो गए, तो देर तक ठहर नहीं पाए।

1924 ई० में जब 'गंगा पुस्तक माला' लखनऊ से भाई शिवपूजन सहाय के संपादन में इनका श्रेष्ठ उपन्यास (रंगभूमि) छप रहा था, तब की बात है। अलवर के महाराज की चिट्ठी लेकर कुछ लोग आए। उस चिट्ठी में महाराज ने इन्हें अपने पास रहने के लिए बुलाया था। जैसे राजा लोग अक्सर होते हैं, वह उपन्यास-कहानियों के शौकीन थे। वैसे अलवर-नरेश यों भी हिंदी और संस्कृत के प्रेमी थे, धाराप्रवाह भाषण करते थे, यद्यपि चरित्र की दृष्टि से एक पहेली थे। महाराजा ने इन्हें चार सौ रुपये मासिक, मोटर और बंगला देने को लिखा था। परंतु कष्ट के दिनों में भी वह अपने को नहीं भूले। जब रुपये की आवश्यकता थी, साहित्य के लिए उसे उन्होंने ठुकरा दिया। उस समय जो पत्र उन्होंने महाराज को लिखा था, उससे उनके चरित्र का उज्ज्वल पक्ष हमारे आगे आ जाता है। उन्होंने उत्तर में लिखा :

'मैं आपको धन्यवाद देता हूं कि आपने मुझे याद किया। मैंने अपना जीवन साहित्य-सेवा के लिए लगा दिया है। मैं जो कुछ लिखता हूं, उसे आप पढ़ते हैं। इसके लिए आपको धन्यवाद देता हूं। आप जो पद मुझे दे रहे हैं, मैं उसके योग्य नहीं हूं। मैं इतने में ही अपना सौभाग्य समझता हूं कि आप

मेरे लिखे को ध्यान से पढ़ते हैं। अगर हो सका तो आपके दर्शन के लिए कभी आऊंगा।

एक साहित्य-सेवी,
धनपत राय'

पत्र की भाषा शिथिल है; पुनरुक्तियों से भरी है किंतु इसमें प्रलोभनों को ठुकराने वाली उनकी नैतिकता बोलती है। ऐसी अनेक घटनाएं उनके जीवन में भरी हैं। बार-बार प्रलोभन इनके मार्ग में आए, परंतु यह हिंदुस्तान की मिट्टी और आबोहवा में पैदा हुआ और बढ़ा मानव उनको पार कर गया।

शिवरानी जी (प्रेमचंद जी की पत्नी) ने एक घटना का जिक्र यों किया है, 'उत्तरप्रदेश में सर माल्कम हेली गवर्नर होकर आए। उन्होंने अपने एक मित्र से, जो हिंदुस्तानी थे, कहा कि धनपतराय जी को आप पत्र लिखें। मैं उनको राय साहबी देना चाहता हूं क्योंकि वह भारत के सबसे बड़े राइटर हैं। जिनसे गवर्नर साहब ने कहा, वह इनकी किताबों के बड़े भक्त थे। उन्होंने एक पत्र लिखा और उसमें लिखा कि गवर्नर साहब आपको राय साहबी का खिताब देना चाहते हैं। आप उनसे मिलिए।

यह पत्र लेकर आप अंदर आए। मुझसे बोले, 'गवर्नर साहब का मेरे पास पत्र आया है।'

'क्या लिखा है'? मैंने पूछा।

'साहब बहादुर मुझे राय साहबी देना चाहते हैं।'

'उन्हीं का खत है कि किसी और से लिखवाया है?'

'हां, किसी और से लिखवाया है।'

'कौन महाशय हैं?'

'हैं एक महाशय। उन्हें भी 'सर' का खिताब मिला है।'

'लीजिए शौक से रायसाहबी। खाली रायसाहबी देगें कि और भी कुछ?'

'इशारा तो और भी कुछ के लिए है।'

'तब लीजिए न।'

'तो क्यों देना चाहते हैं, बता दूं? तब मैं जनता का आदमी न रहकर एक पिट्ठू रह जाऊंगा।'

'कैसा पिट्ठू?'

'उसी तरह जैसे और लोग हैं। अभी तक मेरा सारा काम जनता के लिए हुआ है। तब गवर्नमेंट मुझसे जो लिखवाएगी, लिखना पड़ेगा। तुम मंजूर करो तो ले लूं।'

'जरूर लीजिए।'

'तुम्हारा निर्णय हो तो मैं लिखूं।'

मैंने सोचा, कहीं सचमुच न लिख दें, बोली, 'बड़ा महंगा सौदा है।'

'हां, मैं ऐसा खुद न करूंगा।'

'उनको क्या जवाब दीजिएगा ?'

'उनको धन्यवाद लिख दूंगा और लिख दूंगा कि मैं जनता का तुच्छ सेवक हूं। अगर जनता की रायसाहबी मिलेगी तो सिर आंखों पर। गवर्नमेंट की रायसाहबी की इच्छा नहीं। गवर्नर साहब को मेरी तरफ से धन्यवाद दे दीजिएगा।'

जन सेवक के चरित्र की सबसे बड़ी परीक्षा तब होती है जब वह जिसकी सेवा करता है वही उससे नाराज हो जाए। जनता के भय से बड़े-बड़े नेता गिर जाते हैं। परंतु प्रेमचन्द जी अपने सिद्धांत एवं विश्वास के पक्के थे। काशी की घटना है। उनका एक लेख 'आज' में छपा। उस पर काशी के हिंदू नाराज हुए। उस समय सांप्रदायिक भावनाएं तीव्र थीं। हिंदू-सभा का जोर था। कितने ही कांग्रेसी भी अंदर-अंदर से सांप्रदायिक हो गए थे और हिंदू-सभा के साथ उनकी सहानुभूति थी। कई महाशय आए और बोले, 'आपने जो लेख लिखा है उससे काशी के हिंदू आपसे बहुत नाराज हैं।' इन शिकायत करने वालों में अधिकांश कांग्रेसी थे। लोग उनकी जान लेने की भी धमकी दे रहे थे। परंतु वह दृढ़ रहे।

कातर होकर उनकी पत्नी श्रीमती शिवरानी देवी ने पूछा, 'वे लोग क्या कह रहे हैं ?'

'कुछ नहीं जी। वह लेख बड़ा सुंदर है।'

'पर मारने की धमकी क्यों दे रहे हैं ?'

'यह सब हिंदू-सभा वालों का काम है।'

'ये सब तो कांग्रेसी थे ?'

'आजकल ये लोग भी उसी के पक्षपाती हैं।'

'ऐसा लेख आप क्यों लिखते हैं कि लोग दुश्मन बनें ? कभी गवर्नमेंट, कभी पब्लिक, कोई न कोई तुम्हारा दुश्मन रहता ही है। आप ढाई हड्डी के तो आदमी हैं।'

'लेखक को पब्लिक और गवर्नमेंट अपना गुलाम समझती है। आखिर लेखक भी कोई चीज है। वह सभी की मर्जी के मुताबिक लिखे तो लेखक कैसा ? लेखक का भी अस्तित्व है। गवर्नमेंट जेल में डालती है, पब्लिक मारने की धमकी देती है, इससे लेखक डर जाए और लिखना बंद कर दे ?'

'सब कुछ करे किंतु अपनी जान का दुश्मन न तैयार करे।'

'लेखक जो कुछ लिखता है, अपनी कुरेदन से लिखता है।'

'यह बात तो ठीक है लेकिन रोज का झगड़ा ठीक नहीं।'

'यह दुनिया तो झगड़े की है। यहां घबराकर भागने से काम नहीं

चलता । यहां मैदान में डटे रहना चाहिए ।'

'वे लोग कभी कांग्रेसी, कभी हिंदू सभाई कैसे हो जाते हैं ?'

'तो क्या मैं हो जाऊं ?'

'मेरे कहने का यह मतलब नहीं कि आप बिना सिद्धांत के हो जाएं । वे सब तो कह रहे हैं कि अब आप मुसलमान हो गए । पर उनको क्या, आप मुसलमान नहीं, ईसाई हो जाएं ।'

'इन लोगों का भ्रम है । ये लोग कभी अपने हृदय का दरवाजा खुला नहीं रखते । मैं इन्हें कहां तक समझाऊं ?'

'तो उन्हें आपने समझाया था ?'

'समझता तो इंसान है तब जब समझने की कोशिश करे । परंतु तुम्हें क्यों चिंता होती जाती है ?'

'दुश्मनों के बीच रहकर क्या किसी को चिंता नहीं होती ?'

'मैं बिल्कुल निश्चिंत रहता हूं, नहीं तो कुछ कर ही न पाऊं ।··· कोई लेखक इस तरह की बातों पर ध्यान दे और डरे तो वह अपने विचार जनता को दे चुका ।'

इसमें अपने सिद्धांत पर निडर निश्चिंत होकर चलने वाले साधक और विवेचक प्रेमचंद का स्वर स्पष्ट है ।

काशी में रहते, और काशी के बाहर से भी, अन्त तक मेरा उनका कुछ न कुछ संबंध बराबर बना रहा । प्राय: मैं दोपहर को उनके पास प्रेस में जाकर बैठ जाता और इधर-उधर की बातें होतीं, छोटी-छोटी बातें जिनमें आदमी बड़ी-बड़ी बातों से अपने को अधिक अभिव्यक्त करता है । निगूढ़ प्रेम की शत-शत भंगिमाएं होती हैं, रोमांस अगणित रूपों में उभरता है परंतु प्रेमचंद जी ऐसी मार्मिक प्रेमलता को अपने जीवन में न देख पाए थे, न समझ पाए थे । हमारे देश के युवक उस समय भी और आज भी शरत्चंद्र से कितने प्रभावित हैं । शरत्चंद्र प्रेमल यौवन के अंतस्तल में प्रवेश करते हैं और हृदय को इतना कुरेदते हैं कि पाठक कलेजा मसोस कर रह जाता है । प्रेमचंद के जीवन में ऐसा प्रेम कभी नहीं आया । वह मध्य मार्ग के पथिक थे । दाम्पत्य प्रेम का रस उन्हें मिला था; वह एक प्रेमी पति, एक स्नेही पिता, एक कोमल भाई थे । उनका प्रेम राजमार्गों पर इठलाता नहीं, अंतःपुर का अमृत आकंठ पीकर तृप्त हो जाता है । आदमी को ऐसा निःस्व, ऐसा कोमल कर देने वाला प्रेम कि पढ़कर रोना आवे, वह अच्छा भी न समझते थे । बंग साहित्य की समृद्धि की बातें सुनकर वह चुपचाप हंस देते थे । उनका कहना था कि यह करुणा और रोदन का साहित्य लेकर हमारा जातीय चरित्र नहीं गढ़ा जा सकता; इसीलिए शरत्चंद्र उनको बहुत अच्छे कभी न लगे । वह कहा करते

थे कि जिन लेखकों को पढ़कर भारतीय यौवन आत्महत्या की ओर उन्मुख हो उस साहित्य को लेकर हम क्या करेंगे ? उनका जीवन सरल, मैदानों की गंगा के समान है । उसमें नर्मदा की हरहराहट और वक्रता नहीं है । उनके यौवन में कुंजगलियों का रास नहीं, निशीथ में मन को विह्वल और पागल कर देने वाली वंशी ध्वनि नहीं । उन्होंने स्वयं ही लिखा है :

'मेरा जीवन सपाट, समतल मैदान है, जिसमें कहीं-कहीं गढ़े तो हैं पर टीलों, पर्वतों, घने जंगलों, गहरी घाटियों और खड्डों का स्थान नहीं है । जो सज्जन पहाड़ों की सैर के शौकीन हैं, उन्हें यहां निराशा होगी ।'

चाहकर, अपने को बेचकर वह विलास एवं वैभव के सब सुख खरीद सकते थे, परंतु अपनी गरीबी में अपनी साधना के लिए उन्हें अधिक अनुकूल भूमि मिलती थी । वह साहित्य को जीवन से भिन्न मानने को कभी तैयार न हुए । इसीलिए वह यह मानते थे कि जीवन में जितना निखार आएगा, साहित्य में भी उतनी ही शक्ति आएगी । एक बार उन्होंने अपने एक पत्र में लिखा : 'जितना पवित्र हमारा जीवन होगा, उतना ही शुद्ध हमारा साहित्य होगा । अमीरी प्रतिभा के लिए अनुकूल भूमि नहीं है । इसमें कुछ ऐसी बातें हैं जो गरीबी में ही फल सकती हैं ।'

दूसरा एक और बड़ा गुण उनमें यह था कि उपहास करने वाले को यद्यपि वह क्षमा न करते थे, परंतु उचित आलोचना का स्वागत करते थे । एक बार की बात है कि मैंने उनसे एक कहानी मांगी । उन्होंने एक छोटी कहानी भेज दी । मुझे न वह अपने पत्र, न उनके गौरव के अनुरूप जंची । इसलिए अपनी बात स्पष्ट लिखकर उन्हें वह कहानी लौटा दी । इस कहानी का नाम था, 'कश्मीरी सेब ।' परंतु इसका उन्होंने जरा भी बुरा न माना और मुझ पर वही कृपा रखते रहे ।

प्रेमचंद के आगमन से हिंदी गद्य को प्रथम बार सर्वभारतीय रूप प्राप्त हुआ । जो हिंदी कहानी और हिंदी उपन्यास प्रधानतया दूसरों के जूठन पर जी रहा था, वह नवीन प्रतिभा के प्रकाश से उद्भासित हो उठा । उनकी रचनाओं में 'रंगभूमि' अपनी विराट कल्पनाशीलता के लिए, और 'गोदान' अपने गठन, चरित्रांकन और आत्मनिवेदन के लिए, सदा स्मरण किए जाएंगे । प्रेमचंद न केवल गांधी युग के सर्वश्रेष्ठ राष्ट्रीय उपन्यासकार हैं, अपितु वह हमारे आधुनिक राष्ट्रीय युग के सर्वोत्तम गाथाकार (क्रानिकलर) भी हैं ।

प्रसाद और प्रेमचंद, काशी के दोनों युगप्रवर्त्तक जब हमें छोड़ गए, मैं वहां नहीं था । रोकर और तड़पकर रह गया । दो लाइनें दोहराता था और रोता था, रोता था और लाइनें दोहराता था—

बैठ जाता हूं जहां छांव घनी होती है,

हाय, क्या चीज गरीबुलवतनी होती है।

आज भी जब बहिन शिवरानी देवी का ग्रंथ 'प्रेमचंद : घर में' पढ़ता हूं, तो दिल टुकड़े-टुकड़े हो जाता है। यह ग्रंथ केवल शिवरानी देवी ही लिख सकती थीं—पुरुष के प्रति निवेदित नारी के हृदय का महाकाव्य जिसमें प्रेमचंद के कलेजे के टुकड़े बोल-बोल उठते हैं।

दोनों का लगभग एक ही प्रकार अंत हुआ। जब हम उनकी कथा सुनने में तन्मय थे, जीवन की कहानी के तार टूट गए; आंखें झपकीं और वह सदा के लिए सो गए। क्या कहें :

बड़े शौक से सुन रहा था जमाना,
तुम्हीं सो गए दास्तां कहते-कहते।

11

निराला और पन्त

छायावाद युग के आरंभ में जो कवि साहित्य के मानस क्षितिज पर उठ रहे थे उनमें निराला और पन्त मुख्य हैं। बाद में प्रसाद सहित इन्हें छायावाद की वृहत्रयी कहा गया। परंतु उस जमाने में तो दोनों ही को विरोध के घटाटोप के बीच से गुजरना पड़ा। आज तो लोग उन पर शोध ग्रंथ लिखकर आचार्यत्त्व की उपाधि प्राप्त कर रहे हैं परंतु उस आरंभिक युग में उनका साथ देने वाले और उनके पक्ष का समर्थन करने वाले इने-गिने थे।

जहां तक निराला का संबंध है उनसे प्रथम परिचय कलकत्ता से प्रकाशित होने वाले 'मतवाला' द्वारा हुआ। 'मतवाला' के प्रकाशक थे मिर्जापुर निवासी परंतु कलकत्ता-प्रवासी बा० महादेव प्रसाद सेठ। महादेव बाबू दुबले-पतले, गोरे, तीव्र प्रतिभा के धनी थे। उन्होंने एक मतवाला मंडल बनाया था जिसमें थे नवजादिकलाल श्रीवास्तव, शिवपूजन सहाय, सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' और बाद में पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र'। आज ये सब दिवंगत हो गए हैं पर इस मंडल का एक जमाना था। इसका हर जीव एक निराले कैंडे का था। नवजादिकलाल गंभीर और व्यावहारिक, कुछ ठस प्रकृति वाले। शिवपूजन सहाय सरल, ईमानदार और पिस्सू टाइप। सूर्यकान्त त्रिपाठी वर्षाकाल की फलगूधारा की भांति बाधा-बंध-विहीन। 'उग्र' फक्कड़ और औघड़-जैसे परंतु बने-ठने, चिरनवीन। इन सबको महादेव बाबू ने अपनी असामान्य उदारता, सहृदयता और गुण ग्राहकता के बल पर एकत्र कर रखा था। वह स्वयं प्रतिभा के खरे पारखी थे और उसका न केवल समादर करते थे वरं अपने मूल्य पर, स्वयं कष्ट सहकर भी उसे प्रोत्साहित करते थे। हिंदी का इतिहासकार आज निराला, शिवपूजन, 'उग्र' आदि के गुणगान करता है परन्तु जिस व्यक्ति ने इनकी प्रतिभा को उद्घाटित, संवर्द्धित और प्रचारित किया, उसे वह सर्वथा भूल गया है।

उस ज़माने में 'मतवाला' साप्ताहिक (कलकत्ता) और दैनिक 'वर्तमान' (कानपुर) में उच्च कोटि का व्यंग और हास्य पढ़ने को मिलता था। 'वर्तमान'

के संपादक थे पं० रमाशंकर अवस्थी। उसमें 'मनसुखा' के व्यंग पढ़ने को लोग उत्सुक रहा करते थे। 'मतवाला' का तो अथ से इति तक व्यंग-हास्य से सराबोर रहता था।

शिवजी (बा० शिवपूजन सहाय) और निराला अर्थात् पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी से मेरा प्रथम परिचय 'मतवाला' द्वारा ही हुआ था। 'निराला' की 'जूही की कली' और 'विधवा' ने मुझे बहुत रिझाया। इनमें एक नया स्वर था। मुक्तवृत्त कविता का हिंदी में यह आरंभ था। अतुकांत छंदों के प्रयोग तो हिंदी में पहले से ही हो रहे थे परंतु छंद न होकर भी छंद, पर कोई छोटे, कोई लंबे, बिखराव वाला रूप परंतु इस बिखराव में भी कलेजे को टंकोरता एक वियुक्त संगीत, पारंपरिक छंदों का विलय किंतु उस विलय में भी एक सुर, एक लय। ऐसी थी उनकी कविता। स्वभावतः शास्त्र और परंपरा की वाणी विरोध में मुखर हुई। उस समय के बड़े-बड़े आलोचक केचुवा छंद, रबड़ छंद कह कर उसे फूंक में उड़ा देते। परंतु वह फूंक में उड़ा देने की चीज न थी इसलिए उड़ाई न जा सकी। धीरे-धीरे निराला उठने लगे। उपहास का स्थान उपेक्षा ने लिया, फिर उपेक्षा का कुतूहल ने और बाद में उन्हें सहन किया जाने लगा। यहां तक कि उनकी प्रतिभा ने कुंठा के द्वार तोड़ दिए और उपहास वाले हाथ अभ्यर्थना में ऊपर उठ गए।

बाद के जीवन में, उनके सतत संघर्षों के बावजूद, उन्हें महाप्राण, संत, महामानव—न जाने क्या-क्या कहा और बनाया गया। यह प्रशंसा का अतिरेक भी प्रतिभा और उनके अंदर के दुर्द्धर्ष मानव का प्रकरांतर से उपहास ही है। वह न तो संत थे, न महाप्राण थे; वह थे एक सीधे-सादे, संघर्षों में सतत जूझते, कभी उनसे ऊपर उठते, कभी रोष और विक्षेप से जल-जलकर बुझते, बुझते और जलते, जलते और बुझते; कठिनाईयों को ललकारते चलने वाले सामान्य मानव थे।

काव्य-जीवन के आरंभ में ही मेरा उनसे परिचय हुआ 'मतवाला' के द्वारा। चिट्ठियां आईं-गईं—भावभीनी चिट्ठियां। मेरी कविताएं उन्हीं 'निराला-छंदों' में, उन्हीं दिनों, 'मतवाला' में उन्होंने प्रकाशित कीं। मेरे कलकत्ता-प्रवास में यह परिचय और भी दृढ़ हुआ। फिर तो लखनऊ, वाराणसी, प्रयाग में न जाने कितनी बार उनसे मिलना-जुलना होता रहा। मैंने आरंभ में उन्हें देखा है; मध्य में हिंदी-गगन के मध्याह्न-सूर्य सा चढ़ता-चमकता उन्हें देखा है और उनके जीवन की अंधकार के गर्भ में विलीन होती संध्या भी देखी है, जब वह थके-हारे, विक्षिप्त किंतु डूबते हुए भी अरुणिमा से मंडित थे। मैंने उनके महत् स्वरूप को देखा है और उनके मानव में निहित, दबे हुए परंतु बार-बार सिर उठाने वाले पशु को भी देखा है। वह जूझे हैं, लड़े हैं, पटका है परंतु उन्होंने

पटकान खाई भी है। इसलिए आज जब वह नहीं हैं तब आवश्यकता है संपूर्ण मानव रूप में उनके अध्ययन की। यह जो केवल प्रशंसा का राग अलापने की प्रथा है या जो केवल निंदा ही करने की परिपाटी है, वह गलत है। प्रशंसा और निंदा के अपार भार से 'निराला' दब गया है।

वाराणसी वह आते रहते थे। जब आते तो स्व० विनोदशंकर व्यास के यहां जमकर रहते और नित्य 'प्रसाद' जी के यहां, या फिर गंगा में नाव पर हमारी गोष्ठी जमती थी। बंगला कट का, तंग कलाइयों का कुर्ता, धोती, लंबा कद, चौड़ा और पुष्ट सीना, उन्नत ललाट और बड़ी-बड़ी आंखें। हृदय और आंखों में कोमल भावों को बसाए परंतु ऊपर से उखड़े-उखड़े, ऊबड़-खाबड़ व्यक्तित्व। हम अक्सर गंगा की लहरों पर बहती हुई तरणी में उनसे रवींद्र-संगीत सुनते; फिर बंगला और हिंदी की तुलनात्मक आलोचना होती। प्रायः वह कहते थे कि रवींद्रनाथ अपने गीतिकाव्य में, सुर और संगीत की दृष्टि से, बेजोड़ हैं। कभी बिगड़ जाते 'सार द्वारिकानाथ ठाकुरेर नाती कहकर और वैभव की पार्श्वभूमि से लदे रवींद्रनाथ के प्रति विरक्ति भी प्रकट करते। 'मूडी' आदमी थे; अपनी सनकों के राजा थे। परंतु किसी भी रंग में हों 'प्रसाद' जी, जिन्हें वह 'बाबू साहब' कहते थे, का बड़ा सम्मान करते थे; उनके सामने कोई अशिष्ट बात न करते थे। मुझे याद नहीं कि कभी उन्होंने उनके सम्मान के विरुद्ध कोई बात कही हो। उनकी पकड़ और दृष्टि पर वह मुग्ध थे। जब काशी में रहते तो नित्य एक बार 'प्रसाद' जी और हम लोगों से मिले बिना न रहते। वस्तुतः 'प्रसाद' के यहां रहने में उनको और सब सुविधा थी और वह रहना भी चाहते थे किंतु एक बड़ी मुश्किल थी कि उनके यहां और उनके सामने वह निर्बंध नही हो सकते थे—खान-पान, हास-विलास, यौवन के भोग में विनोद के यहां कोई पाबंदी न थी। इसलिए ठहरते वहीं थे। और इस निर्बंध, मुक्त जीवन के लिए काफी बड़ी कीमत उन्हें चुकानी पड़ी।

उनका काव्य और उनका साहित्य उनके निगूढ़ व्यक्तित्व की विविध धाराओं—कभी-कभी परस्पर विरोधी भी—से सिंचित है। बात बड़े मार्के की और ध्यान रखने की यह है कि वह पैदा हुए महिषादल (बंगाल) में, बचपन का प्रारंभिक भाग राजसिक राजदुलार में बीता। परंतु किशोरावस्था और जवानी के दिन बीते या तो गांव गढ़ाकोला (उन्नाव) में या फिर कलकत्ता, लखनऊ और वाराणसी के राजपथों और गलियों में, दरबदर घूमते, ठोकर खाते हुए। इनके व्यक्तित्व में बंगभूमि की तरलता और बैसवाड़ा की कठोर धरती की अनगढ़ता या ऊबड़-खाबड़पन दोनों हैं। अंदर से वह बंगाल की उपज हैं, बाहर से बैसवाड़ा की। उनके जीवन में, उनके काव्य में, उनके साहित्य में जो विषमताएं हैं, जो परस्पर विरोध है, वे इसी कारण हैं।

सच पूछें तो वह अंतर से बंगभूमि की ही संतान थे—वही नवनील नीरद-से खूब आर्द्र और भरे हुए, वही समुद्रतटीय तूफानों को अंक में समेटे, क्षण में अत्यंत विनत और मृदुल, किंतु दूसरे ही क्षण उत्तेजना के शिखर पर आरूढ़, वही उर्वरा शक्ति जो देती है तो बहुत देती है और सूख जाती है तो कठोरता को भी कठोर लगने लगती है; उदारता इतनी कि सर्वस्वत्यागी को भी लज्जित करने वाली किंतु दूसरे ही क्षण तन कर यों खड़ी हो जाने वाली कि उद्धतता की गर्दन भी झुक जाए।

बंगला ही थी उनकी मातृभाषा और वह ऐसी मुहाविरेदार, बल्कि ग्रामीण भी, बंगला बोलते थे कि अच्छे-अच्छे बंगाली विद्वज्जन उनकी समता नहीं कर पाते थे। हिंदी तो उन्होंने बाद में सीखी या यह कहें कि उन्हें सिखाई गई। उनकी पत्नी ने उन्हें इस ओर प्रेरित किया। उन्हीं ने शुरू में उन्हें हिंदी सिखाई। प्रतिभा तो उनमें थी ही, वह बहुत जल्द हिंदी में आ गए और कविता करने लगे। बंगला का प्रभाव उनके जीवन के प्रथमार्द्ध में तो बहुत अधिक था किंतु थोड़ा-बहुत वह जीवन के अंत तक बना ही रहा।

जिसे उन्होंने मुक्त पद्य या 'फ्री वर्स' की संज्ञा दी थी, वह भी बंगला का ही प्रभाव था। उन्होंने अपने पत्रों में और बाद में बातचीत में भी मुझे बताया कि यह विचार गिरीशचंद्र घोष के नाटकों को देखने-पढ़ने से उनके अंदर पैदा हुआ था। गिरीशचंद्र ने अपने नाटकों में कथोपकथन के लिए अमित्राक्षर छंदों का प्रयोग किया था। निराला इन मुक्त छंदों द्वारा बंगला और हिंदी की प्रयोगभूमि को एक-दूसरे के निकट लाना चाहते थे और इसी उद्देश्य से उन्होंने आरंभिक कविताएं लिखी थीं किंतु बाद में जब वह हिंदी में मुक्त काव्य-धारा के अग्रदूत घोषित हो गए तो वे सब बातें भुला दी गईं।

किशोरावस्था और जवानी अपेक्षाकृत कष्ट में बीती। कलकत्ता छोड़ने के बाद और महादेव बाबू—जैसे जौहरी से दूर रहकर निराला में काफी भटकाव आया। कोई दूसरा वैसा पारखी इन्हें मिला नहीं। लखनऊ में दुलारेलाल भार्गव से जहां तक हो सका, उनका मान-सम्मान किया परंतु 'निराला' तो अनुशासन जानते ही न थे। उधर पत्नी भी बिछुड़ गई। गहरी चोट लगी। बच्चे ननिहाल में रहकर पढ़ते रहे परंतु निराला उनके स्नेह के आदान-प्रदान से भी वंचित हो गए। यह तो कहिए कि कलकत्ता में रहते समय 'समन्वय' के संपादन के दिनों में रामकृष्ण मिशन के विद्वान वेदान्ती संन्यासियों के 'सत्संग' और महादेव बाबू से जो कुछ पाया था, और गढ़ाकोला में रहते समय मगरायर में रोज कुश्ती लड़ाने वाले हजारीलाल की देखरेख में देह की जो दृढ़ता प्राप्त की थी, वह बहुत दिनों तक उनके काम आई और उसने उन्हें सहसा बिखरने नहीं दिया। एकांत और दैन्य में बीते वे दिन उनके जीवन के मेरुदंड

बन गए। मीलों पैदल चलते, अखाड़े में लड़ते, हाथ से खाना बनाते, प्राय: धरती पर सोते, पुस्तकालय में पुस्तकें पढ़ते। ये सब उनके गढ़े जाने के तत्त्व थे। वह इन तत्त्वों को समेटते हुए चलते रहे। लड़की सरोज को बहुत चाहते थे; बड़ा लगाव था उससे। एक साहित्यिक युवक से बड़े चाव से उसकी शादी की थी। परंतु उसमें भी धोखा हुआ। सरोज भी काल कवलित हो गई। यह वह जमाना था, जब एक ओर ऊपर-ऊपर वह अलमस्त दिखते, पर अंदर घुटन और पीड़ा; अपने रिसते अंतःव्रणों के साथ, अनियंत्रित घूमते रहते थे। आज यहां, कल वहां। दुर्भाग्यवश उन स्नेहवंचित, भरी जवानी की टूटती उमंगों से भरे निराला पर किसी का नियंत्रण भी न था। स्नेह से, मृदुल रमणीय भावनाओं और स्वप्नों से आलोड़ित कोई झुककर विजय करने वाला या वाली कहीं थी नहीं, और दूसरों की वह सुनने वाले न थे। न स्नेह का नियंत्रण था, न बुजुर्गी का। फलतः खान-पान, रहन-सहन सब अनियमित होता गया। लंबा-तगड़ा लड़ंत शरीर, प्रमदा-वियुक्त, आत्म-नियंत्रण नहीं, पर नियंत्रण नहीं, बस वह उच्च भावभूमियों से विच्युत, काम पीड़ा से जर्जर होते गए—यहां तक कि 'सिफलिटिक' तक हो गए। वाराणसी में जहां तक संभव था. छिपाकर काफी इलाज भी हुआ और उसे दबाया गया पर जैसा कि प्राय: होता है, यह विष अंतःस्थ हो गया, ऊपर से दब गया पर अंदर-अंदर बना रहा। जब तक शरीर में बल और ओज रहा, पता न चला किंतु वृद्धावस्था में अनेक धाराओं में फूट पड़ा। उनके मस्तिष्क पर इस विषमयता का बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा था। वह बीच-बीच में विक्षिप्त हो जाते थे और विक्षिप्तों-जैसे काम करते थे। स्वार्थियों ने अपना काम निकालने के लिए उन्हें चंग पर चढ़ाया, उनकी विक्षिप्तता और असंतुलित प्रवृत्तियों को मानस व्याधि विज्ञान के प्रकाश में समझने की जगह उनमें महत्ता और असाधारणता का दर्शन कर जी हुजूरी की; फलतः उनमें असंतुलित अहम् बढ़ता गया। यहां तक कि वह अपने को अंग्रेजी का महाकवि मानकर अंग्रेजी बोलने लगे, अपने को अपनी मां का औरस पुत्र न कहकर राजकुमार कहने लगे, समाज की उच्चस्तरीय और प्रतिष्ठा प्राप्त महिलाओं से अपने को जोड़ने की चेष्टा करने लगे। कभी कहते निराला मर गया, कभी कहते मैं शेक्सपीयर का बाप हूं।

यदि कोई होता उनकी सेवा करने वाला ऐसा जो अपने को मिटाकर, अपने स्नेह से उन्हें संयम में रख सकता, खान-पान को संतुलित करता तो उनका हिमालय-सा शरीर चटखी चट्टानों की तरह टूट-टूट कर न गिरता। परंतु जैसी स्थिति थी उसमें वह किसी की सुनते न थे; उनसे बहस करना आफ़त मोल लेना था। एक बार मुझे अमीनाबाद में मिल गए। कहने लगे—'तुम्हारी क्या खातिर करूं, मछली-गोश्त तुम्हारे भाग्य में भगवान ने लिखा नहीं, लाला

होकर भी बोतल वासिनी देवी की कृपा—कटाक्ष का आनंद तुम जानते नहीं, मुर्ग मुसल्लम के स्वाद से महरूम, हूरो गिल्मां के चश्मेबद्दूर तुम्हें लगे नहीं, तुम्हारे-जैसे बदनसीब इंसान का कैसे स्वागत करूं? खैर, चलो।' फिर पकड़ ले गए; मलाई-रबड़ी खाई-खिलाई। पर मेरे साथ उनका मन न भरा या कहिए पेट न भरा, तो घुस गए एक होटल में, और यह लाओ वह लाओ, गरज जमकर मांसाहार किया। मैंने कहा : 'यह क्या करते हैं? इस प्रकार दोनों चीजें एक पर एक न खानी चाहिएं; रस-दोष होता है। बाद में यह सब निकलेगा।' कहा : 'हकीम का शुक्रिया' और उपहास की हंसी हंसकर रह गए। उत्तरार्द्ध जीवन में प्रयाग में भी, न्यूनाधिक, यही ढंग चलता रहा। संयोग की बात, उनका आतिथेय परिवार था ठाकुरों का। वह भी मांसाहारी। सो उन्हें मांस खाने का चटखारा लग गया था और देहावसान पर लोगों ने देखा कि उनकी आंतें फूल-फूलकर विकृत हो गई हैं।

मतलब यह कि उनमें शुरू से परस्पर-विरोधी तत्त्व थे। अंदर से मृदुल किंतु ऊपर चिनगारियों से खेलते हुए, अंदर से आत्मार्पित पर ऊपर से सदा खम ठोंकने वाले। मानो दो विषम भूमियां अपनी प्रभुसत्ता स्थापित करने के लिए सदा लड़ती रहीं। 'अनामिका', 'गीतिका' और 'कुकुरमुत्ता' इसी दो भाव-भूमियों के छोर हैं। सब मिलाकर उनके साहित्य में पौरुष का प्रदीप्त स्वर है। उनके काव्य और साहित्य के अनुशीलन में हिमालय उपत्यका की मनोरमता और दुर्गमता दोनों का आनंद और त्रास साथ-साथ है। हिंदी काव्य को उन्होंने मुक्ति का स्वर दिया; उसे ओजस्वी और दीप्त भावनाओं से भूषित किया और 'राम की शक्तिपूजा' में एक नूतन आदर्श हमारे सामने रखा। माइकेल मधुसूदन के 'मेघनाद-बध'—जैसा प्रखर उत्पावेग है 'राम की शक्ति-पूजा' में। दो भावभूमियों पर अवस्थित होते हुए भी, वेग और प्रवाह की दृष्टि से, दोनों एक ही तल पर हैं। मधुसूदन का जीवन भी बड़ा अनियंत्रित था; कुछ वैसी ही अवस्था थी 'निराला' की।

उनका 'अहम्' अधिक उच्चस्तर पर जा सकता तो वह कुछ और होते किंतु जरा से उत्तेजन से उनके अंदर सोया पड़ा मगरायर (उन्नाव) का अखाड़िया भभक उठता था। सुमित्रानंदन पंत-जैसे श्रेष्ठ छायावादी कवि के ऊपर बिगड़ गए तो उनके 'पल्लव' की चिंदी-चिंदी कर डाली। शरीर से वह 'देव' जरुर थे परंतु मन से दुर्बल थे। जरा-सी बात में उत्तेजित हो उठते थे। उनके इस पंत-मर्दन तांडव को उस समय के छायावादी कैंप में भी अजीब समझा जाता था और बात किसी की समझ में नहीं आती थी। स्व० पं० माखनलाल चतुर्वेदी (भारतीय आत्मा) ने अपने निजी पत्रों में इस अशोभनीय कांड पर बड़ा चुभता व्यंग किया था।

सब मिलाकर उनकी जीवन और काव्य-यात्रा में हिमालय-प्रवास के आनंद और खतरे हैं। वह हिमालय की चोटियों की भांति तनी, उन्नत, पर अपने अंचल में खूंखार जानवरों-सी वासनाओं को छिपाए, चट्टानी प्रस्तर-खंडों को मार्ग में लुड़काते और कल्याणी स्रोतस्विनियों को प्रवाहित करते, चले गए।

अंतिम दिनों में, विक्षिप्त होते तो, न जाने कितनी असंबद्ध और अनर्गल बातें बकते रहते थे। लोग बड़े आदमी की दुर्बलताओं की भांति उन्हें सहन करते थे। किसी ने तनकर उनसे नहीं कहा कि तुम गलत कर रहे हो। लोग समझते थे और उनकी दशा पर चुपचाप आंसू बहाते थे।

1940 ई० छायावाद युग के संध्याकाल का आरंभ है। उस समय तक 'निराला' को स्वयं ही यह भान होने लगा था कि मैं जीवन यात्रा के अंतिम चरण में प्रवेश कर रहा हूं। ऐसे ही क्षणों में, अपने घोर एकाकीपन से त्रस्त होकर उन्होंने अपनी अदृष्ट लिपि मानो स्वयं लिख दी थी :

मैं अकेला।
देखता हूं आ रही,
मेरे दिवस की सान्ध्य वेला।

और—

एक दिन थम जाएगा रोदन,
तुम्हारे प्रेम-अञ्चल में।

और वह अपना रोना बंद कर, हमें रुलाकर प्रभु के प्रेमांचल-तले सो गए।

हमारे साहित्य की पगडंडिया उनके प्रबल पदचाप से जैसे आज भी मुखरित हैं। वह निश्चय ही एक महान कवि थे, एक सच्चे मानव थे—अपनी शक्ति के उन्मेष में भी और अपनी दुर्बलता में भी।

सुमित्रानन्दन पन्त

छायावादी वृहत्त्रयी के कवि सुमित्रानन्दन, हमारे सौभाग्य से, अभी हमारे बीच हैं। इन्हें भी आरंभ में प्रसाद और निराला की भांति विरोध का सामना करना पड़ा, यद्यपि उस मात्रा तक नहीं। अपने आवेश और क्रोध में निराला तक ने उन पर आक्रमण किया; पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी-जैसे दिग्गज पुरातनवादी समालोचकों की तो बात ही क्या। इन विरोधों का, आरम्भ में, सिवाय 'वीणा' की भूमिका में एक बार जवाब देने के, और अच्छा जवाब देने के, वह कभी इस स्तर पर, अखाड़े में, उतरे ही नहीं। पन्त जी स्वभाव से ही कोमल और उदार हैं। वह अपनी रचनात्मक साधना में विश्वास रखते हैं और अखाड़ेबाजी उनकी प्रकृति के ही विरुद्ध है।

उनके काव्य से मेरा परिचय 1923 ई० के लगभग हुआ किंतु उनसे भेंट 1926 या 27 में हुई। पत्र-व्यवहार उन दिनों उनसे काफी था। जब पहली बार उनसे मिला तो वह स्टैनली रोड (इलाहाबाद) के एक बंगले में रह रहे थे—अत्यंत शांत और सौम्य वातावरण में। उनके काव्य और उनकी सजधज पर भी अंग्रेजी कवि शेली का बड़ा प्रभाव था। दुबले-पतले, गौरव वर्ण, कुछ ढूंढ़ती स्वप्निल आंखें, लंबे लहराते, कुछ-कुछ सुनहले बाल, बहुत धीरे-धीरे बोलने वाले। कुछ डूबी-सी ध्वनि जैसे सामने से नहीं किसी दूसरी दुनिया से आ रही हो। मुझे जोर से बात करने की आदत थी। लगा, जैसे तीव्र शब्द-ध्वनि को सहन करने में भी उन्हें कष्ट हो रहा है। एक स्वप्निल लोक में, आत्मप्रसूत स्वप्नों और कल्पनाओं के बीच, प्रकृति के सान्निद्धय में रहने को उत्सुक पन्त को देखकर मुझे उस दिन ऐसा लगा था, जैसे वह जीवन की प्रखर दोपहरी से भागकर श्यामल नीड़ में छिपने को उत्सुक पंछी हों।

उस दिन विश्व साहित्य की प्रवृत्तियों, अपने साहित्य की दिशा तथा अपने एवं उनके निजी जीवन की कितनी ही बातों पर देर तक वार्तालाप होता रहा। मुझ पर उनकी सहज कृपा हो गई और कालांतर में वह कृपा एक प्रकार के सौहार्द में बदल गई। 19;0 ई० तक मेरा उनका निजी पत्र-व्यवहार होता रहा। कितने ही प्रश्न अपना समाधान उन पत्रों में आज भी ढूढ़ते हैं। मैं जहां भी रहा, उनकी रचनाएं समय-समय पर मांगकर प्रकाशित करता रहा। फिर मैं सत्याग्रह आंदोलन की झंझा में ऐसा पड़ा कि और बातों को सोचने-समझने के लिए समय नहीं रह गया। और जब कुछ फुर्सत हुई तो समय के व्यवधान ने मुझमें एक झिझक पैदा कर दी थी।

सुमित्रानन्दन को कविता लिखने का शौक बचपन से था। जब 15 साल के थे तब कविता में एक पत्र लिखा था, जो अब अप्राप्य है। पहली तुकबंदी छपी 'अलमोड़ा अखबार' में। शीर्षक था 'मैं और तंबाकू का धुवां'। फिर छपी 'कागज-कुसुम' जो कमरे के नकली गुलदस्ते को देखकर लिखी गई थी। इसमें वह कागज-कुसुम से पूछते हैं कि जब असली कुसुम के रूप-रंग में विकृति आती है तब भी तू सदा तरुण बना रहता। तब तू दीन क्यों है और तेरे पास मधुप क्यों नहीं आता है? वह उत्तर देता है—सब हैं पर सौरभ और सुकुमारता तथा मधु न होने से मैं उपहास का पात्र हूं। तुम नकली रूप-रंग पर मत जाना। तीसरी कविता 'मर्यादा' में छपी। इसमें कवि विकास पथ पर चल निकला था! 'पल्लव' की कविताओं में सौंदर्यात्मक विलास है, वह 'कार्य' की दृष्टि से अच्छा है पर 'वीणा' में इनके अंतर का प्रतिनिधित्व उससे कहीं अधिक है।

मैं प्रसाद की समन्वित अभिव्यंजना, निराला के संघर्ष एवं पौरुष भरे

स्वर का कायल रहा हूं किंतु इन सब में मुझे पन्त जी सब से शालीन, निरुद्विग्न, शिष्ट और उदार लगते रहे हैं। वह ऐसे ? मनुष्य हैं जो पारस्परिक कलह, विद्वेष, द्वंद्व और वैमनस्य से ऊपर उठ गया हो। समय बहुत बदल गया है; आज समाज-जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उद्दंडता है, खीझ का स्वर है, हिंसा है, टोलियां बनाने और दूसरों की टोपी उछालने की प्रक्रिया है—लोग तेजी से इस या उस गुट में मिलते जा रहे हैं किंतु इन सब के बीच पन्त जी ने अपनी वह सांस्कृतिक लोच और सहृदय शिष्टता कायम रखी है जो मानवता का श्रृंगार है।

इसका यह मतलब नहीं कि 'वीणा' के कवि पंत आज भी वही हैं। नहीं, उनकी कवि दृष्टि का निरंतर विस्तार होता गया है। बदलते प्रत्येक परिवेश से उन्होंने शक्ति प्राप्त की है। मानव समाज के कष्टों के समाधान में संलग्न जितने भी बौद्धिक, सामाजिक या आध्यात्मिक वाद हैं सबने किसी न किसी अंश में उन्हें आकर्षित किया है—गांधीवाद, समाजवाद, साम्यवाद, (अरविंद का) प्रबुद्ध मानववाद सबसे उन्होंने प्रेरणाएं ग्रहण की हैं, अपना विकास किया है और बराबर ऊर्जस्वित होते रहे हैं। उनकी सबसे बड़ी विशेषता यही है कि न तो वह 'प्रसाद' की भांति कुल परंपराओं के शिकार हुए, न निराला की भांति संघर्ष में आत्म नियंत्रण खो बैठे। उनका मृदुल एवं लचीला व्यक्तित्व फैलकर चातुर्दिक के सत्य को अपने अंक में समेट लेता रहा है। इसलिए आज भी हिंदी में वह अपने ढंग के अकेले व्यक्तित्व हैं। कल्पना के राजकुमार, भारतीय सांस्कृतिक सामंजस्य के हमारे साहित्य में एक मात्र प्रतिनिधि, तटस्थ भाव से जीवन और साहित्य की साधना में लगे हुए—जरा भी बनावट नहीं, कल्पना के रंगीन पंखों पर बैठे काल के पदक्षेप और प्रकंपन को सहज भाव से वहन करने वाले। 'वीणा' से 'चिदम्बरा' तक बहुत लंबा रास्ता उन्होंने तय किया है किंतु इस लंबी यात्रा का पथिक आज भी तत्वतः वही है जो वह उस समय था जब उसने यात्रा आरंभ की थी। वृद्धत्व में भी उनका वही निर्दोष शिशुत्व आज तक सुरक्षित है—वही कुछ ढूढ़ती आंखों के स्वप्निल संसार, वही शैशव की जिज्ञासा का स्वर, वही सरल विश्वास की वृत्ति और सबके ऊपर आदमी को आदमी समझने और उसके साथ वैसा ही बर्तने की तत्परता।

एक जमाना था जब वह आध्यात्मिक रहस्यों की ओर कुतूहल से देखते थे; कुछ समझते न थे। कौसानी (हिमालय) में जन्मे पंत जी कही भी रहें, उनके चर्तुदिक वही रजत हिमश्रृंगों का हास, अनेक रूपों में डोलती प्राणवायु के झकोरे, कल-कल करती पहाड़ों से कूदती नदियां, कलख करते निर्झर और चिरहरित वनश्री रहती है। यही है उनका अंतर्जगत जिससे वह शक्ति प्राप्त करते हैं। प्रकृति ने अपने अगणित रूपों और श्रृंगार विधाओं से जैसा उनके मन-प्राण को

उद्वेलित किया है, वैसा किसी हिंदी कवि के प्राणों को नहीं किया। जैसे उनकी आत्मा उसके प्रति सदा आवाहन के स्वरों में गुंजित है—तुम नव-नव रूपे ऐ शो प्राणे। सो प्रकृति उनमें सहस्र-सहस्र रूपों में प्रस्फुटित और प्रमुदित दिखाई पड़ती है। नक्षत्र-खगों से कूजित आकाश, नव-नील-नयन-सा कुसुमित आकाश, रूपे-सी, पायल झंकारती चांदनी, सोने-सा जादुई प्रभात, लहरों की अंगड़ाई लेती हिलोर, कलियों का अवगुंठन भरा मृदु हास, पिकी का कूजन, संध्या का श्यामल अंचल, तरु की तन्वंगी-सी छाया—प्रकृति हजार-हजार रूपों में उन्हें लुभाती है। पंत विश्व की इस असीम सौंदर्य-राशि को देखते हैं और मुग्ध होते हैं, मुग्ध होते और देखते हैं—नव-नव रूपों में देखते हैं, कभी अघाते नहीं। 'जनम-जनम तव रूप निहारिल, प्रान न तिरपित भेल।' यही नित्य-सौंदर्योपासना उनके काव्य और जीवन का बल है। इसके कारण उनके शब्द केवल बोलते नहीं; उनमें स्पर्श का भी सुख है। उनके शब्द हमारे साथ खेलते हैं, हमें गुद-गुदाते हैं। शब्दों के चुनाव में वह माहिर हैं। किसी शब्द के स्वर में डूबकर उसके लिंग का निर्णय और प्रयोग करते हैं। हिंदी में वही एक हैं जिन्होंने पुल्लिग शब्दों का स्त्रीलिंग में प्रयोग करके उनके कोमल, निहित अर्थों की व्यं-जना की है। व्याकरण शास्त्र की दृष्टि से यह महान दोष है परंतु शब्द की प्राण-ध्वनि से लिंग-निर्णय का एक नवीन सिद्धांत उद्‌घाटित करके उन्होंने बहुतों को आश्चर्यमुग्ध कर दिया है। कोमल शब्दों की अद्‌भुत व्यंजना द्वारा शब्दों की प्राणमयता को प्रकट करके एक चित्रात्मकता का सृजन उनके काव्य का गुण है। इन बहुल कोमल-कोमल शब्दों की पांती में एक भी कर्मकटु शब्द स्थान नहीं पाता।

पन्त अविवाहित हैं। पता नहीं, उनके जीवन में कोई नारी संपूर्णतः आई या नहीं। उनके काव्य से तो लगता है कि आई होगी—धीरे-धीरे। भले अव-गुंठन न खुले हों, नयनों से नयन न मिले हों, हृदय सब कुछ देकर सब कुछ पा लेने से रह गया हो परंतु चाहे चुपके-चुपके उन्होंने नारी को, उसकी सारी मृदुलता के साथ, अपने प्राणों में, अपने जीवन में उतार अवश्य लिया है। शायद ये लंबे रेशम से बाल उसी नारी की स्मृति-भार-से उनके साथ लगे रह गए हों, जैसा कि 'पल्लविनी' में एक जगह वह इशारा भी करते हैं :

घने लहरे रेशम से बाल,
धरा है सिर पर मैंने देवि !
तुम्हारा यह स्वर्णिम श्रृंगार,
स्वर्ग का सुरभित भार।

परंतु यह भी हो सकता है कि पंत का प्रेम एक जगह बंधकर रहने वाला नहीं है। उनमें बहुतों को प्यार करने की क्षमता रही है। उनमें प्रेम कर

सकने की शक्ति बहुत है और अनेक लोग, अनेक रूपों में उन्हें आकर्षित करते हैं। यह प्रेम का वितरण ही है जो उनमें न समाकर फैलता गया है और फैलाया गया है।

नारीत्व को अपने जीवन में, काव्य में सर्वत्र पन्त ने दृढ़ाग्रह से अपना लिया है। इसीलिए उनमें निराला का पुरुष-स्वर, उद्घोष और उत्पात सब दब गए हैं। जहां विद्रोह का स्वर है, ओजस्विता है, तीव्र विश्वास है वहां भी वह नारीत्व के माधुर्य से विजड़ित है। उनमें दामिनी का नर्त्तन स्वर तो है किंतु सजल श्यामल मेघ का क्रुध उद्घोष नहीं है।

'वीणा' में नारी की पकड़ मातृ रूपा है, क्योंकि पन्त का तत्कालीन काव्य शैशव का काव्य है। चिदम्बरा' में भी नारी मातृरूपा है—परंतु शैशव की सहज ममतामयी मां, कवि की अनुभूति से चिन्मयी हो गई है। बीच के काल में नारी जीवन सखी न होकर भी जीवन सखी रही है—कोमल, मृदुल, रसार्द्र और संगीत से पूर्ण। कौतूहल विस्मय और विस्मय 'अर्चना' में बदलता गया है किंतु व्यापक दृष्टि से उनका काव्य ही नारीमय है—काव्य का जीवन भी। नारी के प्रति पन्त अंदर से ही इतने उमड़े-उमड़े, इतने रसार्द्र और भरे हुए हैं कि क्या कहें।

पन्त की एक और विशेषता यह है कि उनका स्नेह का भूखा हृदय—मां से बिछुड़ा, पिता से वियुक्त, फिर पितृ-तुल्य अग्रज के निधन से मुमूर्ष, किसी को पाने की अनुभूति जब हो रही थी तभी सब कुछ छिन गई-सी अनुभूतियों से प्रताड़ित हृदय अपने वेदना भार से दब नहीं जाता वरं सहजात अपेक्षाकृत व्यापक वेदनाओं में निमंत्रित होकर अमल-धवल होता जाता और मानवता के शत-शत दुखों को अपनी क्रोड़ में ले लेता, उनको अपना बना लेता और अपने को उनका बना देता है। यह साधारणीकरण ही सदा काव्य की रसवती भूमिका रहा है परन्तु पन्त के जीवन और काव्य दोनों में वह सार्थक हो गया है। प्रत्येक वेदना उनको मरण की ओर नहीं, जीवन की ओर खींच कर ले गई है।

सुमित्रानन्दन के विषय में लिखते हुए एक बात याद रखने की आवश्यकता है और वह यह कि यद्यपि उनका काव्य उनके जीवन की समानांतर भूमि पर अग्रसर हुआ है किंतु वह और उनका कवि दोनों आरंभ से ही दो अलग-अलग इकाइयां हैं। वह अपने कवि को प्यार करते हैं। किंतु अपने को उससे भी अधिक प्यार करते हैं। एक प्रकार की आत्ममुग्धता उनके जीवन में शुरू से रही है। समस्त गुण-दोषों के साथ अपने को उन्होंने निरंतर प्यार किया है। काव्य उनका सर्वस्व नहीं है, वह उनके एक मुख्य अंश की अभिव्यक्ति मात्र है। महादेवी की भांति वेदना उनकी काव्य नहीं; हर अवस्था में

सौंदर्यजात आनंदानुभव उनकी प्रकृति है। जहां वेदना है वहां भी उनकी दृष्टि उसमें आनंद का स्रोत खोज लेती है। इस प्रकार वह स्वानंदी मानव हैं। मानव से बड़ा कुछ भी नहीं है उनके सामने।

सुमित्रानन्दन कवि ही नहीं, अच्छे लेखक भी हैं परंतु उनकी गद्य रचनाओं पर भी 'प्रसाद' की भांति ही उसके कवि स्रष्टा की छाप सर्वत्र है। उनके काव्य—गद्य और पद्य दोनों—में एक दूरागत वंशी ध्वनि है; उनमें मानवता के समस्त दुःखों एवं पीड़ाओं के बाहर एक ऐसे समाज और जगत के आगमन का आश्वासन भी है जब हम सब एक श्रेष्ठ स्तर पर होंगे और बंदी मानव के बंधन खुल जाएंगे।

यह ठीक है कि निराला की भांति पन्त ने हमारे साहित्य में हड़कंप नहीं मचाया, न उनके पदाघात से हमारी भावना-धरित्री डगमग हुई; उन्होंने कोई हड़कंपी रचना भी हमें नहीं दी किंतु शांत, सरल, निश्चल, स्नेहल दीपशिखा-सी उनकी साधना सरस्वती के मंदिर को सदा प्रकाशित करती रही है, और लगता है, जीवन के अंत तक प्रकाशित करती रहेगी।

12

कानपुर की त्रिमूर्ति

छायावाद युग के आरंभ से ही कानपुर में साहित्य-प्रेमियों और साहित्य-स्रष्टाओं का अच्छा जमघट रहा है। हर प्रकार के लोग यहां थे। पं० महावीर-प्रसाद द्विवेदी, जो आधुनिक हिंदी के निर्माताओं में से एक थे, जुही में रहते थे। पं० गयाप्रसाद शुक्ल 'स्नेही', जिनका कुछ समय पूर्व देहावसान हो गया, पुरानी परंपरा के बहुत ऊंचे कवि थे। कविश्रेष्ठ तो थे ही, उनकी शिष्यता और पथ-निर्देशन ने अनेक उच्च कवियों का निर्माण किया। सबसे मजेदार बात यह थी कि एक ओर वह 'सनेही' थे, और आजावन रसार्द्र काव्य का सर्जन करते-कराते रहे, दूसरी ओर राष्ट्रीय जागरण के अग्रदूत बनकर 'त्रिशूल' को भी साहित्य में प्रतिष्ठित किया। पं० रमाशंकर अवस्थी का, प्रसंग-वश, पहले जिक्र किया जा चुका है। पं० विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' का कथा एवं मनोरंजन—साहित्य की सर्जना में उल्लेखनीय योगदान रहा है। गणेश-शंकर विद्यार्थी—जिन्हें हम प्रेम और श्रद्धावश गणेशजी कहते थे, तो मानो यौवन की आकांक्षाओं और समाज तथा राष्ट्र के प्रति समर्पित आत्माओं के कल्पवृक्ष थे। न जाने कितने देशभक्त, कितने राष्ट्रकर्मी, कितने पत्रकार, कितने साहित्यिक गढ़े होंगे इन्होंने। इस दिशा में उनके साथी पं० शिवनारायण मिश्र वैद्य के भी हम कम आभारी नहीं हैं।

परंतु ये लोग तो गुरुजन थे; आचार्य-कोटि में थे। इनकी छाया तले छायावाद युग की कुछ तरुण प्रतिभाएं भी कानपुर में विकसित हुईं। इनमें तीन के साथ हमारा अच्छा परिचय हो गया था: बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', भगवतीचरण वर्मा और प्रतापनारायण श्रीवास्तव। तीनों हमारे साहित्य गगन के उगते हुए नक्षत्रों में थे और तीनों ने आगे चलकर अपने-अपने ढंग से काफी नाम कमाया और काम भी किया।

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

लखनऊ में हिंदी साहित्य सम्मेलन का पंचम अधिवेशन था। उन दिनों

'प्रभा' खंडवा से निकली थी और कालूराम जी गांगराडे, माखनलाल चतुर्वेदी, सिद्धनाथ माधव लोढ़े (आगरकर) इत्यादि का योग था। ये सब लखनऊ जा रहे थे। उज्जैन का एक विद्यार्थी भी इनके डिब्बे में सवार हो गया। उसे कविता और साहित्य से प्रेम था और वह भी सम्मेलन जा रहा था। चतुर्वेदी जी तो शुरू से ही समाज सेवी थे; उस समय भी छूतछात बहुत कम मानते थे। उन्होंने एक जगह सोडावाटर मंगवाकर रेल में पिया। जब विद्यार्थी को मालूम हुआ कि यह ब्राह्मण हैं, तो वह बड़ा बिगड़ा। बोला : 'तुमने तो धर्म ही डुबा दिया। मुझे नहीं मालूम था कि तुम ऐसे धर्मभ्रष्ट हो। ब्राह्मण होकर तुम सोडा पीते हो ?' चतुर्वेदी जी चुप। किसी तरह लखनऊ पहुंचे। चतुर्वेदी जी ने विद्यार्थी से कहा : 'इधर-उधर कहां ठहरोगे ? चलो, मेरे साथ ही ठहर जाना।' वह तनकर बोला : 'राम राम ! तुम्हारे-जैसे धर्मभ्रष्ट के साथ कौन ठहरेगा ? जब तुम सोडा पीते हो तो भोजन में न जाने क्या-क्या खाते होगे ?' चतुर्वेदी जी ने हंसकर कहा : 'भाई ! मैं धर्मभ्रष्ट हूं परंतु तुम्हें धर्मभ्रष्ट न करूंगा। तुम्हें जो अच्छा लगे, खाना पीना।' नवयुवक ने कहा : 'अच्छा ! मैं गरीब विद्यार्थी हूं, तुम्हारे साथ ठहर जाऊंगा। मुझे यहां कोई जानता भी नहीं।' इस तरह सब लोग एक जगह ठहरे।

इस सम्मेलन में गणेश जी भी आए थे। 'भारतीय आत्मा' की कविताएं वह 'प्रताप' में छापते थे। उनकी प्रतिभा की ओर आकर्षित थे। वह उन्हें खोजते इस डेरे पर पहुंचे। पूछा : 'भारतीय आत्मा कौन है ?' लोगों के पूछने पर गणेश जी ने नाम बताया। उधर चतुर्वेदी जी संकोचवश जाकर एक कोने में छिप गए। विद्यार्थी यह सब लीला देख रहा था। लोगों ने कहा : 'अभी तो यहीं थे।' अंत में लोढ़े जी की दृष्टि उधर पड़ गई। उन्होंने कहा : 'वह छिपे हैं।' गणेश जी वहां जा पहुंचे और चट उन्हें गले से लगा लिया। जब विद्यार्थी ने देखा कि 'प्रताप' के शक्तिमान संपादक गणेशशंकर जी-जैसे आदमी के मन में इनके प्रति इतना आदर और स्नेह है तो वह भी जाकर उनके पांव पर गिर पड़ा। चतुर्वेदी जी ने झट उसे उठाकर हृदय से लगा लिया। तब से वह विद्यार्थी युवक चतुर्वेदी जी और गणेश जी का भक्त बन गया।

यह पुरातन पंथी, उच्छृंखल विद्यार्थी कौन था ? बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'।

यह घटना मैंने इसलिए लिखी है कि इसमें उस पार्श्वभूमि की झलक है जिस पर 'नवीन' का जीवन खड़ा है। वह बचपन से ही अत्यंत भाव प्रवण और भावावेग में बह जाने वाले थे। एक क्षण में कुछ, एक क्षण में कुछ। जिधर बह गए बह गए। चतुर्वेदी जी की धर्मभ्रष्टता की वह लताड़ और उनकी उथल-पुथल करने वाली रचनाएं एक ही सिक्के के दो बाजू हैं।

उपर्युक्त सम्मेलन के समय से वह दो महती शक्तियों—दो महत् व्यक्तियों

के संपर्क में आए। एक थे 'भारतीय आत्मा', दूसरे थे गणेश जी। 'भारतीय आत्मा' से उन्होंने भावार्द्रता, रसार्द्रता ग्रहण की और गणेश जी से ओजस्विता, आन पर सर्वस्व लगा देने की प्रवृत्ति और कर्त्तव्यशीलता का पाठ सीखा। इस प्रकार वह 'भारतीय आत्मा' और गणेश जी के संयुक्त निर्माण थे। बाद में निरंतर गणेश जी के साथ रहने के कारण उनकी व्यक्तित्व रचना में गणेश जी का पलड़ा भारी हो गया।

वह शाजापुर (मालवा) के भयाना ग्राम के मूल निवासी थे। वहां जन्मे; खाया, खेला, बढ़े। बचपन आत्यंतिक गरीबी के वातावरण में बीता। इनके परिवार के लोग चार आना महीने के मकान में रहते थे। बरसात में टपकता रहता था। रातें जग-जगकर बीतती थीं। पांव में जूता नहीं, पैबन्द लगे कपड़े। मां पिसौनी-कुटौनी करके किसी तरह घर चलाती थी। मिडिल तक शाजापुर में पढ़कर आगे पढ़ने के लिए उज्जैन गए। वहीं से यह लखनऊ सम्मेलन में गए थे। बचपन और किशोरावस्था वहां और उज्जैन में बीती। उनके जीवन और काव्य में मालव भूमि का आकर्षण और उत्पादकता, वहां के स्नेहल वातावरण का स्वर और वहां की मिट्टी की सुगंध थी। वहां की उन्मत्त संध्याएं और दूधिया चांदनी रातों का नशा उनमें प्रति पग पर दिखाई पड़ता है। निराला की भांति ही लंबे-चौड़े, गठीले शरीर वाले, शहरी होकर भी एक अनगढ़ ग्रामीण सरलता से मंडित, निष्कपट, जिसे अपना लिया उसके लिए प्राण तक निछावर करने वाले, अत्यंत भावुक, अब फूटे, अब फूटे ऐसे रस से लबालब, नवीन हमारे साहित्य में अपने ढंग के एक ही व्यक्तित्व थे।

'प्रताप' और 'प्रताप' की सहयोगिनी पत्रिका 'प्रभा' के माध्यम से मेरा उनका प्रथम परिचय हुआ था। पहले 'प्रभा' के संपादक थे पं० देवदत्त शर्मा। वस्तुतः यही थे पं० कृष्णदत्त पालीवाल, हिंदी साहित्य सम्मेलन के प्रथम साहित्यरत्न, जिन्होंने बाद में आगरा से 'सैनिक' निकाला, उत्तर प्रदेश के वित्त मंत्री बने। यह भी थे तूफानी स्वभाव वाले, जिन्होंने राजस्थानी कट्टर ब्राह्मण होकर भी एक यवनी से विवाह करके समाज-सुधार का पथ प्रशस्त किया। मैंने तो देवदत्त और कृष्णदत्त की हस्तलिपि से पहचाना कि दोनों एक हैं। उनकी भी मुझ पर सदा ही कृपा रही। मैं 'प्रभा' में लिखता था लेख, कविताएं। पालीवाल जी के बाद बालकृष्ण उसके संपादक हुए। इस तरह परिचय हुआ। मेरी कानपुर की अगली यात्रा में वह परिचय घनिष्ठता में बदल गया। कानपुर में मैं गणेश जी के पास ही ठहरता था, उनके फीलखाना वाले 'प्रताप' कार्यालय में। गणेश जी ने ही बुलाकर परिचय कराया और उनके सुपुर्द कर दिया। उनके साथ कानपुर की, और उनके जीवन की भी, कितनी ही गलियां और कुंजगलियां छानी थीं। कुछ भी छिपाव-दुराव नहीं था उनमें। बुरे-भले, भावुक,

बिगड़ैल, विनम्र जैसे भी थे, सामने आए। उनका अंदर कुछ, बाहर कुछ नहीं था। थोड़े परिवर्तन के साथ, वह उस जमाने के हड़कंपी लेखक 'उग्र' और हड़कंपी कवि 'निराला' की याद दिलाते हैं। यह समझना चाहिए कि अपनी कुछ विशिष्ट प्रवृत्तियों के साथ यह उन दोनों के क्रास थे। उनके साथ घूम-फिर कर, घुल-मिलकर मैंने देखा कि 'नवीन' एक ओर राष्ट्र की सेवा में समर्पित हैं, गांधी जी तो उनके उपास्य ही बन गए हैं किंतु उनमें परस्पर विरोधी तत्त्व हैं। भावना की आंधियों पर सवार, जो रुच जाय उसके लिए सब कुछ देने-करने को आतुर, अत्यंत अल्हड़ और अल्हड़ जवानी के आवाहन पर उपास्य गांधी की सेक्स-संबंधी मान्यताओं को नकारने वाले। जरा-सी देर में मरने-मारने को तैयार, जरा देर में ऐसे विनम्र जिस की तुलना नहीं। कठिनाइयों का उपहास करते, बारूद बिछी जीवन की सुरंगों के बीच से उन्हें ठोकर मार कर चलते हुए, जवानी की लोच और जवानी के अगणित आवाहनों—निमंत्रणों से भरे हुए। उसी समय मुझे लगा था कि यह आदमी कब क्या कर लेगा, कहा नहीं जा सकता।

मित्रों ने बहुत चाहा, गुरुजनों ने चाहा, गणेश जी ने चाहा किंतु जब दिन थे, भावना थी, यौवन की अगणित अंगड़ाइयां उनमें उठती थीं, मनुहारों की प्रतीक्षा थी, रस से जीवन लबालब था, उन्होंने विवाह नहीं किया और जब कोई कहने वाला नहीं रहा, जीवन के उत्तरार्द्ध मे जब बालकृष्ण बालश्वेत हो रहे थे किंतु राजनीतिक लोकप्रियता के कारण सत्ता हाथ में आने-आने को हो रही थी, तब एक तन्वंगी से विवाह किया और तब से एक घरेलू कैदी होकर रह गए। वह पुराना अल्हड़पन, वह उन्मुक्त अट्टहास, वह आंधी-सा निर्बंध जीवन, इधर आया उधर गया, सब समाप्त हो गया। यहां तक कि उस नारी को भी असमय अकेला छोड़ वह 29 अप्रैल, 1960 को दिल्ली के विलिंगडन नर्सिंग होम में इस संसार से विदा हो गए। एक तूफान के घोड़े पर उड़ता जीवन, जिसको देखकर गालिब का वह शेर याद आता था :

> रौ में है रख़्शे उम्र कहां देखिए थमे,
> न हाथ बाग पै है न पा है रक़ाब में।……

बालकृष्ण ने बड़ी उन्मद और भावपूर्ण कविताएं लिखी हैं। उनके काव्य को हम दो बड़े भागों में विभाजित कर सकते हैं। एक वे कविताएं हैं जो गांधी प्रवर्तित आंदोलनों या आवाहनों के फलस्वरूप, उनके उद्दाम देशप्रेम के रूप में फूट कर उनसे बह निकली हैं। इनमें विद्रोह का स्वर, यौवन की चुनौतियां और समर्पण की भावना है। कभी-कभी तो लगता है कि वह शब्द नहीं, लावा—आग—उगल रहे हैं। उन्होंने 'भारतीय आत्मा' की भांति ही राष्ट्रीय काव्य को एक ओर अग्नि की दीक्षा दी है तो दूसरी ओर उसे यौवन-सुलभ सौंदर्य से मंडित भी किया है। पीड़ितों के प्रति, दुखी-दरिद्रों के प्रति, आर्तों के प्रति, अन्याय एवं दमन में पिसते

लोगों के प्रति उनमें उद्दाम निजत्व की भावना है। दूसरे प्रकार में वे कविताएं हैं जो उनके अंतर में पलती मृदुल कोमल भावनाओं से निर्झर की भांति फूट पड़ी हैं। इनमें गजल का वातावरण है। दोनों प्रकार की कविताओं में उनके निर्बंध यौवन के आवाहनों का स्वर स्पष्ट है। वे कविताएं नहीं हैं, उन्हीं के व्यक्तित्व के अंश हैं, इसीलिए उनकी अधिकांश मृदुल रचनाएं एक प्रकार के वैयक्तिक काव्य के उदाहरण हैं। बहुत-सी कविताएं ऐसी लगती हैं जैसे पत्र का छद्म रूप हों और कवि जैसे प्रेमिका से सीधे बात कर रहा हो।

कभी-कभी तो लगता था कि जवानी दिवानी सुनेगी नहीं, न कोई मर्यादा मानेगी। जब गणेश जी नहीं रहे और 'प्रताप' का मुख्य भार उन पर आ पड़ा तब तो प्रताप काव्य रूप में कवि के प्रेमालाप का साधन ही बन गया। उस जमाने का महादेवी का एक प्रसिद्ध गीत है : 'बन्धनों की स्वामिनी मैं'। इसी टुकड़े को लेकर उन्होंने कविता लिखी : 'बंध गयीं भुज-बन्धनों में बन्धनों की स्वामिनी तुम।' मैंने उनको विरोध में पत्र लिखा और अपने पत्र 'नव राजस्थान' में तीखी आलोचना भी की परंतु 'निराला' की भांति उनमें एक 'एबंडन' था, एक लापरवाही, जो मानो कहती हो कि कुछ भी हो, जवानी सीधे चलना जानती नहीं और इसलिए चलेगी नहीं। तुम लोग बकते रहो। कुछ ऐसा था उनका रुख।

एक बार उन्हें कुछ फुर्सत थी और आर्थिक स्थिति भी बहुत अच्छी न थी। बातचीत में उन्होंने 'उर्मिला' के प्रति कवियों की उपेक्षा पर बड़ा रोष प्रकट किया था और उपेक्षिता उर्मिला पर एक खंड काव्य लिखने की तैयारी बताई। हम बार-बार उन्हें स्मरण दिलाते और हर प्रकार से उत्साहित करते रहे। फलस्वरूप (1922 ई० में लखनऊ जेल में शुरू किए गए) 1928 ई० में वह 'विस्मृता उर्मिला' काव्य के प्रणयन में कुछ गति ले आए। इसके अनेक अंश हमने मासिक 'त्यागभूमि' में उस समय प्रकाशित किए थे। इस काव्य में उर्मिला के त्याग और पूर्ण समर्पण की भावना की अच्छी अभिव्यक्ति है और करुण रस तथा विषाद भावना का अच्छा परिपाक है। मैं समझता हूं, भारतीय साहित्य में इस विषय-वस्तु पर यह पहला काव्य है। इसके अलावा गणेश जी पर उन्होंने 'प्राणार्पण' खंडकाव्य की भी रचना की है। उनके प्रेम और विरह काव्य का संकलन 'कुमकुम' सर्वोत्तम है।

उनके काव्य और जीवन दोनों में हम प्रखर भावोद्वेग पाते हैं। जैसे बरसाती नदी अपने कूल-कगारों को तोड़ती, सामने पड़ने वाली हर चीज को बहाती हुई चली जा रही है। इस धारा में चट्टानें भी हैं और जीव-जन्तु भी। इसीलिए उनकी कविता की मृदुल शब्द-योजना के बीच कभी-कभी रोड़े से अनगढ़ और अनुपयुक्त शब्द आ जाते हैं। उद्दाम यौवन का प्रखर स्वर आधुनिक हिंदी काव्य को उनकी देन है। बचपन से अंत तक उनका जीवन संघर्षमय है।

भगवतीचरण वर्मा

भगवतीचरण कानपुर के मेधावी छात्रों में थे। उन्होंने भी अपने साहित्यिक जीवन का आरंभ कविता से किया। उन दिनों वह कभी-कभी प्रसाद जी के पड़ोसी अपने एक संबंधी के यहां आया करते थे। प्रसाद जी के यहां ही उनसे भेंट हुई थी। बाद में तो प्रयाग में, प्रफुल्लचन्द्र ओझा 'मुक्त' के साथ कई बार उनसे मिलना हुआ। संभवतः परिस्थिति, विशेषतः मानसिक, अनुकूल न थी। उनकी प्रारंभ की कुछ अच्छी कविताएं वेदना और निराशा से भरी हुई हैं। यह निराशा उनकी 'विदा' कविता में बड़े आवेश के साथ प्रकट हुई थी।

भगवती बाबू में काव्य के उपकरण तो थे किंतु जीवन के कटु युद्ध में उनकी भावना पर विचार का अंकुश बढ़ता गया। यहां तक कि कविता एक उपपत्नी की भांति द्वितीया या गौण हो गई। कविता में ज्वाला थी; वह अंतर को जलाती थी और कभी-कभी ऐसे कटाक्ष करती थी कि आदमी बिंधकर, अक्षम बनकर, रह जाता था। फिर यह अपने अंतर की चीज थी और दुनिया में किसे फुर्सत जो अतलस्पर्शी वेदनाओं का पान करे। कविता के साथ पैसे की भी बात न थी या थी तो वह भी न होने-जैसी। इसलिए कविता से वर्मा जी गद्य में आए और खूब आए।

भगवती बाबू ने जीवन में बड़े पापड़ बेले हैं और जिंदगी और हुस्न की हर एक अदा को जानते-समझते हैं। कलकत्ता, बंबई और लखनऊ उनकी जीवन यात्रा को नापने वाले वामन के पग हैं। इनमें से हर एक का रंग है उनमें। उनके गृहजीवन पर कलकत्ते का रंग है; उनकी व्यावहारिक सफलता पर बंबई का रंग है और उनकी सामंती कैंड़े की रईसी और अकड़ पर लखनवी रंग है। दिन-दिन उन पर लखनवी रंग निखरता गया है—यहां तक कि अब वह उसके स्थायी बाशिंदों में से एक हैं।

कलकत्ते के जीवन में उन्होंने बहुविध प्रयोग किए, बुरे भी, भले भी। 'विचार' नाम का जो पत्र उन्होंने वहां से निकाला था, वह अपने ढंग का हिंदी में एक ही पत्र था; 'दिनमान' तक उसकी पूर्ति नहीं कर पाया है। इस पत्र में कानपुर का ही एक प्रतिभाशाली परिश्रमी युवक विनोदशंकर पाठक भी था, जो अभावग्रस्त होकर बुरी संगत का शिकार हो गया। वह मुझे गुरु तुल्य मानता था किंतु मेरी बात पर न चल कर एक टी० बी० हास्पिटल में उपेक्षित पड़ा रहा और असमय ही काल के गाल में समा गया।

जो भी हो, 'विचार' के द्वारा भगवती बाबू ने न केवल यह सिद्ध किया कि वह उच्च कोटि के पत्रकार भी हैं वरं उनमें जो विचारक भावना की गुत्थियों-तले सुप्त पड़ा था, उसे भी जीवित और प्रबुद्ध कर दिया। उनकी जीवन यात्रा में 'विचार' का संपादन-प्रकाशन एक निश्चित 'माइल स्टोन' है।

इसके बाद कविता यदा-कदा उनके मन बहलाव की चीज रह गई और वह उपन्यास-लेखन की ओर प्रवृत्त हुए। इसमें कई तरह के लाभ थे। साहित्य का मनोरंजन प्रधान ग्रौर लोकप्रिय ग्रंग होने के कारण नाम होता था, पाठक-परिवार का विस्तार होता था, लोकप्रियता मिलती थी और इस विधा में पैसा भी था और कहीं किसी कथा पर फिल्म बन गई तो फिर क्या पूछना। मेरा यह मतलब नहीं कि भगवती बाबू ने इन प्रलोभनों से उसे अपनाया; उनके जैसे मस्त आदमी, जिनमें 'ठेंगे पर सब' वाली उग्र की हेकड़ी और किसी प्रकार के दबाव को न स्वीकार करने का जबर्दस्त तेवर है, इन बातों के लिए उसे नहीं ग्रपनाएगा। वस्तुतः अंदर से भगवती बाबू विचार प्रधान हैं; सामाजिक समस्याग्रों के लिए उनमें एक सुचिंतित समाधान है; ग्रंदर से उनमें एक बेचैनी है जो ग्रपनी बात कहना चाहती है; नेतागिरी की भाषा में कहें तो अपना संदेश ग्रौर अपने विचार ग्रधिकाधिक लोगों तक पहुंचाना चाहती है। कथा और उपन्यास द्वारा इसकी पूर्ति ही उनकी मुख्य प्रेरणा है। और चीजें तो अनायास ही उन्हें उपलब्ध होती हैं।

'चित्रलेखा' जो पहला उपन्यास उन्होंने लिखा, वह खूब लोकप्रिय हुआ। यद्यपि उसमें ग्रनातोले फ्रांस के 'थाया' की छाया थी किंतु वह भी हिंदी में एक नवीन प्रयोग था और उसमें अहंवादी साधना तथा मानव जीवन की मूल वासनाओं के संघर्ष का बड़ा ही मनोरम ग्रौर सफल चित्र है। इस पर रचयिता के ग्रंतःस्थ विचारक और कवि दोनों की छाप है। यद्यपि यह उनकी आरंभिक कृतियों में से एक है किंतु इसको सबसे ज्यादा मान संमान मिला है; इस पर दो-दो फिल्में बनीं और पैसा भी इसने ग्रच्छा दिया है।

तब से उन्होंने कई भारी-भरकम उपन्यास लिखे हैं और 'टेढ़े मेढ़े रास्ते' से बराबर इस क्षेत्र में बढ़ते गए हैं। वह हिंदी के सर्वोच्च उपन्यासकारों में हैं जिनके उपन्यासों में चटनी के मनोरंजन के साथ मलाई की गरिष्ठता भी है। शायद वह हमारे सर्वोत्तम समस्या-उपन्यासकार हैं। इनकी कृतियां हमें गहराई के साथ सोचने को बाध्य करती हैं।

उनके पास जीवन के वैभव-भांडार की लगभग हर चीज है। आलीशान मकान, रुपया-पैसा, भरी-पूरी गृहस्थी, योग्य संतति, परंतु सबसे बड़ी चीज, जिसे वह ग्राज तक बचाते जा रहे हैं, उनकी मूंछ है, भले वह क्लीन शेव्ड हों। उनमें बड़ी प्यारी ग्रकड़ है, और उनकी सर्वोच्च उपलब्धि यही है कि कोई उन्हें खरीद नहीं सकता। हमारे साहित्य में साहित्यकार की स्वतंत्रता की गर्वोन्नत ध्वजा उनके हाथ में सुरक्षित है।

प्रताप नारायण श्रीवास्तव

20 सितम्बर, 1904 को जन्मे प्रतापनारायण से जब परिचय हुआ तब वह क्राइस्ट चर्च कालेज (कानपुर) की उच्च कक्षा के छात्र थे ; बा० भगवतीचरण वर्मा के सहपाठी। उन दिनों हम सब छायावादी नवयुवक कवि और साहित्यकार भावावेश के जीवन से गुजर रहे थे। प्रतापनारायण अपनी किशोरावस्था में थे और बहुत भावुक थे। कुछ युग, कुछ उम्र का तकाजा था और हम सब प्रेम और सौंदर्य की बातें करते थकते न थे। अधिकांश के जीवन में किसी न किसी नारी का भी आकर्षण था। प्रतापनारायण अंग्रेजी में लंबे-लंबे भावपूर्ण पत्र मुझे लिखते और मैं भी वैसा ही करता। उन दिनों वह इंदु नाम की लड़की के प्रति आत्मार्पित थे। किंतु कल्पना के जीवन से वास्तविक जीवन सदैव भिन्न होता है। 'इसलिए 'वेदना मिली विदाई।' इसी वेदना में मैं कवि बन गया और वह लेखक। पहले वह भी कवि ही बने थे किंतु गणेशशंकर जी विद्यार्थी के आग्रह से कविता छोड़ गद्य में आए। कथा साहित्य की ओर उनकी अभिरुचि थी। वह लिखने भी लगे थे। फिर बी०ए०, एलएल० बी० करके वकील बन गए। वकालत और लेखनी की दोस्ती कम ही देखने में आती है क्योंकि वकालत खनाखन का पेशा है और लेखनी दिल जलाने और घर होमने की प्रक्रिया है। पर श्रीवास्तव ने दोनों को निभाया। माता-पिता के देहांत हो जाने और चाचा-चाची के दुर्व्यवहार से क्षुब्ध हो जोधपुर चले गए। वहां मजिस्ट्रेट, सेशन जज आदि रहे।

उन्होंने सामाजिक और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर अनेक उपन्यास लिखे हैं। इन उपन्यासों में कथातत्त्व, कथोपकथन, चरित्र-चित्रण उच्च कोटि का है। भाषा मुहाविरेदार और सरल है; उसमें प्रवाह है। आश्चर्य तो यह है कि आज के आलोचक अपने सिंहावलोकन में प्रायः उन्हें विस्मृत कर देते हैं क्योंकि हिंदी में उनकी 'लाबी' नहीं है और बिना गुटबंदी और प्रचार के हिंदी के बाजार में मिश्री भी मिट्टी के ढेले की तरह पड़ी रह जाती है।

'बलिदान' इनकी पहली कहानी थी जो 15 वर्ष की अवस्था में लिखी गई थी और 'कौशिक' जी के 'हिंदी मनोरंजन' में छपी थी। पहला कहानी-संग्रह 'निकुंज' 1922 में बा० अम्बिकाप्रसाद गुप्त (प्रसाद जी के भांजे) के हिंदी गल्पमाला कार्यालय, काशी से प्रकाशित हुआ। प्रथम उपन्यास 'विदा' 1927 में निकला। इसकी उस समय बड़ी प्रशंसा हुई थी। आचार्य रामचंद्र शुक्ल उस पर मुग्ध थे और उसे हिंदू विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम में स्थान दिया था। 'विश्वास की वेदी पर', 'विनाश के बादल', 'विषमुखी' तथा 'बेकसी का मजार' इनके प्रसिद्ध उपन्यास हैं। इनके नौकरी में राजस्थान चले जाने के बाद हमारा संपर्क ही टूट गया। जब कभी कोई किताब निकलती तब मैं कहीं से प्राप्त कर

उसे पढ़ता और उन्हें मन ही मन बधाई भी देता और कभी-कभी आश्चर्य में डूब जाता कि क्या यह वही क्राइस्ट चर्च कालेज का भावुक, आकाश में सपनों के जाल बुनने वाला, प्रताप है जो ऐसा 'मैटर ग्राफ फैक्ट' गद्य लिखता है और जिसके उपन्यास हमारा मनोरंजन ही नहीं करते, हमें कुछ सोचने को बाध्य भी करते हैं।

मेरे साथ उनकी उन दिनों की स्मृति ही रह गई है। उत्तर जीवन मेरे लिए परदे में छिपा है।

13
महादेवी

छायावाद के मध्यकाल में महादेवी की कविताएं यत्र-तत्र ('मनोरमा', 'चांद', 'सुधा') छपने लगी थीं। छायावादी कवियों के संघटन के सिलसिले में ही, पहले 1927 ई० में, मेरा महादेवी से पत्र-व्यवहार शुरू हुआ था। तब वह क्रास्थवेट गर्ल्स कालेज, इलाहाबाद में रहतीं और बी० ए० प्रथम वर्ष में पढ़ती थीं। धीरे-धीरे हमारा पत्र-व्यवहार बढ़ता गया, यहां तक कि वह मेरी छोटी बहिन बन गईं। मुझे बराबर राखी भेजतीं और कविताएं तो भेजती ही रहती थीं। मैंने ज्यों का त्यों या किंचित् सुधार के साथ उनकी अनेक कविताएं 'त्यागभूमि' में प्रकाशित की हैं। उनकी उन रचनाओं में गहरी वेदना, निराशा, असंतोष, अतृप्ति और संसार एवं समाज के प्रति विरक्ति के भाव थे। उनमें एक प्रकार का आत्म विरोध भी था। वह लिखती थीं, उनकी कविताएं छपती भी थीं और उनके पाठक भी बनने लगे थे किंतु वह संसार के सामने आने से हिचकती थीं। अपना परिचय सार्वजनिक रूप से देना पसंद नहीं करती थीं; अपनी कविताओं को 'प्रलाप' कहती थीं और कवि के जीवन और काव्य में छिपे व्यक्तिगत स्रोतों के अध्ययन को निरुत्साहित करती थीं। मुझे लिखे कई पत्र, जिनमें उनके जीवन के कुछ तथ्य थे, उन्होंने बहिन के अधिकार और अनुरोध से वे पत्र मुझ से वापस मंगा लिए और मुझ से वचन ले लिया कि मैं उनके जीवन के विषय में कुछ नहीं लिखूंगा।

उस वचन से बंधा होने के कारण ही नवीन कवियों के जीवन और कृतित्व पर उन दिनों जो पुस्तक लिखने का विचार था, उसे त्याग देना पड़ा क्योंकि महादेवी को छोड़ देने से और गलतफहमियां पैदा होतीं और सबको इस विचित्र अनुरोध के विषय में बताना भी संभव न था। इन सैंतालीस वर्षों में मैंने उस वचन की रक्षा की है किंतु देखता हूं कि महादेवी अब 1927 की महादेवी नहीं रह गई हैं, उनका विकास हुआ है, पर्याप्त विकास और जो एक दिन सम्मान, पुरस्कार और परिचय से दूर एकांत जगत् में रहकर जीना चाहती थीं, उन्होंने यथेष्ट मात्रा में इनका अर्जन किया है। किसी समय वह

सभाओं और जनाकीर्णता से भागती थीं, अब बड़ी-बड़ी सभाओं का सभापतित्व करती हैं। उन पर कितने ही लेख और ग्रंथ भी लिखे गए हैं। पथ में भटकते हुए उनका न जाने कितने लोगों से परिचय हुआ है और अर्चना भी बहुदेववादिनी होकर आगे बढ़ी है। इसलिए मैं भी अपने वचन-बंधन शिथिल होने की विवशता अनुभव करता हूं। यों भी आज हम जीवन की ऐसी अवस्था में हैं, जब भावावेश की आंधियां थम गई हैं और मानस की लहरों में स्थिरता और शांति है।

इनका जन्म श्री गोविंदप्रसाद वर्मा एम० ए०, एल-एल० बी० के घर फरुखाबाद (उत्तर प्रदेश) में 24 मार्च, 1906 ई० को हुआ था। यह अपने पिता की ज्येष्ठा कन्या हैं। यद्यपि जाति-पांति में इनका विश्वास नहीं परंतु जन्म से यह सक्सेना कायस्थ हैं। बचपन फरुखाबाद और इंदौर में बीता। घर पर हिंदी और संस्कृत की मामूली शिक्षा पाने के बाद इंदौर के ओडायर गर्ल्स स्कूल में भरती हुईं, जहां अंग्रेजी की शिक्षा मिली। 1920 के लगभग इलाहाबाद के क्रास्थवेट में पढ़ने लगीं और वहीं से यथासमय मिडिल तथा इंट्रेंस की परीक्षाएं पास कीं और 1927 में इंटर कक्षा पास कर कालेज में चली गईं। बी० ए० में हिंदी, दर्शन और संस्कृत इनके विषय थे। एम० ए० इन्होंने संस्कृत में किया, शायद 1930 ई० में। दर्शन और संस्कृत यों भी इनके प्रिय विषय रहे हैं।

बहुत बचपन से यह पद्य रचना करती थीं। इन्हें चित्रकला का शौक भी छुटपन से रहा है। ये दोनों कलाएं समय और अभ्यास से इनमें निखरती और परिमार्जित होती गई हैं। न केवल कवि वरं चित्रकार के रूप में भी उनका स्तर काफी ऊंचा है। अपने काव्य ग्रंथों में उन्होंने जो चित्र दिए हैं, उनमें एक स्वप्निल कल्पना तो है ही, तूलिका में रंगों, रेखाओं और पार्श्वभूमि की अभिव्यक्ति का सामंजस्य भी खूब है। कभी-कभी तो लगता है कि कविताएं चित्रों में जितना बोलती हैं, उतना शब्दावलियों में नहीं। इनके भित्तिचित्र भी बहुत अच्छे हैं।

महादेवी से जब मेरा परिचय हुआ तब उनमें गहरी व्यथा थी, निराशा भी थी और जहां अभिव्यक्ति थी वहां आत्मगोपन और कुछ अंशों में आत्म-विरोध भी था। अंदर से सरल-सहज किंतु ऊपर से आवरणों और अवगुंठनों में लिपटी हुई, अंदर से विद्रोहिणी किंतु ऊपर से भयसंकुल, अंदर बनावट से दूर परंतु ऊपर कृत्रिमता का लबादा ओढ़े हुए वह हमारे सामने आई थीं। समाज और समाज की कुत्सा का भय भी था इस कृत्रिमता के पीछे। उन्होंने मुझे भी स्वाभाविक पत्र लेखन से विरत करते हुए कृत्रिम ढंग पर ही पत्राचार का अनुरोध किया था। उनके शब्द हैं : 'संसार में रहकर कृत्रिमता छोड़ी नहीं जा

सकती। कृत्रिमता ही संसार का प्राण है। जिस दिन यह न होगी, उस दिन धराधाम स्वर्ग को भी अपनी पवित्रता से लज्जित कर देगा। जिस पत्र में हृदय का वास्तविक रूप प्रतिबिंबित है, उसको संसार हृदय की कालिमा का ही चित्र समझेगा और इससे किसी ओर का सम्मान लांछनाहीन न रह सकेगा।' इस भय के साथ उन दिनों उनमें पलायन वृत्ति और विरक्ति भी थी। जुलाई, 1928 ई० में उन्होंने मुझे लिखा : कवियों में मुझे जबर्दस्ती सम्मिलित कर मेरा उपहास न कराइए। न मैं कवि हूं, न मेरा 'प्रलाप' कविता है। और यदि आपके विचार में मैं अपने साथ न्याय नहीं करती तो जब मेरा नाममात्र शेष रह जाए, तब आप जितना चाहें न्याय कर सकते हैं। जब मनुष्य नहीं रहता तभी उसके जीवन का मूल्य आंका जा सकता है।'

इस विरक्ति के मूल में एक प्रच्छन्न व्यथा है जो अपने को अस्वीकार नहीं करती किंतु जो दुनिया के सम्मुख आने को तैयार नहीं है। व्यथा तो है उनकी कविता में भी और उनके जीवन में भी परंतु वह अदृष्ट है और महादेवी उसे हमसे दूर ही रखना चाहती हैं। 31 जुलाई, 1928 के एक पत्र में उन्होंने स्पष्ट लिखा है : '······इसके अतिरिक्त और जो कुछ है वह एक नीरव व्यथा बन कर मेरे प्राणों में समा गया है; वह संसार के देखने की वस्तु नहीं है और यदि संसार उसको बलात् देखना चाहेगा तो मेरी आत्मा चूर-चूर हो जाएगी। किंतु उसे बिना दिखाए जीवनी लिखना एक विराट् असत्य होगा इसलिए मुझे आप अपरिचित ही रहने दें।'

अपरिचित रहने और अपनी नीरव व्यथा का मुंह बांधकर रखने के प्रयत्न के बावजूद वह अपरिचित रह नही सकीं, मैं समझता हूं कि मन से शायद वह ऐसा चाहती भी नहीं थीं; कविता लिखने की 'हाबी' बढ़ती गई और कविता लिखने जाकर कौन माई का लाल अपनी व्यथाओं को अबोला या अपने को सर्वथा छिपाकर रख सका है ? परिणाम यह हुआ कि एक ओर व्यथाओं का मुंह सी कर उन्हें अबोली और संसार से दूर रखने की कल्पना और दूसरी ओर अभिव्यक्ति और प्रशंसा के दिन-दिन बढ़ते जाने वाले दायरे का आमंत्रण। इससे एक ऐसे आत्म विरोध का, या परस्पर विरोधी तत्त्वों का प्रादुर्भाव हुआ, जो संपूर्ण जीवन एवं काव्य यात्रा में उनके साथ रहे हैं।

उस जमाने में कविता तो वह हिंदी में लिखती थीं किंतु अपने मन की डिबिया में बंद भावों को अंग्रेजी में व्यक्त करती थीं। अंग्रेजी में लिखी वह जीवन की सहज भाव राशि क्या हुई और कहां चली गई, अथवा कविता के क्षेत्र में प्रतिष्ठा पाने के बाद उन्होंने उन्हें स्वतः नष्ट कर दिया, इसे हम नहीं जानते और जब तक वह स्वयं इस रहस्य के मुंह पर से घूंघट न हटाएं, कोई जान न पाएगा। महादेवी की आज जो स्थिति है, जो प्रतिष्ठा है, उसमें कदा-

चित् वे रहस्य अपदस्थ हो चुके हैं और दुनिया को भी उन्हें जानने का कोई उत्साह नहीं। समाज और संसार उन कंकड़ियों को कभी देखना नहीं चाहता जिनके कुटने-पिसने एवं नींव में मिट जाने से महल खड़ा होता है। लोग तो महल ही देखते हैं, यहां तक कि महल का स्वामी भी महल देखकर ही मगन रहता है। इसलिए इन बातों की चर्चा आज बहुत कुछ निरर्थक है।

पर यह आत्म विरोध या परस्पर विरोध प्रत्येक स्थिति में उनके जीवन में रहा है; उनके काव्य और साहित्य में भी रहा है। और इसी कारण भावनाओं के ज्वार में आमूलचूल डूबी होने पर भी उनकी व्यथा में आह तो है परंतु करुणा की चरम परिणति नहीं है। उनका विरह जलजात सूर्य किरणों से अनुतप्त हो कर पूरी तरह कभी खिला नहीं। अक्सर लोगों ने, भ्रांतिवश, उन्हें आधुनिक हिंदी काव्य की 'मीरा' कह दिया है। इसमें मीरा का तो उपहास है ही—यद्यपि मीरा उस स्तर पर है जहां जग का उपहास उसे छूता ही नहीं—महादेवी के प्रति भी न्याय नहीं है। मीरा एक परिपूर्ण समर्पण का नाम है, जहां अपना कुछ भी नहीं रह गया है; मीरा के पास जो कुछ है सब प्रियतम के चरणों में निछावर है। 'कोई कहै कुलटा, कुलीन अकुलीन कोऊ, कोऊ कहै रंकिनी कलंकिनी कुनारी हौं'। और 'तन जाहु मन जाहु, देव गुरुजन जाहु, प्राण क्यों न जाहिं नेक टरति न टारी हौं।' यह है मीरा जिसका यश, नाम, कुल, सतीत्व, प्राण सब कुछ निछावर है प्रियतम के चरणों में। दु:ख सुख सब उनका है। यह घनीभूत आत्मनिवेदन ही मीरा की आत्मा है; उसमें झिझक नहीं है, द्वंद्व नहीं है।

महादेवी भी विरहातुरा हैं। उनमें भी चाह है, व्यथा है, समर्पण की भावना भी है परंतु समर्पण है नहीं। इसका कारण है। महादेवी में प्रेम है किंतु उस प्रेम की व्यथा के पीछे एक खीझ है, और प्रेम की सहज परिणति के अभाव में समाज के प्रति विद्रोह की ज्वाला भी है। विद्रोहिणी और उपासिका की परिणति एक साथ हो नहीं सकती। विद्रोह अहम् की संतति है; उसमें अपने, अपनी जाति के अस्तित्व रक्षण की भावना है। बलिदान, प्राणोत्सर्ग और पीड़ा उसमें भी है परंतु वह एक निश्चित सामाजिक लक्ष्य की सिद्धि के लिए है। जहां सूक्ष्म अंश में भी अहम् है वहां समर्पण की पूर्णता नहीं है। समर्पण शर्तें नहीं लगाता; केवल अपने को देना और देना, लुटाना और लुटाना उसका स्वभाव है। इसी में है उसकी चिरानंदानुभूति। विद्रोही वर्तमान स्थिति को बदलने की प्रेरणा से बेचैन है। महादेवी ने शुरू से ही निराशा और पीड़ा झेली है, सपने देखे हैं, सपने जो खो-खोकर भी खो नहीं पाते हैं किंतु उनमें आरंभ से ही असंतोष और विद्रोह की भावना रही है और वह भावना विचार सूत्र में बंधने के बाद, युगों की लंबी यात्रा में बढ़ती ही गई है। उनके गद्य में तो वह बहुत स्पष्ट हो गई

है। उनमें विद्रोह परिस्थिति के प्रति ही नहीं है, समग्र पुरुष और उसके आक्रामक रूप के प्रति है। स्वभावत: उनका मृदुल नारीत्व उपासना और समर्पण में धन्यता की अनुभूति प्राप्त करने में असमर्थ है। जहां समर्पण का अंश है वहां वह विवशता का समर्पण है, प्राणों का समर्पण नहीं। वह इसलिए है कि कहीं न कहीं और किसी न किसी अंश में नारी पुरुष के प्रति समर्पण को विवश है। इसीलिए उनमें विवशा नारी की पीड़ा है परंतु नारी के मार्दव और निवेदन की चरम सार्थकता नहीं है बल्कि अपने आंशिक समर्पण और उसकी वेदना के प्रति एक खीझ है। नारी होकर भी कहीं उनके जीवन में उस धरातल पर परम परिणति का चरम आनंद नहीं है जहां परम रिक्ता होकर भी नारी परिपूर्णा और अन्नपूर्णा है, सब त्याग कर भी जहां सर्वस्व पाने का सुख है। कभी किसी क्षण में समर्पण और अपने चिर सुहागिनी होने की कल्पना भी हुई है परंतु एक झिझक ने उसे अधूरा ही छोड़ दिया है।

उनके जीवन और काव्य में चरम परिणति के तत्त्व तो हैं : सहज मृदुलता, स्वप्न देखने और पालने की क्षमता, संवेदन, आकुलता, पीड़ा, विरहातुरता, शब्द-सौष्ठव, अभिव्यक्ति की तरलता परंतु चरम परिणति हो नहीं पाती। देवता के मंदिर में जाती हुई वह देहरी पर ठिठक कर खड़ी हैं; होठों पर देवता की स्तुति है किंतु आंखें हाथ के थाल की पूजा सामग्री में अटक कर रह गई हैं। देवता के लिए लाए गए फूल ड्योढ़ी पर रख दिए गए हैं। कभी-कभी उनसे नेत्र भी मिले हैं किंतु वेदिका पर प्राणों का अर्पण नहीं हुआ, सर्वस्व कभी नैवेद्य नहीं बना और देवता में समाकर उपासिका कृतार्थ नहीं हुई।

'नीहार', 'रश्मि', 'नीरजा' और 'सांध्यगीत' महादेवी की काव्ययात्रा के कई पड़ाव हैं। 'नीहार' में काव्य कला की परिपुष्टि नहीं किंतु उसमें बनावट सबसे कम है। उसमें मन की सहज-सरल भावनाएं हैं; एक किशोरिका की उत्सुकता और किसी की खोज तथा अभाव की अनुभूति है; इसमें व्यथा है परंतु उस व्यथा पर मौन का झीना परदा है; वह व्यथा तो ठीक-ठीक समझ में नहीं आती परंतु चुपचाप प्राणों को जलाती है। मन किसी की खोज में विकल है, प्राण किसी को चाहते हैं किंतु खुलकर कह नहीं सकते। शिशुता पूरी तरह गई नहीं है और यौवन पूरी तरह आया नहीं है; दोनों की आंख मिचौनी है। 'रश्मि' 'नीहार' की व्याख्या है; इसमें व्यथा के लिपटे प्राणों का कंपन और आलोड़न है। 'नीरजा' में किसी आगंतुक, किसी पाहुन की प्रतीक्षा का स्वर है, एक प्रश्न और जिज्ञासा से मिला हुआ :

पुलक पुलक उर, सिहर सिहर तन,
आज नयन आते क्यों भर भर ?

फिर मुग्धा का प्रश्न :

कौन तुम मेरे हृदय में ?

'नीरजा' में इनके काव्य विकास को गति प्राप्त हुई है। विरह का जलजात, जो अभी तक मुकुलित था, कुछ-कुछ खिलने लगा है। उपास्य के प्रति निकटता की कल्पना सघन होती गई है और उनकी :

बीन भी हूं मैं तुम्हारी रागिनी भी हूं,
कूल भी हूं, कूलहीन प्रवाहिनी भी हूं,
दूर तुम से हूं, अखंड सुहागिनी भी हूं,
अधर भी हूं और स्मित की चांदनी भी हूं।

कविता में वह अभिन्नता, भिन्नता के साथ, प्रकट हुई है। मेरी समझ से 'नीरजा' में 'महादेवीत्व' इनके पिछले काव्यों से अधिक है और व्यक्तिगत रूप से वह मुझे बहुत पसंद है। उसमें निराशा और वेदना है परंतु आशा और आश्वासन के अंक में लिपटी हुई। शब्द योजना, गीतात्मकता और गूढ़ किंतु 'सजेस्टिव' व्यंजना के सुंदर-सुंदर गीतों से पूर्ण। कवयित्री का इसमें अपने ही जीवन दीप के प्रति कैसा मार्मिक संबोधन है :

मधुर मधुर मेरे दीपक जल,
युग युग, प्रति दिन, प्रति क्षण, प्रति पल,
प्रियतम का पथ आलोकित कर।
सौरभ फैला विपुल धूप बन
मृदुल मोम सा घुल रे मृदुतन,
दे प्रकाश का सिंधु अपरिमित
मेरे जीवन का अणु गल गल।

वह इसमें प्रिय के सांनिद्धय की कल्पना में मगन हैं और कहती हैं कि आज मुझ में तुम्हीं हो। कहीं वह मधुमास बनकर प्रिय की मुरलिका बजने की प्रतीक्षा में खो जाती हैं, आकांक्षा से उमगी-उमगी :

तुम हो, तुम हो और विश्व में
मेरा चिरपरिचित सूनापन।
मेरी छाया हो मुझ में लय,
छाया में संसृति का स्पन्दन।
मैं पाऊं सौरभ-सा जीवन,
तेरी निश्वासों में घुल मिल।

इन कविताओं में भावना के पीछे उनके बौद्ध दुःखवादी चिंतन की भी छाया है, यद्यपि वह कल्पना और संवेदना, रसार्द्रता और व्रीडा के घूंघट एवं माधुर्य में दबा हुआ है। यहां उपासिका अपने लघुतम जीवन की ही मंदिर के रूप में

कल्पना करती और मगन होती है । परंतु जैसा कि मैं पहले कह चुका हूं, परिणति के क्षण आते-आते, बल्कि आ-आ कर भी, रह जाते हैं, ठहरते नहीं । जब मिलन के क्षण आते हैं, तब वह अलस होकर सो जाती हैं और वह निकल जाते हैं ।

'सांध्यगीत' में 'नीरजा' ही अभिव्यक्त और विकसित है । जीवन सांध्य गगन-सा बन गया है । गगन के अपार विस्तार को अपने अंक में लपेटती हुई संध्या को देख पाखी को नीड़ की याद आती है और वह इस विस्तृति को अपने डैनों से नापता उड़ भी चला है परंतु इस उड़ान के बाद भी मंजिल दूर रह गई है या फिर वही मंजिल बन गई है । आकांक्षा और लम्बी तथा घनीभूत हो गई है : 'शून्य मंदिर में बनूंगी आज मैं प्रतिमा तुम्हारी ।' विरह की संध्या में लिखे गए इन गीतों में बड़ी स्मृतिमयता है, बड़ी व्याकुलता है, यहां तक कि उसी आवेग में विरह की घड़ियां 'मधुर मधु-यामिनी-सी' बन गई हैं । विरहातुरा बंदिनी होकर भी बंधनों की स्वामिनी हो चली है । कैसी वेदना है इन कविताओं में, जब कवियित्री कहती है :

मैं नीर-भरी दुख की बदली ।

परंतु इससे भी बड़ी बात है विरह में मिलन की अनुभूति :

प्रिय चिरंतन हैं सजनि,
क्षण क्षण नवीन सुहागिनी मैं ।

और शायद इसीलिए वह आत्मबोध के स्वर में कहती हैं :

क्यों मुझे प्रिय हों न बंधन ?
हो गया अब दूत प्रिय का,
प्राण का संदेश स्पंदन ।

काव्य का प्राण है भावना का मृदुल स्पंदन, रसार्द्रता, एक पकड़ में न आ सकने वाली दूरागत ध्वनि । महादेवी को इन सब के कारण बड़ी सफलता मिली है और उनका काव्य, समय के साथ, विविध अलंकरणों से पूर्ण होता गया है परंतु काव्य तो महादेवी की एक विधा है । वह अध्यापिका, गद्यकार और कुछ समय तक पत्रकार भी रही हैं । उनमें आरंभ से ही विद्रोह का स्वर रहा है जिसके कारण उनका प्रणय काव्य पूर्णार्पित होने से रह गया है । यह विद्रोह उम्र और चिंतन के साथ शक्तिमान होता गया है और ज्यों-ज्यों यौवन की स्वप्निल हरीतिमा प्रौढ़ता की प्रखर दोपहरी में शिथिल होती गई है और जीवन में भावना की छाया तले चिंतना अगड़ाइयां लेने लगी है त्यों-त्यों गद्य की विधा पुष्टि प्राप्त करती गई है । गद्य में चिंतन की प्रधानता है, काव्य की संश्लेषण नहीं, विश्लेषक वृत्ति है । उसमें तर्क की काट है । 'शृंखला की कड़ियां' में विद्रोह का स्वर सबसे सशक्त है । उन्होंने 'स्केच' भी बढ़िया लिखे हैं । 'अतीत के चलचित्र' इसका एक नमूना है । इसमें उनका चित्रकार ही शब्दकार बन गया है और यह चित्रात्मकता

उनके चित्रकार रूप को रेखाओं की जगह शब्दों में उजागर करती है। कुछ दिनों तक वह 'चांद' की सफल संपादिका रह चुकी हैं और महिला विद्यापीठ के प्रिंसिपल के रूप में शिक्षा क्षेत्र में भी कुछ कम ख्याति नहीं प्राप्त की है।

जहां तक जीवन के 'फर्नीचर' का प्रश्न है, वह समृद्धिमती हैं। पैसा और ख्याति की उन्हें कमी नहीं। जिस साहित्यकार संसद की स्थापना में वह एक दिन आगे बढ़ी थीं, उसके भवन अब प्रायः उन्हीं के होकर रह गए हैं। इसलिए जायदाद प्रयाग और उत्तराखंड में भी है। उन्हें उपाधि, पुरस्कार तथा अन्य प्रकार के सम्मान से सम्मानित भी किया गया है। एक दिन वह इन सब के प्रति उपेक्षा तथा तिरस्कार का भाव लेकर चली थीं। उस समय उनमें एकांत वेदना, विरहातुरता, एक प्रकार की विरक्ति और सब कुछ होकर भी कुछ न होने के कारण तुच्छ है, कुछ ऐसा भाव था। वह एकांत और सूनेपन में लिपटी, जग के प्रति उपहास के भावों से भरी और अपने तथा अपनी पीड़ा में तन्मय थीं। इस बीच उन्होंने लंबा रास्ता तय किया है। दुनिया देखी है और उस दुनिया की जयध्वनि और तालियों ने उन्हें अभिभूत भी किया है। उन्होंने बहुत कुछ पाया है और बहुत कुछ खोया भी है परंतु जो वेदना वह यात्रा के आरंभ में, अपने कलेजे में दबाए चल पड़ी थीं, वह किसी न किसी रूप में आज भी उनके प्राणांचल से लिपटी है। वह शिथिल पड़ गई है, फिर भी जीवित है। उनकी लंबी 'हिस्टीरिकल' खिलखिलाहटों और हंसी के परदे के पीछे से झांकती है और नेपथ्य में ही सही उसके नूपुर कभी न कभी बज ही उठते हैं। प्रणयिनी के रूप में कल्पनाजीवी, विवाहिता होकर भी मानो अविवाहिता, जिसका क्रोड़ मातृत्व की किलकारियों से सदा शून्य ही रहा, महादेवी जनसंकुलताओं के बीच भी अकेली और सब कुछ पाकर भी रिक्ता हैं। उनके चर्तुदिक् के वैभव में चिरंतन पीड़ा के पगों की थाप है और उनकी हंसी के पीछे करुणा का अदृश्य लोक है। किंतु अपनी व्यथाओं पर हंसी का आवरण डाले वह जीवन के डगर में चलती जा रही हैं, किसी की स्मृतियों में डूबी और खोई। यह एक महती साधना है, जहां समग्र जीवन ही एक प्रकार की तपस्या बन गया है।

14

संस्कृत मनीषियों के लोक में

काशी (वाराणसी) सदैव ही भारतीय संस्कृति का जीवनमय केन्द्र रही है। वह संस्कृत विद्या का सर्वप्रमुख केंद्र रही है और आज भी है। एक से एक त्यागी, तपस्वी, साधक, योगी, यती, महात्मा, विश्वनाथ की इस नगरी में आकर स्वयं धन्य होते रहे और लोगों को धन्य करते रहे। यद्यपि मेरे समय में प्रातः स्मरणीय, साक्षात् शिव स्वरूप शिवकुमार जी, सौर गणित के प्रकांड विद्वान् सुधाकर द्विवेदी तथा शास्त्रमर्मज्ञ पं० सीताराम शास्त्री, पं० गंगाधर शास्त्री, स्वामी दर्शनानन्द इत्यादि न रह गए थे, फिर भी स्वामी ज्ञानानन्द, स्वामी दयानन्द, योगी विशुद्धानन्द जी, काशीनाथ जी, रामावतार जी, दामोदरदास जी, भगवानदास जी, गोपीनाथ जी, अयोध्यानाथ जी ज्योतिषी, बालकृष्ण जी, यादवेश्वर तर्करत्न जी, प्रमथनाथ तर्कभूषण जी, सर्वश्री लक्ष्मण शास्त्री द्रविड़, चिन्नस्वामी, नारायण शास्त्री खिस्ते, देवनारायण जी, रामयश जी, हारायचंद्र जी, स्वामी विद्यानन्द जी, कविचक्रवर्ती देवीप्रसाद जी, पं० सत्यनारायण शास्त्री इत्यादि अनेकानेक विद्वज्जन उस समय भी काशी में थे। प्रभुदत्त जी ब्रह्मचारी और करपात्री जी भी धीरे-धीरे विकसित हो रहे थे।

स्वामी ज्ञानानन्द एवं स्वामी दयानन्द

स्वामी ज्ञानानन्द ने सनातन हिंदू शास्त्र परंपरा की रक्षा के लिए भारत धर्म महामंडल नामक संस्था का निर्माण किया था। कहते हैं, महामना मालवीय जी की अनिश्चित नीति के कारण ही उन्हें यह संस्था खोलने की आवश्यकता पड़ी थी क्योंकि हिंदू विश्वविद्यालय की स्थापना में जो प्रयोजन था, वह सिद्ध नहीं हो रहा था और अन्य विश्वविद्यालयों की भांति ही प्राच्य विद्या और शोध एवं भारतीय संस्कृति का केंद्र न बनकर वह भी तेजी से पाश्चात्य शिक्षण विधि की ओर अग्रसर हो रहा था। भारत धर्म महामंडल के अंतर्गत, शास्त्रशोध संस्थान, प्रकाशन, प्रेस, प्राच्य महिला परिषद् इत्यादि कई विभाग थे। उसमें स्वामी ज्ञानानन्द जी के पंडितों, विशेषतः बंगाली पंडितों के एक वर्ग ने पर्याप्त सहायता की थी।

सबसे पहिले मैंने प्रसाद जी के साथ ही स्वामी ज्ञानानन्द जी के स्थान पर जाकर उनके दर्शन किए थे। उपासना संप्रदाय की दृष्टि से वह शाक्त एवं तांत्रिक थे ; आश्रम की दृष्टि से संन्यासी थे। उनका दिव्य दर्शन करके मैंने अपने को धन्य अनुभव किया। उस समय भी उनकी अवस्था 70 से कम न रही होगी परंतु उनके मुख पर जो तेज था वह मैंने कम ही साधकों के मुख पर देखा है। भव्य ललाट, सोने-सा दमकता मुख-मंडल और तीव्र प्रकाश से पूर्ण नयन ! उन्हें देखते ही श्रद्धा से मन भर गया और जब पाश्चात्य तत्त्वज्ञान पर विवेचन एवं प्राच्य अनुभूत ज्ञान के साथ उसकी तुलना उन्होंने प्रारंभ की तो मैं अवाक् होकर उस गूढ़ प्रज्ञा स्रोत से निकले अमृत का पान करने लगा। मुझे नहीं ज्ञात था कि उनका ज्ञान इतना गहरा है।

उस समय यद्यपि समाचारपत्रों एवं व्यक्तिगत आलोचनाओं में कुछ छिद्रान्वेषी लोग उनकी दो शिष्याओं ऊषा-विद्या को लेकर कीचड़ उछालने से बाज नहीं आते थे किंतु इन सब बातों के जानते-सुनते हुए भी उन्हें देखते ही श्रद्धा होती थी।

दो-तीन बार ही उनसे मिलना हुआ, फिर मैं बंबई चला गया और उनके संपर्क में आने का अधिक अवसर नहीं मिला। परंतु इस अल्पकालिक संपर्क का भी मेरे मन पर वैसा ही प्रभाव पड़ा जैसा किसी योगी एवं सिद्ध पुरुष का पड़ता है। जब-जब देखा, उनके नयनों से एक अभिभूत कर लेने वाली शक्ति की धारा निकलती पाई।

उनके प्रधान सहकारी स्वामी दयानन्द श्रेष्ठ वक्ता एवं लेखक थे। उन्होंने भी पाश्चात्य एवं प्राच्य ज्ञान-विज्ञान का अच्छा अध्ययन किया था। विमुग्ध होकर लोग उनका भाषण सुनते थे; जटाजूटधारी और गौर वर्ण दयानन्द जी के मुख पर यद्यपि वह तप्त कांचन नहीं था जो ज्ञानानन्द जी में था, फिर भी तेजस्विता एवं गरिमा की रेखाएं उस पर थीं। उन्होंने हमें अनेक ग्रंथ-रत्न भी दिए हैं जिनमें 'नवीन दृष्टि में प्रवीण भारत' उल्लेखनीय है।

इन दोनों के उद्योग से कई पत्रिकाएं भी निकलीं जिनमें 'निगमागम चन्द्रिका' और 'आर्य महिला' प्रधान थीं और किसी समय बड़े ढंग से निकलती थीं। 'आर्य महिला' के संपादन कार्य में पं० गोविन्द शास्त्री दुगवेकर जी का उन दिनों प्रधान सहयोग था। श्री प्रभुदत्त जी ब्रह्मचारी भी कुछ समय तक उसके संपादक रहे। दुबले-पतले, सरलतम वेशभूषा, एक ग्रामीण से लगने वाले उस समय के प्रभुदत्त जी और आज के प्रभुदत्त जी को देखकर बड़ा अंतर लगता है। मैं केवल रूपाकृति अथवा शरीर की बात कह रहा हूं। उन दिनों ब्रह्मचारी जी प्रायः सम्पूर्णानन्द जी के पास आते-जाते थे। मैं भी 'आर्य महिला' में कभी-कभी लिखा करता था।

योगी विशुद्धानन्द जी

मेरे यौवन काल में योगी विशुद्धानन्द जी ने अपनी शक्ति साधना से सब को चमत्कृत कर रखा था। पं० गोपीनाथ जी तो उहें गुरु ही मानते थे। विशुद्धानन्द जी, जो लोगों में प्रायः 'गंध बाबा' के नाम से विख्यात थे, एक बात में योगियों से भिन्न थे। यह वैज्ञानिक योगी थे और इन्होंने तिब्बत-प्रवासी भारतीय योगियों से अनेक प्राचीन भारतीय विद्याएं, जिनका यहां सर्वथा लोप हो गया है, सीखी थीं और उनका पुनरुद्धार करने को सचेष्ट थे। इनमें सूर्य विज्ञान और वायु विज्ञान प्रमुख हैं। सूर्य विज्ञान की सहायता से विशिष्ट सूर्य-किरणों को केंद्रित कर मृत पक्षियों को जीवित करने में समर्थ थे। मैंने जीवन में वैसा सिद्धयोगी दूसरा नहीं देखा। योगविद्या और आर्षविज्ञान के गूढ़तम रहस्यों में उनकी अद्भुत गति थी। वह काशी में इन विद्याओं के प्रशिक्षण और शोध के लिए एक पीठ स्थापित करना चाहते थे किंतु 1937 में, जब मैं दिल्ली में था, उन्होंने देह छोड़ दी।

काशीनाथ जी

काशीनाथ जी मेरे पहिले ही काशी से चले गए थे परंतु अपनी बाल्यावस्था में मैंने उनके गंभीर शास्त्रज्ञान की चर्चा खूब सुनी। वह लोगों के मानस पर छा गए थे। वह षड्दर्शन के अपूर्व पंडित थे। छाता (जिला बलिया, उत्तर प्रदेश) के निवासी थे। वहां से काशी आए और काशी में ही रम गए। श्री मैथिल स्वामी पाठशाला तथा कालिका गली का ब्रह्म विद्यालय उनके प्रवचन एवं अध्यापन से दूर-दूर तक विख्यात हो गए थे। बाद में स्वामी शुद्धबोध तीर्थ एवं स्वामी श्रद्धानन्द इत्यादि के आग्रह से 15 वर्ष गुरुकुल कांगड़ी तथा 6 वर्ष महाविद्यालय ज्वालापुर में रहे। वह कहीं भी रहते, उनका मन काशी में ही लगा रहता था। काशीनाथ काशीनाथ जी को सदा ही खींचते रहे। उनके दो विद्वान् पुत्र हरिनाथ जी एवं रघुनाथ जी बाद में अच्छे अध्यापक निकले और काशी में ही रहे। काशीनाथ जी छायावाद युग के मध्याह्न में काशी लौट आए थे।

भगवानदास जी

हिंदी भाषियों में बा० भगवानदास जी अंतर्राष्ट्रीय ख्याति के विद्वान् थे। उनका प्रगाढ़ अध्ययन तो था ही, उन्होंने सूक्ष्म चिंतन भी खूब किया था। काशी के प्रगतिशील सामाजिक एवं सार्वजनिक जीवन पर उनकी, उन दिनों, एक छाप थी। उनके 'साइंस आफ इमोशंस' ग्रंथ का मुझ पर बड़ा प्रभाव पड़ा था। प्रशस्त ललाट, गौर वर्ण, भरा शरीर, फ्रेंचकट दाढ़ी—उनको देखते ही श्रद्धा होती थी। उनकी सांस्कृतिक छाप मुझ पर गहरी पड़ी।

असहयोग के जमाने में काशी के सार्वजनिक जीवन में उनका जो स्थान था, उसके अनुरूप शक्ति का उन्मेष उनमें न देखकर हमारे जैसे गर्ममिजाज युवकों की श्रद्धाभावना को बड़ी ठेस लगी थी। जब कानून तोड़ने और दंड भोगने का आंदोलन चला तो जेल जीवन के कष्टों से उनको बचाने के प्रयत्न किए गए। वे प्रयत्न कुछ गौरवपूर्ण नहीं लगे। एक पर्चा भी इस आशय का निकाला गया कि उनका स्वास्थ्य गिर गया है और किसी ज्योतिषी ने यह वर्ष उनके लिए बड़ा संशय कारक बताया है। कहते हैं जिला मजिस्ट्रेट से मिलकर उनके साथ सद्व्यवहार किए जाने का आश्वासन भी ले लिया गया। उग्र युवकों का नेतृत्व इसीलिए इन लोगों के हाथ से निकलकर गांधी आश्रम के आचार्य कृपलानी के हाथ में चला गया।

बा० भगवानदास जी मानसिक दृष्टि से श्रीमती डा० बेसेंट की संतति थे; उनकी राजनीतिक विचारधारा ने ऊपर से जो भी पलटे खाए हों परंतु अंदर से वह सदा होम रूल लीग और थियोसफी के अनुयायी बने रहे। उन दिनों इन बातों को लेकर उनकी बड़ी आलोचना होती थी।

किंतु इन दुर्बलताओं के साथ भी वह महान् पुरुष थे। वह हिंदी के प्रेमी ही नहीं, लेखक भी थे। यद्यपि उन्होंने अधिकांश ग्रंथ अंग्रेजी में लिखे, फिर भी हिंदी को कभी न भूले। 'पुरुषार्थ', 'शास्त्रवाद बनाम बुद्धिवाद', 'दर्शन का प्रयोजन' इत्यादि गौरवपूर्ण रचनाएं उन्होंने हिंदी को दी हैं। उनका जीवन सदैव अध्ययन, मनन और चिंतन में ही बीता और उनके कारण हिंदी को अन्य भाषा के विद्वानों के बीच प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। स्व० रामानन्द चट्टोपाध्याय ('माडर्न रिव्यू' एवं 'प्रवासी' के सम्पादक) हिंदी को हीनता की दृष्टि से देखते थे परंतु वह भी कहते थे कि हिंदी में यदि कोई मौलिक विचारक और विद्वान् है तो वह भगवानदास जी हैं। वह हिंदी साहित्य सम्मेलन के सभापति भी थे। ज्ञान की सच्ची साधना का दीपक हम उनके जीवन में प्रज्वलित देखते हैं। 77 वर्ष की अवस्था में, घोर गर्मी के दिनों में भी, उनकी दिनचर्या का कुछ ज्ञान उनके निम्नलिखित पत्र से हो सकता है, जो जून, 1945 ई० में उन्होंने मेरे एक पत्र का उत्तर देते हुए मुझे लिखा था :

'आपका पत्र, 25 मई का, समय से मिला—उत्तर में विलम्ब हुआ[1]—क्षमा कीजिएगा···आपका पत्र पढ़कर बहुत प्रसन्न हुआ—पर मैंने तो हिंदी साहित्य की सेवा बहुत थोड़ी की—अंग्रेजी पोथियां लिखने में ही अधिक समय गंवाया। 77 वां वर्ष चल रहा है—आजकल कोई विशेष क्लेश शरीर में नहीं है—दुर्बलता ही बढ़ती जाती है—जाड़ों में तीन-चार घंटे सवेरे (अर्थात्

1. मूल पत्र में इसी प्रकार खड़ी पाई की जगह डैश का प्रयोग है।

दोपहर से पहिले) लिखने का काम कर लेता था; अब जब से गर्मी अधिक हुई है, दो-तीन घंटे ही—बाकी समय कुछ शारीरिक कृत्य में ('शारीरं केवलं कर्म कुर्वन् आप्नोति किल्विषम् !') कुछ पढ़ने में; सवेरे-शाम प्रायः उद्यान के भीतर ही थोड़ा टहलने में; और जो अभ्यागत आ गए उनसे वार्तालाप करने में; बिताता हूं—एक हिंदी पुस्तक, 'पुरुषार्थ' का नया संस्करण, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली के व्यवस्थापक वहीं छपवा रहे हैं; उसके प्रूफ जब आते हैं तब शोध कर वापस करता हूं—तथा 'शास्त्रवाद बनाम बुद्धिवाद' पुस्तिका के दूसरे संस्करण के प्रूफ भी, जो भी स० सा० मं० से आते हैं—एवं एक अंग्रेजी पुस्तक, 'दि साइंस आफ पीस,' का नया संस्करण मद्रास में छप रहा है, उसके भी प्रूफ बीच-बीच में शोध रहा हूं···एक और अंग्रेजी पुस्तक 'दि सायंस आफ सोशल आर्गेनिजेशन' की दो जिल्दें पहिले (कई वर्ष हुए) मद्रास से छप चुकी हैं—तीसरी जिल्द छप जाए तो ग्रंथ पूर्ण हो—सामग्री एकत्र हो चुकी है—प्रेस कापी स्वच्छ बना देना बाकी है·········शरीर की दशा और काल यापन के प्रकार के बारे में जो आपने प्रीति से पूछा उसका यह उत्तर हुआ···।'

मनुस्मृति एवं भागवत उनके प्रिय ग्रंथ थे। मनुस्मृति की विषयानुक्रमणिका भी उन्होंने बनाई थी।

इसके बाद भी बहुत-बहुत वर्षों तक वह हमारे मार्ग दर्शन के लिए जीवित रहे। उन्हें दीर्घायु प्राप्त हुई। लोकगीतों की रसार्द्रता की प्रशंसा करते हुए वह नहीं थकते थे। उन्होंने ग्रामगीतों में सञ्चित काव्यमाधुरी एवं रस को व्यास, वाल्मीकि, कालिदास और भवभूति से भी अधिक बताया है।

स्वामी विद्यानन्द

स्वामी विद्यानन्द जी, छायावाद युग के उत्तरार्द्ध में काशी के जीवन में जोरों से उठे। उनके प्रवचन की शैली ऐसी मनोमुग्धकारिणी थी कि बहुत जल्द वह दूर-दूर तक प्रसिद्ध हो गए। गीता के प्रचार के लिए समस्त भारत में उन्होंने जो कार्य किया उसकी तुलना, इस विषय में, दूसरे किसी व्यक्ति से नहीं की जा सकती।

स्वामी विद्यानन्द जी काशी के ही निवासी थे। उनका जन्म काशी अंचल के ही महादेवपुरा ग्राम में संवत् 1950 में हुआ था। कथा वाचन इनका पैतृक कार्य था। इसलिए बाद में इस क्षेत्र में इन्होंने इतनी सफलता प्राप्त की, इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं।

इनको बचपन में कोई विशेष शिक्षा नहीं मिली थी और न नियमित अध्ययन ही हो पाया था। केवल थोड़ी हिंदी और संस्कृत इन्होंने सीखी थी

परंतु संस्कार उत्तम और प्रबल थे। बचपन में ही तीर्थाटन का अवसर मिल गया और यह मथुरा, वृन्दावन, प्रयाग, काशी, गया, जगन्नाथपुरी हो आए। इससे इनकी वैष्णव भावना सजग हो गई और यह त्याग, तप एवं स्वाध्याय की ओर अग्रसर हो गए। कठोर ब्रह्मचर्यव्रत का पालन इनकी विशेषता थी। 16 वर्ष की अवस्था में तो इनका अधिक समय दीन-दुखियों की सेवा एवं ईश्वर-प्रणिधान में ही जाने लगा। धीरे-धीरे त्याग एवं तप की भावना ऐसी बढ़ी कि गृहत्यागी होकर निर्जन स्थानों में घूमने लगे। बक्सर में इनकी भेंट कुछ साधु-महात्माओं से हुई। वहां से अयोध्या और काशी होते प्रयाग गए। प्रयाग में उन दिनों निर्वाणी अखाड़े के आचार्य और मंडलेश्वर कैलासवासी गोविन्दानन्द जी धर्मोपदेश कर रहे थे। विद्यानन्द भी चुपचाप एक कोने में बैठ उनका उपदेश सुना करते। जब गोविन्दानन्द जी प्रयाग से हरद्वार जाने लगे तब इन्होंने साष्टांग प्रणाम कर प्रार्थना की कि वह उन्हें दीक्षा देकर शिष्य बना लें। प्रार्थना स्वीकार हुई और इसके बाद इन्होंने विधिवत् संन्यास ग्रहण किया।

तभी से समय-समय पर हिमालय, उत्तराखंड, कश्मीर आदि में पवित्र एवं दुर्गम स्थानों पर जाकर योग-साधन भी किया और लोक संग्रह द्वारा संसार की सेवा करने का महान् व्रत धारण किया। गीता, भागवत और रामायण का स्वाध्याय एवं प्रवचन करते हुए समस्त भारत में घूमे। इनका नाम ही गीता-व्यास पड़ गया था। गुजरात एवं काठियावाड़ में तो इनका बहुत अधिक प्रभाव था और वहां अनेक आश्रम, सत्संग मंडल तथा मंदिर स्थापित हुए। हिंदी और गुजराती में इन्होंने एक मासिक पत्र भी निकालना प्रारंभ किया था; वह कई वर्ष तक चला किंतु बाद में बंद हो गया।

रामावतार जी

छायावाद युग के पूर्वार्द्ध के कुछ समय तक छपरा (बिहार) के प्रकांड विद्वान् पं० रामावतार शर्मा, मालवीय जी महाराज के निमंत्रण पर, हिंदू विश्वविद्यालय के प्राच्य विभाग के अध्यक्ष पद को सुशोभित करने के लिए, काशी आकर रहे थे। रामावतार जी की प्रतिभा का क्या कहना? कहते हैं, दस वर्ष की अवस्था में ही उन्होंने समग्र 'सिद्धांतकौमुदी' का मनन कर अपने शिक्षक को चकित कर दिया था। पाश्चात्य एवं प्राच्य दर्शनों का गहरा अध्ययन तो उनका था ही, उनकी सबसे बड़ी विशेषता स्वतंत्र चिंतन की उनकी क्षमता थी। धोती और भारतीय वेशभूषा में भी, अवसर पड़ने पर, वह हैट का प्रयोग करते थे। उनके संबंध में तरह-तरह की बातें प्रचलित हो गई थीं। कहते हैं, उनको चश्मे के बिना दिखाई न देता था। एक बार की

बात है कि वह विचार-मग्न चले जा रहे थे कि उन्हें याद पड़ा कि जेब में पड़ी चिट्ठी डाक के बंबे में छोड़नी है। संयोग से डाक के बंबे से सटी एक घूंघट वाली महिला खड़ी थी। अब आप चिंतन में मग्न हैं और चिट्ठी डाक बंबे के मुख में डालने की जगह उस महिला के घूंघट में चली जा रही है। मतलब, इस तरह की अनेक घटनाएं लोगों ने उनके विषय में प्रचारित कर रखी थीं।

श्रद्धा और निष्ठा की जगह रामावतार जी प्रज्ञा को अधिक महत्त्व देते थे, इसलिए विचार स्वातंत्र्य उनकी विशेषता थी। बिना परीक्षा या विवेचन के वह किसी भी सिद्धात को स्वीकार न करते थे। उनकी प्रखर प्रज्ञा का साकार रूप है उनका ग्रंथ—'परमार्थ दर्शन।' षड्दर्शन की भांति यह ग्रंथ सूत्रों में लिखा गया है। फिर उन सूत्रों के विशद अर्थ को स्पष्ट करने के लिए श्लोकबद्ध वार्तिक की रचना की गई है। इस वार्तिक की शैली वही है जो कुमारिल भट्ट के श्लोक वार्तिक की है। वह इस पर भाष्य भी लिखना चाहते थे परंतु इसके लिए अवसर नहीं मिला। अपनी मौलिक स्थापनाओं एवं गूढ़ निष्कर्षों के कारण यह ग्रंथ दर्शनों की कोटि का ही बन गया है और उसे सप्तम दर्शन का स्थान दिया जा सकता है। यह ग्रंथ उनकी विलक्षण प्रतिभा तथा अद्भुत कल्पना का प्रतीक-सा बन गया है।

संस्कृत भाषा एवं साहित्य पर उनका असाधारण अधिकार था। संस्कृत भाषा दासी की तरह उनका अनुसरण करती थी। पद्यबद्ध रचना की भी उनमें अच्छी शक्ति थी। खंडन-मंडन में उन्हें मजा आता था और शास्त्रार्थ करने की उत्कंठा सदा बनी रहती थी। उन दिनों आर्यसमाज के प्रसिद्ध विद्वान् एवं शास्त्रार्थी आर्यमुनि जी की बड़ी धाक थी। शर्मा जी ने उन्हें भी शास्त्रार्थ में परास्त किया था। वह हास्य एवं व्यंग्य के भी उस्ताद थे और उन्होंने मुद्गरानन्द नाम के जिस जीव की कल्पना की उसे साहित्य का एक पात्र ही बना दिया।

पं० गंगानाथ झा

छायावाद के प्रारंभिक युग में महामहोपाध्याय पं० गंगानाथ झा भी, संस्कृत कालेज सेवार्थ काशी आए और रहे। गंगानाथ जी शास्त्रों के प्रकांड पंडित थे और उनके समय में संस्कृत कालेज ने बड़ी तीव्र गति से उन्नति की। उन्होंने अनेक दुर्लभ ग्रंथों का संपादन किया और उन्हें प्रकाशित कराया। अंग्रेजी में भी खूब लिखा। उनकी शैली आचार्यों की भांति गहन होती थी। वह न केवल विचार वर आचार में भी आदर्श ब्राह्मण थे। बाद में इलाहाबाद यूनिवर्सिटी के वाइस चांसलर के रूप में भी उन्होंने शिक्षा क्षेत्र में

बड़ा काम किया। वह स्वतंत्र एवं निर्भीक स्वभाव के व्यक्ति थे और अपने जीवन की सरलता, चरित्रशीलता एवं पावनता से उन्होंने सैकड़ों छात्रों को प्रभावित किया। यह भी एक सुंदर संयोग ही कहना चाहिए कि उनके पुत्र स्व० अमरनाथ जी ने अंग्रेजी साहित्य क्षेत्र में वही सफलता पाई जो पिता ने संस्कृत साहित्य क्षेत्र में पाई थी और वह भी पिता की भांति ही प्रयाग विश्वविद्यालय के वाइस चांसलर (उपकुलपति) हुए, एक सफल उपकुलपति। उनके दूसरे पुत्र आदित्यनाथ जी संस्कृत कालेज के प्रवृद्ध रूप संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी के प्रथम वाइस चांसलर हुए।

काशी के पंडितों में उन दिनों पं० अयोध्यानाथ की अच्छी ख्याति थी। वह श्रेष्ठ ज्योतिषी थे और इस विद्या से उन्होंने धन और सम्मान दोनों का अर्जन किया। मैं उनके ईश्वरगंगी स्थित मकान पर कभी-कभी जाया करता था और यद्यपि उनसे बहुत समय तक मिलते रहने का योग मुझे नहीं मिला, फिर भी जब-जब मिलना हुआ, उनकी सज्जनता एवं पांडित्य का बड़ा प्रभाव पड़ा। ज्योतिष के दूसरे विद्वान् पं० रामयत्न जी से तो प्रायः मिलना होता था। वह गणित ज्योतिष के अच्छे पंडित थे और सुधाकर जी के शिष्यों में थे।

कविराज गोपीनाथ जी

कविराज गोपीनाथ जी से व्यक्तिगत घनिष्ठता नहीं हुई पर दर्शन अनेकानेक बार किए हैं। चुपचाप उनका विवेचन और प्रवचन भी सुना है। अपने एक मात्र पुत्र के असामयिक निधन के बाद से कविराज जी संस्थाओं एवं समारोहों से प्रायः अलग ही रहते हैं परंतु उनकी जो भी रचनाएं पढ़ी हैं उनसे मेरे ऊपर उनके पांडित्य की गहरी छाप है। अध्ययन जहां साधना बनकर मूर्तिमान हो गया है और जीवन जहां श्रेय में समाहित है, भारतीय विद्वानों में शिरोमणि, अपने प्रति मौन, और विज्ञान-वारिधि के विस्तार के प्रति कुतूहल एवं जिज्ञासा में खोए हुए, ऐसे गोपीनाथ जी हैं। अनेक भाषाओं एवं अनेक विद्याओं के ज्ञाता तथा अंतर्राष्ट्रीय ख्याति के विद्वान्। गोपीनाथ जी को विविध शास्त्रों एवं विद्याओं का इतना व्यापक ज्ञान है कि ज्ञान की किसी शाखा पर भारतीय विचार वह आपको दे सकते हैं। उनका ज्ञान-विस्तार देख कर आश्चर्य होता है। संस्कृत कालेज में जब आचार्य थे तब अनेक दुर्लभ पांडुलिपियों का शोधन एवं संपादन करके उन्हें प्रकाशित किया था। किंतु दुःख है कि अपना अथाह ज्ञान अपने में ही समेटे मौन से हैं।

गोपीनाथ जी का जन्म पूर्वबंग (अब पाकिस्तान) में ढाका के निकट धामराई ग्राम में 7 सितंबर, 1887 ई० को हुआ था। इनके पिता वैकुंठनाथ जी भी अच्छे विद्वान् थे किंतु युवावस्था में ही उनका देहावसान हो गया।

गोपीनाथ जी अपने माता-पिता की एक मात्र संतान हैं। इंट्रेंस तक की शिक्षा ढाका में हुई; फिर मलेरिया से पीड़ित होने के कारण लगभग एक वर्ष तक वायु परिवर्तनार्थ इधर-उधर घूमे और ग्रंत में जयपुर (राजस्थान) को मलेरिया से निरापद पा वहीं अध्ययनार्थ रुक गए। वहीं से 1908 में इंटर ग्रौर 1910 में बी० ए० की परीक्षाएं उत्तीर्ण कीं। साथ ही वहां के प्रधानमंत्री संसारचंद्र सेन के पौत्रों के अभिभावक ग्रौर शिक्षक (गार्जियन ट्यूटर) भी रहे। फिर स्वदेश लौट गए। वहां से क्वींस कालेज, वाराणसी के प्रिंसिपल डा० आर्थर वेनिस की विद्वत्ता पर मुग्ध हो उनकी देखरेख में शिक्षा ग्रहण करने वाराणसी आए ग्रौर एम० ए० में भर्ती हुए। एम० ए० में इन्होंने लिपिविज्ञान, मुद्राशास्त्र, वर्ण-विज्ञान आदि विषय लिए थे, जिन्हें डा० वेनिस पढ़ाते थे। इसके अतिरिक्त डा० नौर्मन से प्राकृत, पालिसाहित्य तथा व्याकरण पढ़ते थे। उन्हीं से जर्मन ग्रौर फ्रेंच भाषाएं भी पढ़ीं। वाराणसी के ग्रध्ययनकाल में महामहोपाध्याय लक्ष्मणशास्त्री तैलंग, आचार्य नरेन्द्रदेव तथा श्री हरिरामचंद्र दिवेकर उनके सहपाठी थे। महामहोपाध्याय श्री वामाचरण भट्टाचार्य से कविराज जी ने न्याय और वेदांत का विशेष अध्ययन किया। 1913 में एम० ए० की परीक्षा में प्रथम श्रेणी में प्रथम रहे। फिर वह एक वर्ष तक प्राचीन शिलालिपियों पर गवेषणा करते रहे।

इन्हीं दिनों संस्कृत कालेज के साथ सरस्वती भवन नामक एक विशाल गवेषणाप्रधान पुस्तकालय की स्थापना हुई और वेनिस साहब ने इन्हें 1914 ई० में उसका प्रधान अध्यक्ष नियुक्त किया। 1918 ई० में डा० वेनिस साहब की मृत्यु के उपरांत उन्हीं के एक प्रिय तथा पुराने छात्र डा० गंगानाथ झा संस्कृत कालेज के ग्रध्यक्ष हुए। डा० झा एवं कविराज जी दोनों ने प्राचीन ग्रंथों के संपादन कार्य को बहुत आगे बढ़ाया। 1924 ई० में डा० झा प्रयाग विश्वविद्यालय के वाइस चांसलर होकर चले गए तब कविराज जी संस्कृत कालेज के ग्रध्यक्ष हुए। 1937 में बेरी-बेरी रोग से ग्रस्त होने के कारण उन्होंने सरकारी सेवा से अवकाश ग्रहण कर लिया और घर पर ही अध्ययन, चिंतन, शास्त्रचर्या करते रहे। अस्वस्थ रहने पर भी उनका यह क्रम आज तक जारी है।[1]

कविराज जी के वास्तविक आध्यात्मिक एवं योग-गुरु थे स्वामी विशुद्धानन्द जी जिनका उल्लेख मैं इस लेख के पूर्वांश में कर चुका हूं ग्रौर विस्तृत वर्णन मैंने ग्रपनी पुस्तक 'योग के चमत्कार' में किया है। विशुद्धानन्द जी महान् योगी थे किंतु उनकी सबसे बड़ी विशेषता थी, लुप्त प्राचीन भारतीय योग-विद्याग्रों का पुनरुद्धार। वायु विज्ञान, सूर्य विज्ञान इत्यादि अनेक विद्याओं का अविष्कार

1. श्रीकृष्ण पंत-लिखित 'तांत्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि' (जीवन-परिचय) के आधार पर।

एवं पुनरावर्त्तन उन्होंने किया था। वह अपनी शक्ति से स्थूल सृष्टि कर सकते थे। इन विद्याओं की शिक्षा के लिए काशी में उन्होंने एक वैज्ञानिक गवेषणा-स्थल निर्माण करने की भी चेष्टा की थी किंतु 1937 में तिरोधान होने के कारण वह कार्य रह गया। कविराज जी ने बंगला भाषा में उन पर एक महा-ग्रंथ की रचना की है। इधर माता आनन्दमयी की भी इन पर विशेष कृपा रहती है।

कविराज जी ने समय-समय पर अनेक प्राचीन ग्रंथों का संपादन किया है; बंगला, हिंदी और अंग्रेजी में अनेक उत्तम ग्रंथों का प्रणयन भी किया है। हिंदी में 'तांत्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि', 'भारतीय संस्कृति और साधना' और 'काशी की सारस्वत साधना' तीन ग्रंथ बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् से प्रकाशित हुए हैं तथा उत्तरप्रदेश शासन की हिंदी समिति के लिए लिखा 'तांत्रिक साहित्य' ग्रंथ मुद्रण में है। शाक्त दर्शन के तो वह अद्भुत विद्वान् हैं। किंतु इसके अतिरिक्त भी इन्हें अनेक भारतीय विद्याओं का कोष कहना चाहिए। अगाध ज्ञान उनमें संचित है। यह ज्ञान यदि संचित और प्रकाशित हो सकता तो लुप्त भारतीय विधाओं की गहनता सुलभ हो जाती।

बालकृष्ण जी और दामोदर लाल जी

यहां न्याय के प्रकाण्ड पंडित बालकृष्ण शास्त्री एवं दर्शन तथा साहित्य के परम विद्वान् स्व० दामोदर लाल जी गोस्वामी की बड़ी याद आती है। गोस्वामी जी तो वैष्णव धर्म की एक शाखा के आचार्य थे। क्या भव्यरूप था और कैसी रसार्द्रता थी। वह अनेक कलाओं तथा विद्याओं के निधान थे। शास्त्र एवं साहित्य दोनों के गूढ़ मर्मज्ञ थे और काशी की गौरव परंपरा के एक स्तंभ। दुःख यही है कि वह अपना सारा ज्ञान अपने साथ लेकर चले गए। संस्कृत विद्वानों की यह निस्पृहता तथा साहित्य के प्रति उदासीनता आध्यात्मिक दृष्टि से मूल्यवान हो पर लोकसंग्रह दृष्टि से खिझाने वाली है।

'तिवारी' जी और 'महाशय जी'

काशी के पंडितों की इस चर्चा के समय मुझे दो विद्वानों की बड़ी याद आ रही है। ये हैं श्री देवनारायण त्रिपाठी और पं० रामयश जी। दोनों अपने ढंग के अपूर्व विद्वान् थे। देवनारायण जी 'तिवारी जी' तथा रामयश जी 'महाशय जी' के नाम से अधिक विख्यात थे। तिवारी जी गया (बिहार) के रहने वाले थे। क्षीणकाय, श्यामल। पर जब बोलने लगते थे तब ऐसा जान पड़ता था कि उनकी वाणी में बरसाती फल्गु की धारा फूट पड़ी है। व्याकरण-शास्त्र का वैसा पंडित आधुनिक युग में कोई दूसरा हुआ, यह मैं नहीं जानता। तिवारी जी व्याकरण के पंडितों के पंडित थे। वह पाणिनि की परंपरा के

विद्वान् थे। कोई ग्रंथ पढ़ाते समय वह उसे खोलकर देखते न थे और स्मृति ऐसी अच्छी थी कि पृष्ठ तक बता देते थे। संस्कृत का व्याकरणशास्त्र इतना महत् और निश्चय है कि उसमें इधर-उधर होना कठिन है किंतु तिवारी जी का वैदुष्य उसमें भी मीन-मेख निकालता और संशोधन कर सकता था।

उनका अधिकांश जीवन अध्यापन में ही बीता। 19 वर्ष की आयु से ही वह अध्यापन करने लगे थे और 78 वर्ष की अवस्था तक अध्यापन करते रहे। 16-16 घंटे पढ़ाते थे। मुश्किल से 4-5 घंटे सोते थे। वह तीन बजे ब्राह्म मुहूर्त्त में उठते; मणिकर्णिका जाकर निर्जन में गंगा-स्नान करते; विश्वनाथ मंदिर तक शिव-स्तुति करते जाते; फिर अन्नपूर्णा में चंडीपाठ करते। तब वहां से पैदल ही संस्कृत कालेज जाते। मार्ग में भी दुर्गा सप्तशती का पाठ करते जाते। छः बजे प्रातः से साढ़े दस बजे तक कालेज में पढ़ाते, फिर एक बजे दिन से आठ-साढ़े आठ बजे रात तक सरस्वती गली के एक मठ में पढ़ाते। स्त्री के रहने पर भी आजन्म स्वयंपाकी रहे।

तिवारी जी बड़े ही तेजस्वी स्वभाव के व्यक्ति थे और क्षीणकाय होने पर भी अपने नियमित जीवन के कारण स्वस्थ एवं दीर्घायु रहे। 60-65 वर्ष की अवस्था में उन्हें पुत्र उत्पन्न हुआ था। स्मृतिशक्ति वृद्धावस्था में भी इतनी तीक्ष्ण थी कि 40-50 वर्ष पूर्व मिले आदमियों को पहिचान लेते थे। उनकी आर्थिक स्थिति भी यावज्जीवन अच्छी रही। वह विद्यार्थी मात्र के कल्पवृक्ष थे और उनकी पर्याप्त सहायता किया करते थे। समय-समय पर उन्होंने संस्कृत कालेज के अनेक पदाधिकारियों की भी सहायता की थी। सभी उनका बड़ा सम्मान करते थे, यहां तक कि प्रिंसिपल भी उनके सामने खड़े हो जाते थे। मालवीय जी महाराज की ओर से उन्हें हिंदू विश्वविद्यालय में बुलाने का बड़ा यत्न किया गया परंतु वह न गए। जर्मन, फ्रांसीसी, बर्मी एवं सिंघली सभी देशों के जिज्ञासु उनके पास जिज्ञासा की तृप्ति के लिए आते थे। संन्यासियों में भी उनके अनेक शिष्य थे। सर्वश्री सभापति उपाध्याय, नृसिंह त्रिपाठी एवं कुबेरनाथ शुक्ल इत्यादि को उन्होंने उत्साहित किया और बढ़ाया।

उनकी विद्वत्ता एवं गंभीर ज्ञान से सभी चमत्कृत थे। किंतु जब उनसे ग्रंथ रचना का अनुरोध किया जाता तो मुस्कराकर कहते : 'भई, जितना लिख दिया गया है, उसी को जानने-समझने वाले नहीं हैं तब नया लिखकर क्या होगा ?'

तिवारी जी जहां तेजस्विता की मूर्ति थे वहां 'महाशय जी' त्यागमूर्ति थे। यह बनारस के अनेई डाक क्षेत्र में पिंडरा के रहने वाले थे। दूसरों को पढ़ाते जरूर थे परंतु अधिक समय स्वाध्याय में लगाते थे। 18-18 घंटे मीमांसा, न्याय, साहित्य एवं धर्मशास्त्र का अध्ययन किया करते। योग्य शिष्य मिलने पर खूब पढ़ाते थे। इनके पढ़ाने की शैली ऐसी सुबोध होती थी कि पाषाण बुद्धि में

भी घर बना लेती थी। आधुनिक परीक्षा प्रणाली के घोर शत्रु थे। यदि कोई परीक्षा की तैयारी के लिए उनसे पढ़ने जाता तो पढ़ाते न थे या बेमन कुछ बता देते थे। उन्हें पढ़ाने में आनंद तब मिलता जब ज्ञानार्जन की दृष्टि से कोई पढ़ने आता था। वह आचार्य के प्रधान परीक्षक हुआ करते थे। एक बार किसी परीक्षार्थी ने अपनी असफलता की आशंकावश उनसे कृपा की भीख मांगी बस सदा के लिए परीक्षकत्व से त्यागपत्र दे दिया। तिवारी जी की आर्थिक स्थिति जहां सुदृढ़ थी, वहां इन्हें इसका भी पता न रहता था कि कल का खर्च कैसे चलेगा। यह धनैषणा एवं यशैषणा दोनों से विरक्त थे। अच्छे-अच्छे वेतन वाले पदों के प्रलोभनों को इन्होंने बार-बार ठुकराया। पंडित सभा में भी कभी न गए। जो मिलता था उसमें ही संतुष्ट रहते थे, बल्कि अपने अल्प वेतन का अधिकांश ग्राम की संस्कृत पाठशाला को दे देते थे और स्वयं एक रुपया प्रतिदिन भरण-पोषण में व्यय करते थे।

तिवारी जी क्षीणकाय पर सुदर्शन और स्वस्थ थे। शरीर फौलाद के समान दृढ़ था। परम आस्तिक और कट्टर शैव थे। इनके पास पुस्तकों का विशाल-संग्रह था; जिसमें अनेक दुर्लभ ग्रंथ थे। काशी पंडितों की खान है परंतु ऐसे त्यागी, वीतराग, विद्या के प्रति आत्मार्पित व्यक्ति आज सर्वथा दुर्लभ हो गए हैं।

पं० यादवेश्वर तर्करत्न

स्वामी ज्ञानानंद जी के यहां ही हमने दो प्रसिद्ध बंगाली विद्वानों: प० यादवेश्वर तर्करत्न और पं० प्रमथनाथ तर्कभूषण के दर्शन किए थे। यादवेश्वर जी औदीच्य भट्टाचार्य थे और बंगाल के रंगपुर जिले के इटाकुमारी गांव में इनका जन्म हुआ था। बचपन से ही प्रतिभा खिलने लगी थी। 9 वर्ष की अवस्था में 'श्राद्ध' पर एक संस्कृत कविता लिखी थी। इन्होंने प्रसिद्ध विद्वान् कैलासचंद्र शिरोमणि से न्याय एवं वैशेषिक तथा श्री विशुद्धानंद जी से वेदांत एवं योगदर्शन की शिक्षा प्राप्त की। इनका एक काव्य 'चंद्रदूत' मैंने देखा है जो 'मेघदूत' के ही ढंग का है। बंगला में एक 'द्रौपदी' खंड काव्य भी लिखा था। यह धाराप्रवाह संस्कृत बोलते थे। अगस्त, 1924 ई० में काशी में ही 73 वर्ष की अवस्था में इनका देहावसान हुआ। इनके पुत्र श्री वृन्दावन भट्टाचार्य काशी विश्वविद्यालय में प्राचीन भारतीय इतिहास के अध्यापक थे। अब कहां हैं, पता नहीं।

यादवेश्वर जी की भांति ही प्रमथनाथ जी का भी विद्वन्मंडली में महत्त्वपूर्ण स्थान था। न्याय के वह गंभीर विद्वान् थे। अच्छे वक्ता और लेखक थे। सात्त्विक विचारों की मूर्ति। अच्छे कार्यों में उनका आशीर्वाद और योगदान सदा ही रहता था। मीमांसादर्शन के आचार्य चिन्नस्वामी अपने ढंग के एक ही विद्वान् थे।

छायावाद के पूर्वार्द्ध काल में श्री लक्ष्मणशास्त्री द्रविड़ की बड़ी धाक थी, विशेषतः प्राचीन शास्त्र परंपरा के सनातनी हिंदुओं पर। किंतु बाद में शास्त्र चिंतन की अपेक्षा वह मतवादों के फेर में अधिक पड़ गए थे। संस्कृत कालेज से संबंधित पुराने लोगों में महामहोपाध्याय पं० नारायणशास्त्री खिस्ते और डा० मंगलदेव शास्त्री के नाम भी याद आ रहे हैं। खिस्ते जी की संस्कृत शैली अभिनंदनीय है। कालेज के प्रधानाचार्य के पद से भी उन्होंने पर्याप्त कार्य किया है। डा० मंगलदेव जब यूरोप से लौटे थे और भदैनी में उनका अभिनंदन हुआ था तब से मुझे उनकी याद है। उन्होंने हमें कई बहूमूल्य रचनाएं भेंट की हैं जिनमें उनका भाषाविज्ञान ग्रंथ विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

उस युग की और भी कुछ मूर्तियां याद आ रही हैं। इनमें एक थे महामहोपाध्याय श्री हाराणचंद्र भट्टाचार्य। प्रातःस्मरणीय शिवकुमार जी ने इन्हें पोष्यपुत्र की भांति ग्रहण किया था। भट्टाचार्य जी नव्य व्याकरण के आचार्य थे और शास्त्रार्थी पंडितों में इनके प्रखर पांडित्य का लोहा माना जाता था। इनका एक ग्रंथ 'काल सिद्धांतदर्शनी' प्रसिद्ध है।

पं० देवीप्रसाद शुक्ल

महामहोपाध्याय पं० देवीप्रसाद शुक्ल से तो अच्छा परिचय हो गया था। वह प्रसाद जी के मित्रों में थे और 'कविचक्रवर्ती' उपाधि से विभूषित थे। किंतु सामान्यतः लोग उन्हें 'कवि जी' कहकर पुकारते थे। इनके पिता पं० दुःखभंजन जी भी बड़े अच्छे कवि थे। देवीप्रसाद जी उनके एकमात्र पुत्र थे। यह गोस्वामी दामोदरलाल जी के प्रमुख शिष्यों में थे। मैंने संस्कृत के एक से एक विद्वान् के दर्शन किए हैं परंतु देवीप्रसाद जी, जैसा मस्त आदमी उनमें दूसरा कोई न मिला। इनमें इनके पूज्य गुरुदेव की मस्ती और पिता का फक्कड़पन, दोनों थे। बड़े ही मिलनसार, विनोदी और स्वाभिमानी व्यक्ति थे। प्रसाद जी के अनुरोध पर माघ के एकादश सर्ग का हिंदी पद्यानुवाद मूल छंदों में किया था। हिंदी से इनका बड़ा अनुराग था। 'इंदु' में प्रकाशित इनकी एक कविता मुझे आज भी याद है :

भारी भव सिन्धु देखि हारी है हमारी मति,
ए हो गिरिधारी एक आस है तिहारे पैं।
अधम-उधारी तव नाम है जहान जान,
पातकी अनेक तरे रावरे सहारे पैं।
याते सुनि दास की सुबानी भय सानीनाथ,
लीजिए सम्हारि गहि पानि के पुकारे पैं।

नेकु तो पसीजिए न कीजिए विलम्ब अब,
दीजिए उतार पार पग है करारे पै ।।

शुक्ल जी कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे । मालवीय महाराज इन पर बड़ा स्नेह रखते थे । अंत तक हिंदू विश्वविद्यालय में संस्कृत के अध्यापक रहे ।

पं० सत्यनारायण शास्त्री

सत्यनारायण जी यद्यपि आयुर्वेद के प्रकांड पंडित और सफल चिकित्सक के रूप में ही विख्यात थे किंतु अनेक भारतीय विद्याओं में उनकी अबाध गति थी। उनका नाड़ी-ज्ञान अद्भुत था । अनेक असाध्य रोगियों को मृत्यु मुख से लौटा लाने का श्रेय उन्हें प्राप्त था ।

बाद के जीवन में तो वह तो राष्ट्रपति राजेन्द्रप्रसाद के निजी चिकित्सक हो गए थे । कुछ समय पूर्व उनकी मृत्यु के साथ, एक प्रकार से, काशी के पुराने पंडितों की परंपरा का लोप हो गया । जिस तरह उन्होंने देह छोड़ी उससे भी यही लगा कि उसके लिए उन्होंने स्वयं ही समय का चुनाव किया था । कई दिनों से वह अतिसार से पीड़ित थे । जब मंगलवार आया तो उन्होंने कहा : 'त्रयोदशी हो गई, अच्छा मुहूर्त्त आ गया ।' फिर घर के बाहर शय्या लगवाई; बारिश के कारण चंदोवा तान कर शय्या लगाई गई । उन्होंने पद्मासन लगाने की चेष्टा की परंतु अत्यंत दुर्बलता के कारण वह न सधने पर प्राणायाम किया फिर कुछ मंत्र पढ़ते हुए धीरे-धीरे शरीर छोड़ दिया ।

इनके अतिरिक्त भी अनेकानेक विद्वज्जन उस समय काशी में थे, परंतु मेरा उनसे संपर्क अथवा परिचय नहीं हुआ । पं० विंध्येश्वरी प्रसाद शास्त्री (बाद में महामहोपाध्याय) एवं श्री केदारनाथ शर्मा सारस्वत संस्कृत में अच्छी कविता करते थे । पं० वटुकनाथ शर्मा एवं श्री बलदेव उपाध्याय भी अध्यापन कार्य में लग गए थे । और भी अनेक रहे होंगे, जिनकी स्मृति में मैं विनत हूं । प्राचीन संस्कृत विद्वज्जनों में धन के प्रति जो वितृष्णा थी, जो गहरी आस्तिकता थी, लोक-कल्याण की जो भावना थी, शिष्यों को पितृवत् श्रेयस्करी प्रेरणाओं से पूरित करने की जो क्षमता थी, परम साधक की जो निस्पृहता थी—निस्पृहता जहां से हमारी संस्कृति के प्रकाश बिंदु झरते थे, वह कराल काल प्रवाह में लुप्त होती जा रही है ।

15
काशी की वह त्रिमूर्ति

साहित्य एवं भारतीय विद्या के क्षेत्र में काशी ने जो दिया है उसकी तुलना किसी और नगरी से नहीं की जा सकती। काशी दर्शन, साहित्य, न्याय के क्षेत्र में शताब्दियों से प्रसिद्ध रही है। आद्य शंकराचार्य तक को इस भूमि का लोहा मानना पड़ा था। शंकर की यह प्रिय भूमि, जिसके विषय में दावा किया गया है : 'येषां क्वापि गतिर्नास्ति तेषां वाराणसी गतिः', न केवल साहित्य और विद्या का केंद्र रही है वरन् तपस्या, शक्ति, योग और साधुत्व के लिए भी अनुकूल भूमि रही है। बड़े-बड़े योगी, यती, तपस्वी गंगा की कछार में या निकटवर्त्ती स्थानों में, अनादि काल से रहते रहे हैं। रामकृष्ण परमहंस जैसे जीवन्मुक्त इसका दर्शन कर नाचने लगे थे। उन्होंने ही कहा था कि बाह्य आवरण के नीचे काशी का वह शाश्वत, विमुक्तिकारी रूप छिपा है, जिसे वही देख पाते हैं जिन्हें भगवत्कृपा से वैसी दृष्टि प्राप्त हुई है।

यही नहीं, भारतीय जीवन पर जो राजनीति आज छा गई है, उसमें तथा स्वतंत्रता एवं जागरण के आंदोलनों में भी वह बहुत आगे रही है। वह डा० एनी बेसेण्ट एवं महामना मालवीय जैसे दो अखिल भारतीय ख्याति के नेताओं के जीवन की प्रधान लीलाभूमि है। आज की संतति उन्हें भूल गई है या तेजी से भूलती जा रही है, परंतु एक समय भारतीय जीवन, विशेषतः शिक्षित समाज पर उनका इतना गहरा प्रभाव था कि आज हम उसकी कल्पना भी नहीं कर सकते। उसे हम प्रभाव नहीं, सम्मोहन कह सकते हैं। ब्रह्म विद्या के प्रचार में माता बेसेंट की सेवाएं स्वर्णाक्षरों में लिखी जाएंगी। उन्होंने इतना लिखा है और इतना अच्छा लिखा है कि वह गहरी साधना के बिना संभव ही नहीं था। मद्रास (अडयार) और काशी दो उनके प्रधान कर्म केंद्र थे। काशी में तो शिक्षा के क्षेत्र में भी उन्होंने बहुत काम किया। सेंट्रल हिंदू कालेज के जिस बीज से बाद में हिंदू विश्वविद्यालय-जैसा बटवृक्ष उत्पन्न और विकसित हुआ, उसे उन्होंने स्थापित किया था और उनका थियोसाफिकल स्कूल तो बसंत कालेज के नाम से आज भी चल रहा है।

उन्होंने सांस्कृतिक शोध और ज्ञानान्वेषण का जो कार्य उठाया था उसी के सिलसिले में उन्हें ज्ञान हुआ कि जिस जाति की सभ्यता इतनी प्राचीन है और जिस जाति ने ज्ञानान्वेषण और जीवन की गुत्थियां सुलझाने के क्षेत्र में इतनी सफलता प्राप्त की उसे पराधीन नहीं रखा जा सकता। उन्होंने माडरेट (नरम) दल का संघटन किया। इसमें वाडिया, तैलंग, भगवानदास, रामस्वामी ऐयर, सुरेन्द्रनाथ इत्यादि बहुत से भारतीय थे। एक जमाने में जवाहरलाल जी भी उसी ओर खिंचे थे। वस्तुतः बाद में उन्होंने जो होमरूल आंदोलन चलाया और इसके लिए होमरूल लीग का संघटन किया, वह 'नरम' राजनीति का गरम रूप या रूपांतर मात्र है।

वृद्धावस्था में भी वह इतना काम करती थीं कि क्या कहें? एक बार बंबई से मद्रास की रेल यात्रा में उन्होंने कई लेख लिखवाए और तीन पुस्तकें पूरी पढ़ कर उनकी समीक्षा लिखवाई। समय की पाबंदी उनका बहुत बड़ा गुण था। वक्तृत्वकला में उनकी ख्याति अंतर्राष्ट्रीय थी। इतनी सुंदर अंग्रेजी बोलती थीं और इतने सहज भाव से, मानो अंदर से एक सोता उमड़कर बह रहा है। उनकी वाणी में माधुर्य और संगीत के साथ ही इस्पात की दृढ़ता होती थी। उनका पत्र 'न्यू इंडिया' उस समय जागरूक मनस्विता का प्रतीक बन गया था।

वह एक व्यक्ति नहीं, संस्था थीं, बल्कि उनकी जीवन भंगिमा से अनेक संस्थाएं बनीं जो आज भी कार्य कर रही हैं। उनकी सबसे बड़ी सफलता यह है कि पाश्चात्य सभ्यता की बाह्य चमक-दमक के आकर्षण जाल में फंसते हुए शिक्षित भारतीयों के सामने उन्होंने उनकी प्राचीन विरासत का दिव्य रूप रखा और उनसे कहा : 'यह अपना रूप देखो; यह है तुम्हारा वास्तविक रूप, यह है तुम्हारी सभ्यता। तुम किससे तुच्छ हो?' इसके लिए उन्होंने प्राच्य एवं पाश्चात्य जीवन के सद्गुणों का मिश्रण किया; जीवन का उदात्त पर शिष्ट रूप सामने रखा; संप्रदायों के ऊपर उठकर उपनिषद् के ऋषि की शिक्षा को ग्रहण करने पर बल दिया और सांस्कृतिक तल पर हिंदू, मुसलमान, पारसी, यहूदी, ईसाई सबको मिलाया। उनके समारोहों में जब ये सब अपनी-अपनी प्रार्थनाएं करते थे तब 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति'—एक ही सत्य को ज्ञानी जन विविध प्रकार से कहते हैं—द्वारा ऋषि ने जिस तात्त्विक ऐक्य का आवाहन किया था, वह हमारे सामने प्रत्यक्ष हो जाता था।

राजनीति में भी उनके अनुगामियों की संख्या बहुत काफी थी। एक प्रकार से सर्वश्री हृदयनाथ कुंजरू, इकबाल नारायण गुर्टू, भगवानदास इत्यादि उन्हीं के साथी और अनुगामी थे। एक समय तो लोकमान्य तिलक, मोतीलाल जी इत्यादि भी उनके प्रभाव में थे परंतु बाद में अलग हो गए।

काशी से उनका घनिष्ठ संबंध था। थियोसाफिकल कान्वेंशन भी कभी मद्रास, कभी काशी में होता था। काशी से उनका यह घनिष्ठ संबंध उनकी मृत्यु तक बना रहा।

मालवीय जी

मालवीय जी यद्यपि प्रयाग में उत्पन्न हुए परंतु उनके जीवन का प्रौढ़ भाग काशी में ही बीता। काशी पर वह मुग्ध थे। इसीलिए अपनी कल्पना को साकार करने के लिए उन्होंने इसी नगरी को चुना। उनका कहना क्या था? रहन-सहन, विचारधारा, शिक्षा, मनोरचना सबसे वह सच्चे भारतीय थे। उनमें श्रेष्ठ ब्राह्मण की पौराणिक संस्कृति व्यक्त हुई थी। उनमें दुखी एवं कातर जनों का दुःख उठा लेने की तत्परता थी और शास्त्रवचन के प्रति निष्ठा भी। भारत भूमि को वह प्राणों से अधिक प्यार करते थे। बोलने लगते थे तो ऐसा जान पड़ता था कि भावों का एक तूफान आ गया है जो बंद नहीं होगा। छः-छः, सात-सात घंटे लगातार वह बोल सकते थे और ऐसे मधुभाषी थे कि लोग मुग्ध होकर उनकी बातें सुनते रहते थे।

अपने वर्ग में वह महान् भिक्षुक के नाम से प्रसिद्ध थे। लाखों रुपये बात की बात में एकत्र कर लेते थे। पचास हजार के दान को एक शून्य आगे बढ़ाकर पांच लाख करते उन्हें देर न लगती थी। साथ ही दूसरों का मन रखने में इतने दुर्बल और संकोची कि अगर कोई आदमी तुल ही जाए तो उनसे उचित-अनुचित सब कुछ करा सकता था।

वह मध्यवर्गी थे; सुधारवादी एवं कट्टर के बीच एक कड़ी के समान। काशी के कट्टर ब्राह्मण विद्वान् उनसे कभी प्रसन्न नहीं रहे; दूसरी ओर सुधारवादी उनसे सदा असंतुष्ट रहे। दयाशीलता की वह मूर्त्ति थे और कदाचित् इसीलिए दो टूक निर्णय करने की शक्ति उनमें नहीं थी क्योंकि वह किसी का हृदय दुखाने के लिए तैयार न होते थे। काशी को उन्होंने अपनी सर्वोत्तम निष्ठा का दान दिया। उनका जीवन सहस्र-सहस्र युवकों के लिए एक जीवित पाठ के समान था, जिससे हम प्रेरणा लेते थे, शक्ति प्राप्त करते थे और चरित्र निर्माण का पाठ भी पढ़ते थे।

शिवप्रसाद जी

जिस युग की काशी की बात हम कर रहे हैं उसकी याद आते ही एक ऐसा व्यक्ति हमारी आंखों के सामने आकर खड़ा हो जाता है जो काशी की तेजस्विता तथा समर्पणशीलता का प्रतीक था और जिसे भूलना हमारे लिए कठिन है। मैं स्व० शिवप्रसाद गुप्त की बात कर रहा हूं जो अनेक दृष्टियों से एक अद्भुत व्यक्ति थे।

जिस कुटुम्ब में इनका जन्म हुआ था वह परंपरावादी था। इनके पूर्व इनके कई भाई-बहिन बालपन में ही काल-कवलित हो गए थे। माता को विश्वास हो चला था कि वह घर सहता नहीं है। इसलिए इनके जन्म के अवसर पर इनकी माता जी अपना घर छोड़ चौकाघाट (बनारस) में शिवलाल दुबे के बगीचे में एक फूस की कुटिया में रहा करती थीं। वहीं इनका जन्म हुआ था। यह जन्मते ही चमारिन के हाथ सात कौड़ी में बेच दिए गए। फिर प्रचुर द्रव्य देकर माता-पिता ने उससे इनको खरीदा।

इंट्रेंस की परीक्षा पास करने के बाद इनमें गहरी मानसिक उथल-पुथल आरंभ हो गई। मूढ़ हिंदू परंपराओं के प्रति इन्हें अरुचि होने लगी। इनका मन अनेक धर्मों की ओर दौड़ता था। कभी इस्लाम की ओर झुकते तो कभी ईसाइयत की ओर; फिर शालिग्राम और हनुमान आदि की उपासना करते; कभी वल्लभ मत इन्हें खींचता; कभी सूर्योपासना करते। ऐसी मनःस्थितियों के बीच आर्यसमाज का प्रभाव इन पर अधिकाधिक पड़ने लगा।

इसी मानसिक उथल-पुथल ने समाज एवं देश के प्रति इनको सजग किया। उस जमाने में लाल, बाल, पाल (लाला लाजपतराय, बालगंगाधर तिलक और विपिनचंद्र पाल) की त्रिमूर्ति का भारतीय जीवन पर बड़ा प्रभाव था। इनके गर्मागर्म विचार युवकों को तीव्र प्रेरणा दे रहे थे। शिवप्रसाद जी ने भी इन विचारों से बड़ी प्रेरणा ग्रहण की। उनके हृदय में सोई देशभक्ति करवटें लेने लगी और देश-सेवा का निश्चय दृढ़ हो गया।

8 मई, 1914 ई० को यह बंबई से विलायत के लिए रवाना हुए। इस यात्रा में उन्होंने मिस्र, इंग्लैंड, आयरलैंड, अमेरिका, जापान, कोरिया, चीन आदि देशों में घूमकर वहां का ज्ञान प्राप्त किया। इस प्रवाह का सुंदर एवं हृदयग्राही वर्णन इनके सचित्र ग्रंथ 'पृथ्वी-प्रदक्षिणा' में है।

अमेरिका में इनका लाला लाजपतराय से संपर्क हुआ और उनके विचारों से यह विशेष रूप से प्रभावित हुए। यह यात्रा में ही थे कि यूरोपीय महायुद्ध छिड़ गया। सिंगापुर में हिंदुस्तानी सेना ने विद्रोह कर दिया। पुलिस सतर्क हुई। गलत रिपोर्ट पर पेनांग में यह गिरफ्तार कर लिए गए और फौजी जेल में ठूंस दिए गए। वहां इन्होंने अनुभव किया कि पराधीन जाति का कहीं कोई सम्मान नहीं; बिना स्वतंत्र हुए हमारा जीवन व्यर्थ है। इन अनुभवों ने इनकी देशभक्ति के विचारों को और तीव्र कर दिया।

शिवप्रसाद जी अत्यंत सहृदय व्यक्ति थे। सिद्धांत के पक्के थे और गुरुजनों और मित्रों की भी जो बात समझ में न आती या जिसे ठीक न समझते उसका खुलकर विरोध करते परंतु इससे इनकी मित्रता में, निजी संबंधों में कभी अंतर न आता था। मालवीय जी को पिता-तुल्य मानते थे परंतु सार्वजनिक

जीवन में उनका विरोध करने से कभी न चूकते थे। उन्होंने जीवन में न जाने कितने लोगों की सहायता की, न जाने कितनी प्रतिभाओं को गति दी। वह बड़े सहृदय, सरल, निष्कपट व्यक्ति थे। खिलाने-पिलाने और खाने-पीने के शौकीन। उनके साथ यात्रा करना एक अनुभव होता था। फलवाला आया तो टोकरी की टोकरी रखवा ली; मिठाई-पूरी या मलाई-रबड़ी दिखाई पड़ी तो पूरा खोमचा या थाली रखवा ली। अब आप चाहे जितनी इच्छा हो, खाइए। हंसते-हंसाते, खाते-खिलाते रास्ता यों कट जाता था जैसे एक ही सपने में भोर हो जाए।

बहुत वर्षों तक वह कांग्रेस के प्रमुख कार्यकर्ताओं और नेताओं में थे। वह आजन्म हिंदी, भारतीय संस्कृति एवं भारतभूमि के भक्त रहे। हिंदी के प्रति जैसी निष्ठा उनकी थी, उसका दूसरा उदाहरण मुझे अपने विस्तृत सार्वजनिक संपर्क के जीवन में नहीं मिला। जिस जमाने में कोई अपनी मोटरकार का नंबर हिंदी में देने की कल्पना भी नहीं करता था तब इन्होंने वैसा किया और जुर्माना देकर भी अपने व्रत पर दृढ़ रहे। उनकी संस्थाओं के बैंक के चेक भी हिंदी में ही भरे जाते थे। हिंदी में उन्होंने 'आज' निकाला और पराड़कर जी के सहयोग से उसे हिंदी का सर्वश्रेष्ठ दैनिक बना दिया। हिंदी में उच्च कोटि के ग्रंथों—विशेषत: वैज्ञानिक ग्रंथों—के प्रकाशन के लिए स्व० रामदास गौड़ इत्यादि की प्रेरणा से उन्होंने 'ज्ञानमंडल' नामक मुद्रण एवं प्रकाशन संस्था की स्थापना की, उनकी प्रेरणा से ही संसार के ऐसे महत्त्वपूर्ण ग्रंथों की तालिका भी बनवाई गई जिनका हिंदी में अनुवाद होना आवश्यक था। यद्यपि उसके अनुसार अधिक काम न हो सका परंतु वैसी तालिका का उस युग में तैयार कराना ही एक बड़ी बात थी। 'आज' के अतिरिक्त ज्ञानमंडल से उन्होंने 'स्वार्थ' नाम का सावधिक पत्र भी निकाला जो अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, राजनीति-विज्ञान और व्यापार-शास्त्र का हिंदी में उस समय सर्वश्रेष्ठ पत्र था और उसके बंद होने के बाद आज तक उस अभाव की पूर्ति नहीं हो सकी। कुछ समय तक अंग्रेजी दैनिक 'टुडे' और मासिक पत्रिका 'मर्यादा' का प्रकाशन भी उनकी इस संस्था से हुआ था।

तिथियों का कौन-सा क्रम पंचांगों में अपनाया जाए, इस पर पिछले दिनों काफी विचार हुआ है और अब तो एक राष्ट्रीय पंचांग की ही रचना हो गई है परंतु अपने समय में गुप्त जी ने इस क्षेत्र में भी बहुत काम किया और सौर पंचांग का प्रकाशन शुरू किया। दाशमिक प्रणाली के वह प्रबल समर्थक थे। हिंदी के सबसे अधिक समादृत 'मंगलाप्रसाद पारितोषिक' की स्थापना में भी उनका ही हाथ था। स्वतंत्र राष्ट्रीय शिक्षण के लिए उन्होंने 'काशी विद्यापीठ' की स्थापना की। स्वतंत्र चिंतन के विषय में उनकी तीव्र संवेदना एवं सज-

गता का अनुमान इसी एक बात से किया जा सकता है कि विद्यापीठ के मूल अनुबंध एवं दान में यह शर्त उन्होने रखवाई थी कि यह संस्था किसी भी सरकार से, भले ही वह अपने देश भारत की स्वतंत्र राष्ट्रीय सरकार ही क्यों न हो, सहायता नहीं ग्रहण करेगी। आज तो हममें आर्थिक प्रवृत्तियां इतनी प्रबल हो रही हैं और व्यक्ति एवं समाज के जीवन का ढांचा इस प्रकार बदलता जा रहा है कि विद्यापीठ के कर्ता-धर्ता उस मूल अनुबंध और उसकी उदात्त कल्पना के विरुद्ध सरकारी सहायता लेने तथा सरकारी उपाधियां ग्रहण करने के मोहजाल में पड़ गए हैं। विद्यापीठ ही क्या, आधुनिक शिक्षाप्रणाली के विरोधस्वरूप स्वामी श्रद्धानन्द द्वारा स्थापित गुरुकुल कांगड़ी तथा रवीन्द्रनाथ का विश्व संस्कृति नीड़ शांति निकेतन तक इस मोह के शिकार हो चुके हैं।

शिवप्रसाद जी की कल्पनाशीलता का दूसरा प्रतीक 'भारत माता का मंदिर' है। इस मंदिर की एक विशेषता यह भी है कि इसकी नींव में, बड़ी सावधानी के साथ, अनेक पुस्तकें रखी गई हैं जिनमें विक्रम संवत् में भारतीय इतिहास की प्रमुख घटनाएं लिखी हैं आर्य विद्या का परिचय दिया गया है तथा इस समय प्राप्त वेद, ब्राह्मण आदि तथा जैन, बौद्ध, चार्वाक दर्शन के प्रमुख ग्रंथों की सूचना दी गई है। यह दर्शनीय मंदिर काशी विद्यापीठ के निकट ही है। इसमें भारत का जो उभरा मानचित्र है उसे बनाने में वर्षों की निरंतर साधना लगी है। प्रत्येक स्थान की ऊंचाई मूल के अनुपात में बनाई गई है और प्रामाणिकता का बड़ा ध्यान रखा गया है।

ज्ञान की साधना के लिए उनका अपना विशाल पुस्तकालय था। इस पुस्तकालय में विविध विषयों के हजारों उच्च कोटि के ग्रंथ थे। मैं प्रायः इस पुस्तकालय में गया हूं और उससे जीवन में बहुत लाभ उठाया है। परंतु गुप्त जी की उदारता के कारण सैकड़ों मूल्यवान पुस्तकें गायब हो गईं। जो नेता गुप्त जी के यहां आकर ठहरते वे जो पुस्तकें चाहते साथ लिए चले जाते। इस अव्यवस्था ने इस पुस्तकालय को क्षति पहुंचाई। बाद में तो पुस्तकालय का अधिकांश काशी विद्यापीठ के पुस्तकालय में मिला दिया गया।

गुप्त जी अपने विचारों के इतने पक्के थे कि किसी की सुविधा-असुविधा के लिए अपने पथ से डिगते न थे। उनके भवन के अंदर कमरों में जूते पहिन कर जाना निषिद्ध था और विदेशी यात्रियों से भी इस नियम का पालन कराया जाता था। उनके मकान 'सेवा-उपवन' के बाहर ही इस आशय की तख्ती लगी हुई थी। वह कहते थे कि यह हमारा राष्ट्रीय शिष्टाचार है।

लखनऊ जेल में 13 अक्तूबर, 1932 को इन पर भयंकर पक्षाघात का आक्रमण हुआ। बाएं अंग पर जब पक्षाघात होता है तब प्रायः जीवन की आशा नहीं की जाती क्योंकि हृदय प्रदेश पीड़ित हो जाता है। इन्हें भी ऐसा ही हुआ।

बचने की कोई आशा नहीं रह गई। इसलिए सरकार ने 23 अक्तूबर को इन्हें छोड़ दिया।

फिर सालों तक जीवन और मृत्यु का द्वंद्व चला। इस द्वंद्व में इनकी पत्नी भगवती देवी का जो भाग है वह भारतीय स्त्रीत्व के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखा जाएगा। सुनते हैं, एक दिन गंगास्नान के समय वह किसी से कह रही थीं कि 'प्राचीन काल में पति या पुत्र को नारी या माता अपनी आयु हस्तांतरित कर सकती थी। इस विधि को कराने वाले महात्मा होते थे। इस युग में उनका लोप हो गया है।' पास ही स्नान कर रहे एक महात्मा ने सुनकर तीव्र दृष्टि से इनकी ओर देखा और कहा : 'अब भी हैं, परंतु कोई जीवन देने वाला तो हो।' भगवती देवी ने आश्चर्य से उनकी ओर देखा, उनकी आंखों में एक ज्योति कौंध गई—वही ज्योति जो भारतीय सती हजारों वर्ष से हमारे जीवन के अंधकार में जलाती आई है। वह महात्मा के चरणों पर गिर पड़ीं, उनसे सब कथा कही। उनकी सम्मति से तांत्रिक विधियों का आयोजन हुआ और सब कुछ गुप्त रीति से क्योंकि शिवप्रसाद जी इसे कब मानने को तैयार होते? मृत्यु और जीवन का लंबा युद्ध चला और इस घुटते, अपंग जीवन को नारी के अमर प्रेम ने आत्मसमर्पण की वह दीक्षा दी कि वह उठकर खड़ा हो गया। पति बच गया और पत्नी ने अपनी आहुति दे दी। इस घटना ने शिवप्रसाद जी को हिला दिया। उनके तर्कप्रधान आर्यसमाजी जीवन में पहली बार श्रद्धा और निष्ठा की ज्योति आई। रामायण और भागवत पढ़ने और सुनने लगे।

परंतु वह अच्छे होकर भी कब तक अच्छे रहते। एक तो यह रोग ऐसा है कि इसका बीज नहीं मिटता—यह जड़ से कभी नहीं जाता। दूसरे, वृद्धावस्था में ऐसी आत्मार्पणशीला पत्नी का वियोग भी उन्हें बहुत खला। तीसरे, जीवन के इस संकटकाल में उन्हें ऐसे कई लोगों से गहरा धोखा हुआ जिनका वह हृदय से विश्वास करते थे। इसकी भी गहरी चोट उन्हें लगी। एक सज्जन ने, जिन्हें उन्होंने एक प्रकार से अपना सर्वस्व बना दिया था, उनके साथ ऐसा दुर्व्यवहार किया कि उसकी याद भी भयावह है। बीमारी के अंतिम दिनों में तो उन्होंने उनको कैदी-सा बना रखा था, यहां तक कि स्वेच्छा से वह अपने घनिष्ठ मित्रों से भी मिल-जुल नहीं सकते थे। मैंने देखा था कि यदि कोई पुराना परिचित किसी तरह उनसे मिल पाता तो उसे देखकर उनकी आंखों से आंसू टपकने लगते थे। बोलते ज्यादा न थे। दुनिया में उन्होंने जो देखा-सुना उससे अंतःस्थ होते जा रहे थे। उन्हें देखकर पहिचानना मुश्किल था। उनका हाथी-जैसा डीलडौल, गलकर ऐसा हो गया था कि जीवन की असारता प्रत्यक्ष हो जाती थी। बाद में उन सज्जन की, जिन्होंने उनके साथ दुर्व्यवहार किया था, बड़ी दुर्दशा हुई और वर्षों तक गहरी पीड़ा एवं दुःखदैन्य भोगने के

पश्चात् उनका देहावसान हो गया। उन्हें अच्छा प्रतिदान मिला।

शिवप्रसाद जी काशी की नाक थे। उनमें पुराने रईसों की उदारता, तेजस्विता और रसमयता तथा नवयुग की झांकी, दोनों की अभिव्यक्ति हुई थी। खाने-खिलाने के वह बड़े शौकीन थे और इसमें अति तक कर देते थे। एक बार हम लोग कहीं जा रहे थे कि किसी ने मलाई और रसगुल्लों की चर्चा की। बस, रास्ते में मलाईवाले की पूरी थाली रखवा ली और रसगुल्लों का थाल ले लिया। काशी-निवासी श्री कार्त्तिकप्रसाद डोगरा ने शिमला की एक ऐसी ही घटना का जिक्र किया है, जहां शिवप्रसाद जी और मालवीय जी विश्वविद्यालय के सिलसिले में गए हुए थे। मालवीय जी महाराज का मन उधर देख, उन्होंने उनसे आज्ञा ली और बाजार में उपलब्ध समस्त संतरे खरीद लिए और मजदूरों के सिर पर संतरों के टोकरे रखवा कर चले। रास्ते में जो गरीब मिलता उसे दो-चार संतरे बांटते जाते। ठहरने के स्थान पर पहुंचते-पहुंचते अधिकांश संतरे खत्म हो गए। बहुत थोड़े बचे। उनके जाने से काशी सूनी हो गई। वह क्या चले गए काशी की मस्ती और अकड़ सार्वजनिक जीवन से लुप्त हो गई। आज जब हिंदी राजमहिषी होकर भी हर जगह दुरदुराई जा रही है और एक विदेशी भाषा को उसके सिर पर जबर्दस्ती थोपा जा रहा है और जब उस पर उत्तर-दक्षिण, पूर्व-पश्चिम, सब ओर से प्रहार हो रहे हैं, घर-बाहर सर्वत्र वह उपेक्षिता है, शब्दों के बहुत आश्वासन-समर्थन के बावजूद लंगड़ी सरकारी नीति ने जब उसे पंगु बनाकर रख दिया है, तब उनकी बड़ी याद आती है। काश, आज वह हमारे बीच होते!

16

छायावादयुगीन हिंदी कविता के पच्चीस वर्ष

1915 में जब तुकबंदियां जोड़ने की लालसा मन में पैदा हुई, मैं निरा बालक था। अनुकरण और उत्कंठा के घुटनों पर खड़ा होना सीख रहा था। जीवन कौतूहल से पूर्ण था। तुकबंदियां जुड़ जातीं, तो बड़ी खुशी होती। साहित्य में मेरे-जैसे बच्चों के लिए कहीं कोई पथप्रदर्शन नहीं था, अथवा था, तो वह इतना बंधनमय था, इतना रूखा कि वहाँ काव्य, काव्य नहीं रह जाता था। हिंदी कविता जंगल में भटक रही थी, घबड़ाई हुई-सी, मार्ग-भ्रम से विचलित, उत्कंठाशिथिल, चकित और खोई हुई। यह भी कह सकते हैं कि जैसे भारतीय राष्ट्र अपनी चेतना खोकर बेसुध था, वैसे ही हिंदी काव्य भी आत्मस्वरूप भूलकर विकल था। उसमें कुछ खीझ थी, अपने को अभिव्यक्त न कर सकने की, पर सब मिलाकर एक उलझन सामने आती थी। काव्य की आत्मा तो प्रच्छन्न, विस्मृत और विलीन थी, काव्य शरीर भी पूर्णतः प्रकट न था। काव्य के रूप में अनिश्चितता थी। सब कुछ बिखरा हुआ था। जीवन अपनी दिशा और गति भूल गया था। मैथिलीशरण उस समय युवकों के मानस पर तेजी से उठ रहे थे। पर उनका उठना काव्य की आत्मा का उठना न था, हमारी उस मानसिक सुषुप्ति में वह हमारे पूर्व, विस्मृत गौरव की ओर एक उंगली दिखा रहे थे; दिशा का एक संकेत उनके काव्य में था। हमारे संचित अहंकार को उनकी कविता एक ठेस देती थी मानो पूछ रही हो, तुम कौन थे, क्या हो गए ? 'भारत-भारती' क्या उनके समस्त काव्य में यह इंगित भरा हुआ है। पर उस समय वह बहुत अनपढ़ और गद्यात्मक था। काव्य का प्राणोत्कर्ष वहां न था, काव्य वहां प्रचार साधन से प्रेरित था। वैसे युग के आवाहन की दृष्टि से यह एक शुभ और महत्त्वपूर्ण कार्य था। पर मैं यहां काव्य की बात कर रहा हूं। उसका विचार करें, तो कहना पड़ेगा कि दृष्टि में कहीं गहराई न थी, हां, विस्तार कुछ-कुछ होने लगा था।

ईश-वंदना, देश और समाज की रूढ़ियां, हमारी दुर्दशा इत्यादि उस समय के विषय थे। ईश-वंदना में परंपरा और गतानुगतिकता थी, और दूसरे विषयों

में भी कोई नूतन ध्वनि, नूतन दृष्टिकोण या प्राणोन्मेष न था, चर्वित चर्वण मात्र था। पद्य और गद्य में अंतर सिर्फ छंद की दीवार का था। दोनों की विषयवस्तु और निर्माण में समानता थी। हिंदी काव्य की दशा एक दीर्घकालिक रोगी की तरह थी, जो मूर्च्छा में पड़ा हो। आत्मा का तेज तो विस्मृत था ही, शरीर भी अवश, शिथिल और मूच्छित था।

मैथिलीशरण में एक मुमूर्षु सार्वजनिक राजनीतिक स्वर था। 'भारत-भारती' के रथ पर चढ़े वह युग की एक क्षीण ध्वनि का संदेश लोगों को दे रहे थे। इसलिए लोकप्रियता उनके हिस्से में खूब आई। पौराणिकता का आश्रय लेना भी उनकी लोकप्रियता का एक कारण था। हिंदी के युवक कवि की दृष्टि, काव्य-रचना अथवा हिंदी काव्य का अध्ययन करते समय, उनकी ओर अवश्य जाती थी। मैथिलीशरण के काव्य में भारतीय संस्कृति के आचारवाद का प्रबल आभास है। इसमें भी संदेह नहीं कि वह हमारी सभ्यता के वैतालिक रहे हैं, आज भी हैं, और इसी में उनका गुण-दोष दोनों है।

'इंदु' और 'प्रसाद' : इनसे कुछ दूर, दूसरी ओर भी, क्षितिज पर, एक हलकी-सी आभा दिखाई देने लगी थी। जब 'इन्दु' का उदय हुआ, तो यह धीरे-धीरे स्पष्ट होने लगी। हमारे साहित्य में 'इन्दु' की जो देन है, उससे आज के बहुत ही थोड़े युवक परिचित हैं, परंतु कई दृष्टियों से हिंदी साहित्य की आत्मा को जगाने में 'इन्दु' की देन 'सरस्वती' से कहीं अधिक है, कम तो कदापि नहीं। इसी को माध्यम बना कर एक गोरा-चिट्टा युवक अपने प्राणों में स्वप्न और मस्तिष्क में कौतूहल तथा प्रश्न लिए हिंदी में आया। मैं 'प्रसाद' की बात कर रहा हूं। उपादान की दृष्टि से देखें, तो प्राकृतिक भावोच्छ्वास लेकर इस नवयुवक कवि का प्रवेश हिंदी में हुआ। प्रकृति दर्शन से इसके काव्य का बचपन आरंभ हुआ, पर इस प्रकृति दर्शन में भी एक सहज दार्शनिक उत्कंठा, एक जिज्ञासा थी। वह प्रकृति और उसके सौंदर्य को ही पाकर संतुष्ट नहीं। सौंदर्य में वह अपने को निमज्जित नहीं कर पाता। व्यक्तित्व अपना प्रश्न लिए अलग है। इसीलिए सौंदर्य दर्शन में तल्लीनता नहीं है। इसलिए काव्यकला का सौंदर्य भी नहीं है। क्योंकि जहां कवि सौंदर्य में डूबकर सौंदर्यमय नहीं है, जहां उसका निजत्व विस्मृत नहीं है, वहां काव्य के रस का परिपाक भी नहीं है, काव्य का लोकोत्तर आनंद ही यह है कि उसमें मानव का क्षुद्र निजत्व विस्मृत हो जाता है, और प्रच्छन्न देवत्व या आत्मतत्त्व की एक झलक मिलती है। मैं मानता हूं, देवोत्थान ही काव्य का लक्ष्य है। विश्वात्मा में चिरमंगल और आनंद का जो तत्त्व है, उसकी अनुभूति और उसके प्रति समरसता तथा रस-ग्राहकता ही काव्य का प्राणोद्दीपन है।

मैं कह रहा था, 'प्रसाद' के काव्य का बचपन इस दोष के साथ शुरू हुआ।

इससे रसानुभूति में बाधा हुई। प्रकृति और कवि के बीच अतृप्त जिज्ञासा की एक दीवार खड़ी है। पर यह दोष दूसरी दृष्टि से कवि के विलासमूलक जीवन पर, अतः उसके काव्य पर भी, एक अंकुश बन गया। इस जिज्ञासा ने ही कवि और उसके द्वारा हिंदी काव्य को एक नई दिशा प्रदान की। जिज्ञासा इस धारा की टेक है। धीरे-धीरे जिज्ञासा बढ़ती है, उधर यौवन के घन घिरते हैं। बहुत दिनों तक काव्य में जिज्ञासा अलग, रसानुभूति तथा रमणीयता अलग रहती है। परंतु ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, जिज्ञासा अंतर्गत होती गई है, और अंत में 'कामायनी' तक पहुंचते-पहुंचते रसानुभूति से उसका पूर्ण सामंजस्य हो गया है।

'भारत-भारती' और 'प्रिय-प्रवास' : जब मैं धारा की गति का स्मरण कर रहा हूं, तब एक बात पहले कह देना जरूरी हो गया है। आधुनिक हिंदी काव्य की प्रगति में 'भारत-भारती' और 'प्रिय-प्रवास' दो बड़ी मंजिलों के द्योतक हैं। 'भारत-भारती' ने प्रच्छन्न आत्मविश्वास को कुरेदकर ऊपर उठाने की चेष्टा की; इसने हमारे मनुष्यत्व को ललकारा, हमारे पौरुष को चैलेंज किया और उसे उभाड़कर ऊपर लाने का उसे श्रेय है। काव्य कला या काव्य के आत्माभिव्यंजन की दृष्टि से उसकी कुछ बहुत देन नहीं है। हां, रूप या शैली के निर्माण में अवश्य उसने सहायता पहुंचाई। आधुनिक भारत में रवींद्रनाथ और मैथिलीशरण, दो ही कवियों को यह यश मिला है कि युवक समाज में उनकी रचनाएं गाई गईं, पढ़ी गईं और उनके जातीय हृदयोद्गार का दर्पण बन गईं। रवींद्रनाथ भाव राशि में गहरे थे; बंगभूमि की तरलता उनमें फूट पड़ी है। मैथिलीशरण उत्तर के, आर्यावर्त्त के सरल, समतल मैदानों की संस्कृति के प्रतिनिधि हैं, जिसमें पौराणिकता का जबर्दस्त पुट है, जो ऐतिहासिक निष्कर्षों, उपाख्यानों तथा उपादानों से भरी हुई है। इसमें पौराणिकता और गतानुगतिकता है, पर चिंतन सत्य की एक झलक भी है। रवींद्रनाथ में मानव संस्कृति के सामंजस्य का स्वर है। मैथिलीशरण में हिंदू संस्कृति तथा राष्ट्रीयता का स्वर है। पर जहां रवींद्रनाथ का प्राण पक्षी मानव संस्कृति का पूजक होकर भी कहीं-कहीं प्रांतीयता के पिंजरे में फंस जाता है, अतः उसकी सहानुभूति शृंखलाबद्ध और संकुचित हो जाती है, वहां मैथिलीशरण में वैष्णव धर्म की उदारता भी है और कहीं उनका स्वर राष्ट्रीयता के क्षेत्र से नीचे स्तर पर नहीं उतरता।

'प्रिय-प्रवास' की सफलता दो बातों से है। एक तो यह कि इसमें पहली बार श्रीकृष्ण मानव रूप में व्यक्त हुए। दूसरी बात यह कि इसने अतुकांत काव्य का आरंभ किया। संस्कृत के अनेक वृत्तों और छंदों का सफलतापूर्वक प्रयोग करने का श्रेय भी 'प्रिय-प्रवास' के लेखक को है। यह करुण रस-प्रधान काव्य है। यह भी उस जमाने में परंपरा की लीक तोड़ने के ही समान था। इसने हिंदी को कुछ नवीनता दी, कुछ दृष्टि दी। काव्य की दृष्टि से 'प्रिय-प्रवास' 'भारत

भारती' के आगे था। इसे लेकर आलोचना का बाजार भी काफी गर्म हुआ। किसी ने कवि को सिर पर उठाया; किसी ने अतुकांत और संस्कृतनिष्ठ काव्य शैली का अनुकरण करने के कारण गालियां भी दीं, पर आधुनिक काव्य के निर्माण में इससे कवि की महत्त्वपूर्ण देन कम नहीं हो जाती।

'प्रिय-प्रवास' के लेखक ने अतुकांत कविता का जो मार्ग अपनाया, उसे आगे चलकर 'प्रसाद', लोचनप्रसाद पाण्डेय इत्यादि ने संस्कृत किया। इन पिछले कवियों ने संस्कृत के साथ अंग्रेजी साहित्य से भी इस दिशा में प्रोत्साहन प्राप्त किया। सानेट लिखे, अनेक नये वृत्त चलाए, चम्पू लिखे। 'प्रसाद' जी ने इस दिशा में काफी काम किया।

1920 तक हिंदी काव्य का एक रूप बनने लगा। धीरे-धीरे नये विषय, नई उपमाएं भी दिखाई देने लगीं। काव्य रोमैंटिक स्पर्श से पुलकित हुआ। मूर्च्छा टूटी; प्राणों में कुछ अस्पष्टता, उलझन, स्वप्न आया। पर अब भी भ्रमित, कस्तूरी मृग की नाईं हिंदी काव्य अंतःसुगंध की खोज में भटक रहा था, जब कि सुगंध उसी के पास थी।

छायावाद क्या है : 1920 में न केवल राष्ट्र ने, बल्कि राष्ट्र की आत्मा ने भी, एक करवट ली। प्राणों पर पड़ी काई कटने लगी। उपनिषद् की भाषा में सत्य पर से स्वर्ण का आवरण हटने लगा। तब से हमारी संस्कृति और साहित्य का संक्रातिकाल आरंभ होता है। वैसे उसे बहुत पहले से आरंभ कर सकते हैं। पर अब रेखाएं स्पष्ट होने लगीं। भाराक्रांत जीवन तरंगित होने लगा। संक्रांतिकाल में मन अनेक धाराओं का संघर्षस्थल होता है। साहित्य में भी इन विविध धाराओं का संघर्ष प्रतिफलित होता है। सत्य की खोज में प्राणों की विकलता, विह्वलता, पराधीनता और जड़ता की अनुभूति की वेदना, पूर्व गौरव की स्मृति, महायुद्ध के बाद समस्त विश्व के मानस पर प्रलय के बादलों की तरह छा जाने वाली दुःख तथा वेदना की काली छाया और इनके बीच भारतीय युवक की अनेक सामाजिक रूढ़ियों में छटपटाती हुई आत्मा। पश्चिम और पूर्व का संसर्ग। समस्त विश्व के साहित्य में दुःखवाद की रोदन ध्वनि व्याप्त हो रही थी। मनुष्य आखिर अपने चारों ओर के वातावरण में ही सांस लेता है, और जब उसमें दुःख की विद्युत् तरंगें भर रही हों, उससे छूटा कैसे जा सकता है। बीसवीं शताब्दी का विश्व अन्वेषण, आत्मशोध की प्रसव-वेदना, असफलता, खीज, सभ्यता की निष्फलता तथा जीवन के सामान्य दुःखों और चक्रवृद्धि ब्याज-सी फैलने वाली चितामूलक कल्पनाओं का चक्रव्यूह है। इस दुःख ने समस्त जीवन को अभिभूत कर लिया है। तब आनंद की सहज स्फुरणा और चेतना का विस्मरण स्वाभाविक ही है। पश्चिम के संसर्ग से हमारे साहित्य में भी दुःखवादी आदर्श ग्रहण किया गया। मानव में जो देवता

है, उसके ही नहीं, जो तुच्छ है, उसके प्रति भी सहानुभूति उमड़ी। जब अन्दर दु:ख हो, तब दु:ख वा दु:खित में आत्मीय भाव सहजलभ्य है। पतन और दुर्दशा की अनुभूति के साथ दु:खवाद की स्वीकृति बिल्कुल स्वाभाविक थी। 1920 के आस-पास हमारे साहित्य में जो मंथन अंदर ही अंदर हो रहा था, उससे एक मिश्र वृत्तियों का काव्य, धीरे-धीरे, उद्भासित हुआ। इसमें निजत्व का स्पर्श था; व्यक्ति की अपनी हृदय वेदना थी; दु:ख की छाया थी, और इन सबके बीच जो प्रश्न उसके मस्तिष्क पर छा रहा था, उसके कारण एक दार्शनिक उत्कंठा थी। कविता का यह वह युग था, जब चिंताधाराओं का स्पष्ट विभाजन संभव न था, बट की जटाओं की तरह सब एक में गुंथी हुई थीं। पर हां, परंपरागत अभिव्यक्तियों की जगह स्वानुभवमयी, किंचित् दृश्य किंचित् अदृश्य, किंचित् ज्ञात किंचित् अज्ञात अनुभूतियां कविता में प्रकट होने लगीं। इनमें भी वस्तुवादी और आदर्शवादी दृष्टियां मिली-जुली थीं, जो बाद में धीरे-धीरे अलग होती गईं। अलंकार और रस की अपेक्षा अनुभूति और ध्वनि को एक वर्ग कविता में अधिक महत्त्व देने लगा। उसके मत से ध्वनि ही काव्य का प्राण है। संस्कृत साहित्य के इतिहास में भी हम देखते हैं, एक समय आचार्य आनंदवर्द्धन के नेतृत्व में कवियों के एक वर्ग ने इसी प्रकार ध्वनि को लेकर विद्रोह का झंडा उठाया था। संसार में जहां भी श्रेष्ठ काव्य है, वहां ध्वनि का कंपन अवश्य है। कुछ आदर्शवादिता, कुछ ध्वनिमूलकता—मतलब दोनों से जो नई धारा बनी, वही छायावाद के नाम से प्रकट हुई। मैं ठीक नहीं कह सकता कि इसका नाम ऐसा क्यों रखा गया या किसने रखा। मेरा ख्याल है कि इसमें अंतश्चेतन की दीप्ति का हलका आभास होने के कारण इसे यह नाम दिया गया होगा। कोई कहते हैं कि इसके विरोधियों ने व्यंग्य एवं उपहासपूर्वक यह नाम रखा। निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है, पर इतना अवश्य है कि मैंने जब 1921-22 में ऐसी कविताएं लिखीं और शायद पहली कविता मेरी ही थी जो 'प्रभा' में छायावाद की स्पष्ट शीर्ष-रेखा के नीचे प्रकाशित हुई, तो मेरे मन में इतना ही था कि इसमें अपनी अंतर्दीप्ति की एक छाया मैं रखना चाहता हूं, जो स्वभावत: स्पष्ट नहीं है, पर जिसके साथ कवि की विकलता, व्यथा और एक अस्पष्ट खोज (अभावमूलक) अवश्य है। समझ न सकता था, न समझने की उम्र ही थी कि यह चीज क्या है, जिसे मैं चाहता हूं। इस कविता का स्रोत व्यक्तिगत था, हृदय के उद्गार। अंग्रेजी में इसे पर्सनल पोएट्री (निजत्वपूर्ण काव्य) कह सकते हैं। परंतु पर्सनल वा निजी होकर भी उसका अंत निजत्व में नहीं था। पौधा अवश्य निजत्व के घेरे में खड़ा था, पर उसकी जड़ों का विस्तार दूर तक था। एक प्रकार की व्यापकता और आध्यात्मिकता उसमें थी।

अनुभूति तौल की चीज नहीं : अनुभूति तर्क की भांति स्पष्ट तराजू में तौल लेने की चीज नहीं। अनुभूति को वाणी में प्रकट करना समर्थ भाषा-शास्त्री के लिए भी कठिन है, इसलिए इन नवागंतुक युवकों से वह आशा दुराशामात्र थी। चूंकि अनुभूति की छाया थी, इसलिए शब्दों में भी कुछ खिचाव, कुछ पर्दा, कुछ प्रच्छन्न ध्वनि, कुछ अस्पष्टता थी। इन अनुभूतियों के लिए बहुधा नूतन शब्दों का भी आश्रय लिया गया, या ऐसे उपादान ढूंढ़े गए, जो सामान्यतः अस्पष्ट बोध होते थे। यह अस्पष्टता अपरिचय और व्यवहाराभाव की अस्पष्टता थी। शब्दप्रयोग का दोष न था। संस्कृत शब्द कोष में एक-एक शब्द के अनेक अर्थ इस बात के द्योतक हैं कि समय-समय पर शब्द नूतन अर्थों की व्यंजना के लिए प्रयुक्त होते रहते हैं। शब्दशक्ति अत्यंत विस्तृत है। शब्दशक्ति का एक पूरा विज्ञान ही हमारे यहां है। शब्दार्थ व्यवहार और प्रयोग पर भी निर्भर है। शब्दों के व्यंग्यार्थ वा गूढ़ ध्वनि को लेकर उनके विविध प्रयोग सदा होते रहे हैं, और आज भी होते हैं। जब नूतन भाव मानस में उठते हैं, ऐसे भाव जो सामान्यतः उस भाषा की अभिव्यंजना-प्रणाली के दायरे से तब तक बाहर थे, तो उनके लिए शब्दों की नूतन अभिव्यंजनाओं का आविष्कार भी करना पड़ता है।

मतवाला और 'निराला' : जब 'मतवाला' के द्वारा 'निराला' जी का हिंदी में आगमन हुआ, तब उनके उन्मुक्त छंदों पर तहलका मच गया। केंचुआ और रबड़ छंदों के नाम से इनका उपहास किया गया। सच पूछें, तो हिंदी कविता के प्रति इतना विद्वेषभाव निराला जी के प्रयोगों के कारण ही पैदा हुआ, अन्यथा 'प्रिय-प्रवास' को लोग हजम कर रहे थे। बात यह थी कि हिंदी जिस प्रांत की भाषा थी, उसमें तब भी गतानुगतिकता और कट्टरता का प्राबल्य था। हमारे आचार्यों ने कभी नवीनता का स्वागत न किया, उन्होंने सदैव उसकी अभ्यर्थना उपहास से की। फिर 'निराला' जी के नूतन आविष्कारों के प्रति उनकी सहानुभूति क्यों होती ? 'निराला' जी के आगमन ने हिंदी का रुद्ध द्वार खोल दिया। विद्रोह की प्रबल धारा साहित्य में उमड़ पड़ी। वस्तुतः 'निराला' जी के प्रयोग सार्थक और सोद्देश्य थे। वह एक ओर बंगला को हिंदी के निकट ला रहे थे, दूसरी ओर पद्य के पंखों को उपनिषद् में निवेदित काव्य की तरह उन्मुक्त करना चाहते थे। नवीनता की अभ्यर्थना उपहास से साथ शुरू हुई।

नवीनता का उपहास : 1920 से 1932 तक का समय नवीन हिंदी काव्य की किशोरावस्था का समय है। इसमें अधिकारी आचार्यों द्वारा कभी उसके प्रोत्साहन में एक शब्द खर्च नहीं हुआ, उसके उपहास में, उसे गिराने में उसे लोगों के सामने गलत रंग में पेश करने में वाणी का विशेष उपयोग हुआ।

आरंभ से—लगभग 1915 से—बराबर नवीनता की अभ्यर्थना भर्त्सना ने ही की है। 'हरिऔध' का विरोध, फिर 'प्रसाद' का उपहास, फिर 'निराला' पर निराधार आक्षेप। नकल, चोरी, असमर्थता, सबके आरोप इन पर लगाए गए। नवीन धारा को आगे बढ़ाने में 'इंदु' और 'प्रभा' की देन सबसे अधिक है। इन दोनों पत्रों को, विशेषत: पहले को, आज की संतति भूल गई है, पर उस समय और लोग तो ऐसी रचनाएं छापने से भी डरते थे। 1930 तक 'विशाल भारत' भी ऐसी कविताओं का विरोधी था। समय की मांग तथा काव्यधारा की शक्ति को पहचानने की दृष्टि बहुत कम लोगों में थी। 1928 के मुजफ्फरपुर सम्मेलन में जब मैंने इन उपहासों के विरोध में, सम्मेलन के अध्यक्ष स्व० पं० पद्मसिंह शर्मा के भाषणों की तीव्र आलोचना करते हुए, आवाज उठाई, तब कुछ लोगों ने बड़ा हो-हल्ला मचाया। पर आचार्यों की गद्दी का प्रभाव तो कम होता ही जा रहा था। सिंहासन के बाहर उनकी शक्ति का क्षय हो चुका था। मैंने देखा, हिंदी की प्रातिनिधिक जनता पर से उनका प्रभाव उठता जा रहा है। मुझे हिंदी काव्य के उज्ज्वल भविष्य के विषय में कभी शंका न थी। मैथिलीशरण के काव्य की आलोचना करते हुए 1926 में मैंने लिखा था कि उनका मार्ग अब अवरुद्ध है। या वह समाप्त हो जाएंगे, या फिर, अपनी मर्यादा के अन्दर भी, नवीन काव्य की प्रेरणाओं को अपनाने को बाध्य होंगे। बाद की उनकी अनेक छोटी कविताओं ने इस भविष्यवाणी की सार्थकता सिद्ध की है। उनको नवीन काव्य की प्रेरणा और प्राणधारा का आवाहन करना पड़ा। पर उस जमाने में ये सभी लोग नवीन काव्य, विशेषत: 'निराला' जी तथा अतुकांत एवं मुक्त काव्य, के विरोधी थे। सबसे ज्यादा दु:ख मुझे यह देखकर होता था कि 'हरिऔध' जी और पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी जैसे हिंदी का संस्कार करने वाले भी उपहासकों के दल में शामिल थे। यही 'हरिऔध' जी थे, जिन्होंने हिंदी में नूतन छंदों का पहले प्रयोग किया था और श्रीकृष्ण के मानवीय रूप का निदर्शन किया था, और यही द्विवेदी जी थे, जिन्होंने नवीन हिंदी के निर्माण में जबर्दस्त भाग लिया था और ब्रजभाषा बनाम खड़ी बोली युद्ध के प्रधान सेनापति रह चुके थे। आश्चर्य यह कि कल्पित नामों से, स्वयं प्रच्छन्न रहकर इन्होंने ये आक्रमण किए और जब उत्तर दिया गया तो उसके प्रकाशन में अड़चन डालने की भी चेष्टा की। अवस्था प्राप्त होने के साथ मनुष्य किस प्रकार रूढ़िवादी होता जाता है, यह इसका उदाहरण है। इतिहास में सर्वत्र ऐसा ही होता रहा है। कल के अग्रणी आज के रूढ़िवादी बन जाते हैं।

'निराला' जी के तांडव ने जो विरोध ध्वनि आधुनिक हिंदी कविता के विषय में उठा दी थी, सुमित्रानन्दन पन्त ने अपनी रसवती, नागरी-सी कविता

से उसे कुछ कम करने में सफलता प्राप्त की। इनके जीवन तथा काव्य में जो नागरिकता—Urbanity—अतः सुकुमारता थी, उसने अवस्था प्राप्त आचार्यों को भी मोह लिया। पन्त ने लोगों में एक मधुर कुहक पैदा की और स्वप्ना-कर्षण की भांति लोगों को मोहाविष्ट कर लिया। नवीन हिंदी काव्य में पन्त को हम 'निराला' का पूरक कह सकते हैं। 'निराला' जी के काव्य में शक्ति का जैसा स्फुरण है, व्यक्तित्व का जैसा निघोष है, और आत्मविश्वास का जैसा प्रबल स्वर है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। हिंदी-जगत् की तूफानी धाराओं के बीच निराला में एक चट्टान की दृढ़ता, पर साथ ही उपजाऊ मिट्टी की ग्राहकता है। यह कवि की अंतःशक्ति का द्योतक है कि विरोधों के बीच भी वह स्थिरता पूर्वक आगे बढ़ता गया है और अंत में संपूर्ण विरोधी वातावरण को पराजित कर जैसे जबर्दस्ती उस पर छा गया है। निराला में जो घोर ब्लंटनेस है, वही उनकी विशेषता है। उन पर उनकी पैतृक भूमि (बैसवाड़, उन्नाव) की गहरी छाप है, इतनी गहरी कि जहां इन्होंने अपने बचपन और किशोरावस्था के दिन बिताए, उस बंग भूमि की तरलता भी केवल उस पर एक हलका-सा आवरण बनकर रह गई है। यह आवरण आबे रवां की भांति झीना है और अंदर की चीज को छिपा नहीं पाता। इसीलिए यद्यपि उन्होंने कई कोमल तत्त्वप्रधान रचनाएं भी सफलतापूर्वक लिखी हैं, पर वे उनके निजत्व के स्पर्श से अपेक्षाकृत शून्य हैं। उनकी विशेषता वहां नहीं है। वस्तुतः निराला में हिंदी काव्य के पुरुषार्थ का स्वर है, पहाड़ पर होने वाले भयंकर विद्युद्गर्जन की कड़क है। उनमें शक्ति का पदक्षेप है। उनमें जो दोष हैं, वे भी इस गुण के कारण और उसको लेकर ही हैं। आवेश और उन्मेष में भावगुंफन कहीं-कहीं अस्पष्ट हो जाता है क्योंकि भाषा उसका बोझ वहन नहीं कर पाती, अटकती है। इसीलिए 'निराला' के काव्य के अध्ययन में उत्तराखंड की यात्रा का आनंद और कष्ट है।

'निराला' के काव्य ने बाद के वर्षों में एक और मूल्यवान चीज हमें दी है। नाद तत्त्व के प्रति ग्राहकता जैसी निराला में है, वैसी आधुनिक हिंदी काव्य में कहीं नहीं। यह ग्राहकता साधारण और लोकप्रिय संगीत से भिन्न है। इसलिए सामान्यतः समझ में नहीं आती।

पन्त के काव्य में उसका पर पक्ष दिखाई पड़ता है, जो निराला में महान् है। पन्त में काव्य का नारीत्व अपनी मृदुलता की अनुभूति में रसमय है, गंडेरी की भांति वा मुग्धा नवोढ़ा की भांति। पन्त में जीवन के स्वप्नों की छाया है, जीवनमार्ग पर फैली धूप नहीं। जहां निराला का जीवनपथ कर्मण्यता के कोलाहल से मुखरित है, वहां पन्त का जीवन-मार्ग कल्पना और स्वप्न की लता वेष्टित कुंजगलियों में थिरकता, इठलाता चल रहा है। इसीलिए जहां माधुर्य

और रस की पन्त में अधिकता है, वहां पुनरुक्तियों की मोनोटनी भी है। पन्त के काव्य पर उत्तराखंड की पर्वतमालाओं की भी हलकी-सी छाया है। प्रकृति के प्रति कवि में कौतूहल और किंचित् मुग्धता का स्वर है। पर सब मिलाकर पन्त की कविता रंगीन कल्पना के स्वप्नजाल में मुग्ध है। उस नारी की भांति, जिसने जीवन में रस ही रस पाया है, और जो कुछ और नहीं जान पाई है, अभी नई है, और कुमारीपन की आभा उसके चेहरे पर बनी है। जीवन में स्वप्न शरीर में मृदुता, मन में दुनिया के प्रति कौतूहल—अपने में भूली खोई-सी। निराला और पंत को आधुनिक हिन्दी काव्य का पुरुष और नारी पक्ष कहें, तो अत्युक्ति न होगी। प्रसाद में इन दोनों का समीकरण हमें मिलता है।

1930 तक ये सारी धाराएं बिखरी हुई थीं और प्रायः स्थानीय क्षेत्रों में ही सीमित होकर उतर रही थीं। इनका कोई सामूहिक सार्वजनिक मंच न था। साहित्य की गहरी साधना के प्रति हिंदी साहित्य सम्मेलन में जो उपेक्षा थी और जो आज तक चली ही जा रही है, वह मुझे खल रही थी। मैं बड़े ध्यान से हिंदी काव्य की गति देख रहा था और उसकी उन्नति पर उत्फुल्ल था। निजी रूप में मेरा सभी प्रमुख साहित्यकारों से परिचय था, उनसे भी जो नवीन धारा के विरोधी थे। 1927 में मैंने साहित्य के नवसर्जन के लिए नवीन चेतना का भार उठा लेने वाली एक संस्था संघटित करने की कोशिश की, अनेक पत्रों में इसका आंदोलन किया गया। मैंने सोचा था, शुरू में नवीन साहित्य के प्रमुख लेखक और कवि एकत्र हों, एक-दूसरे के संपर्क में आएं। काफी समर्थन भी हुआ। हिंदी के बहुत पुराने लेखकों में से एक, श्रीगोपाल-रामजी गहमरी तक ने इसका समर्थन किया, पर कुछ मेरा इकलापन, कुछ अर्थाभाव, कुछ कदाचित् समय ही अनुकूल न था, कुछ मेरे उत्तर-भारत से चले जाने के कारण भी बात वहीं रह गई। 'प्रसाद' जी की अजगर वृत्ति भी इसका एक कारण हुई। खैर, संस्था नहीं बनी, पर काम रुका नहीं। धीरे-धीरे काव्य में गति आई, विस्तार आया। वह पुष्ट होने लगा, धीरे-धीरे विरोध कम होता गया। विरोध का स्थान उपेक्षा, उपेक्षा का कौतूहल, कौतूहल का जिज्ञासा, लेती गई। फिर अस्पष्ट सहमति का युग आया। 1933 के बाद तो प्रत्येक पत्रिका में नूतन कवियों का स्वागत होने लगा। यहां तक कि आधुनिक हिंदी काव्य अपने नकलचियों (सूडो कवियों) की अनुत्पादक छंदोबद्ध बाढ़ से घिर गया।

1932 से 1940 तक, यानि इन आठ वर्षों में, हिंदी काव्य ने संतोषजनक उन्नति की है। कल के उपेक्षित आज के हीरो (नायक) हैं। इन वर्षों में सैकड़ों काव्य ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं। युक्त प्रांत की सरकारी रिपोर्टों के अव-लोकन से मालूम होता है कि सबसे ज्यादा पुस्तकें आजकल काव्य की ही

निकलती हैं। खपती भी हैं। उनके पाठकों की तादाद बढ़ी है। फिर भी ईर्ष्यालु, प्राचीनता प्रेमी आचार्यगण इस पर अस्पष्टता और दुरूहता का दोष लगाते ही जा रहे हैं। आश्चर्य, यह अस्पष्ट और दुरूह विभाग जनता में काफी लोकप्रिय हो रहा है।

इन वर्षों में हिंदी काव्य में अनेक शैलियां फूटी हैं। कुछ ज्वालामुखी शांत भी हो गए हैं, जैसे एक भारतीय आत्मा, पांडेय मुकुटधर आदि। सियारामशरण, नवीन, सुभद्राकुमारी चौहान, भगवतीचरण वर्मा, महादेवी वर्मा, बच्चन, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, दिनकर, नेपाली, अंचल, द्विज, प्रेमी, मिलिंद, नरेंद्र और आरसीप्रसादसिंह इत्यादि ने काव्य में काफी सफलता प्राप्त की है। महादेवी ने गत 15 वर्षों में अपना बड़ा विकास किया है। आरंभ में इनके काव्य में कुमारीत्व की जो सरलता थी, उसने प्रणय के निगूढ़ मार्ग में आत्मार्पण किया है और नारीत्व की तरलता और प्यास से उसका मानस प्रकंपित है। उसमें नारी के अतृप्त हृदय की गहरी अनुभूति तथा दर्शन की छटपटाहट है। चिरवियोगिनी नारी के निगूढ़ हाहाकार से इनका काव्य मुखरित है। वह वेदना के अतल में डूबा हुआ है। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया है, वेदना में ही संतोष और तृप्ति की खोज बढ़ती गई है। इनके काव्य में एक ओर मूक और निष्फल आकांक्षाओं का व्यथातुर उत्पीड़न है, दूसरी ओर आत्मार्पण में शांति एवं जीवन की सफलता ढूंढ़ने की चेष्टा। मनोविज्ञान के विद्यार्थी के लिए इनका काव्य विरोधी भावनाओं के संघर्ष की पर्याप्त सामग्री जुटाता है। इनके हृदय में तो वही चिरंतन नारीत्व का क्रंदन है, आकांक्षा है आत्मार्पण करके, सर्वस्व देकर तृप्ति-बोध करने की। पर संस्कार, चिंताधारा और उपार्जित स्वत्वबोध के कारण विद्रोह, खीझ और घृणा भी है। इसलिए नारीत्व सफल नहीं हो पाता, उसके आत्मार्पण में पूर्णता नहीं है, एक 'रिजर्व' है। फिर इनकी आत्मार्पण की अनुभूति मुखरा है, उसमें मौन त्याग का अबोलापन नहीं। अपने त्याग की वेदना की श्रेष्ठता सिद्ध करने की तार्किकता है।

महादेवी में जो कुछ मृदुल और रसमय है, वह उनके नारीत्व को लेकर ही है। जीवन के संघर्ष में भी यह मृदुलता इसलिए बच गई है कि नारी नारीत्व से भागकर भी अपने से सर्वथा पलायन करने में असमर्थ है। पर इनके समस्त काव्य के अध्ययन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि निरंतर की खीझ और निष्फलता की तीव्रता के कारण नारीत्व के उस मृदुलता के स्रोत पर एक आवरण पड़ता जा रहा है। यह आवरण पहले झीना था, अब उसमें घनत्व और पृथुलता आ रही है। इसीलिए महादेवी के काव्य में रस का परिपाक बहुत कम दिखाई देता है। जहां निजत्व बिलकुल विस्मृत है, वहां पूर्ण आत्मार्पण है, वहीं रस घनत्व को प्राप्त होता है। महादेवी में नारी की सर्वस्वार्पण की

और अपना सर्वस्व दे कर अपने को कृतार्थ कर लेने की भावना है, पर वह सर्व-स्वार्पण कर नहीं पाई हैं। यह भावना भी उनके समस्त प्राण में ओतप्रोत नहीं है, यह उनके न चाहने पर भी है, इसलिए कि वह नारी हैं, और नारीत्व की मृदुल उत्सर्ग भावना से, इच्छा हो या नहीं, नारी के लिए पूर्ण पलायन संभव ही नहीं। इसी संघर्ष के कारण रस महादेवी में प्राणगत नहीं है, वरन् उनके काव्य का तार्किक परिणाम मात्र बनकर रह गया है। इस संघर्ष के कारण ही उनमें गूढ़ता है। यह गूढ़ता रहस्यवाद की गूढ़ता नहीं है, जीवन की पहेली के न सुलझने के कारण कवि में जो अनिश्चय है, उसकी गूढ़ता है। पर जो हो, महादेवी ने आधुनिक हिंदी काव्य पर अपनी एक छाप डाली अवश्य है। युवक कवियों का समुदाय का समुदाय उनके प्रति आकर्षित हुआ है। उनका अनुकरण कम से कम छंदों में तो बहुत अधिक हुआ है।

महादेवी की तरह रामकुमार भी इन वर्षों में बढ़ते ही गए हैं। इनकी कविता में कल्पना का अच्छा उपयोग हुआ है। रहस्यवादी स्पर्श भी है। अलंकारों का भी इन्होंने अच्छा उपयोग किया है। ध्वनि और सांकेतिकता भी इनमें यथेष्ट मात्रा में है। इनकी चंद कविताएं बहुत अच्छी हैं।

भगवतीचरण में प्रवाह है। बौद्धिक वस्तुवादी व्यंजना से इनका काव्य परिपूर्ण है। इनमें 'सेंस आफ ह्यूमर' भी खूब है। जब कहते हैं, उद्दाम वेग से कहते हैं। काव्य में, और कवि में भी, जीवन का एक प्रखर, करीब-करीब चुनौती देने वाला स्वर है। वेदना और व्यथा है, पर उनके पीछे पुरुष की भाग्य के प्रति दुस्साहसिक ललकार भी है।

सियारामशरण में गहराई है। और गहराई से भी अधिक सरलता। यह हमारे साहित्य के कदाचित् एक ही मानवीय कवि हैं। हिंदी काव्य की मधुशाला में मानो दक्षिण पवन का एक ठंडा, हलका, चैतन्य करने वाला, झोंका आ गया हो, कुछ ऐसी इनकी देन है। ग्रामीण नववधूटी की तरह प्रसाधनहीन होने पर भी इनकी कविता प्राकृतिक सौंदर्य से पूर्ण है। रस से प्राण भरे हुए हैं। पर इस रस पर मर्यादा और संयम की बांध है। यौवनघट रस में अंदर ही अंदर घुट रहा है, अनबोला प्राण प्रेम के दीपक पर अंचल-सा बना हुआ है। शुद्ध वातावरण, स्वस्थ विचार और सच्ची मनोज्ञता ने, काफी समय हो जाने पर भी, इनके काव्य का कौमार्य कायम रखा है।

सुभद्राकुमारी ने काव्य में नारी में रमणी की अपेक्षा मातृत्व बोध की अधिक चेष्टा की। उन्होंने नारी में मूर्च्छित, पर सतत वर्तमान मातृत्व के दर्शन किए हैं। इनमें मातृत्व का आत्मसंतोष है। पर काव्यकला की दृष्टि से इनके परिमार्जन और विकास का जब समय आया, तब यह बुझ रही हैं।

बच्चन में पहाड़ी नाले का प्रखर वेग है। इनके काव्य में जवानी का अश्रांत

नर्तन है, उद्वेलित यौवन की चुनौती है। उसमें उद्दाम प्रवाह, भाषा का सुथरापन और व्यंग्य है तथा जीवन की भौतिकता का स्वर तीव्रता के साथ व्यक्त हुआ है। पर इस भौतिकता में पेचीदगी या उलझन नहीं है, यौवन के आवेग के साथ इसके मूल में एक अद्‌भुत सरलता भी है। इतनी बेपरवाही, इतना समर्पण, इतना अबंडन, हिंदी काव्य में अन्यत्र नहीं दिखाई देता। कला की दृष्टि से इनकी कविता का स्थान काफी ऊंचा है। शब्द मंजे हुए हैं। सबसे बड़ी बात तो यह है कि 'उमरखैयाम' का रंग होते हुए भी इनके काव्य में निपट शारीरिकता नहीं है, इसके पीछे गहराई है और जीवन का सरलतापूर्ण कौतूहल है। जीवन की मधुशाला के बीच बैठकर भी कवि रिंद नहीं बना, कोई बंधन उसे उस वातावरण में भी उससे ऊंचा उठाए रहा है। हाल की कविताओं का स्वर पूर्व काव्य से भिन्न है और उस पर नियति का एक कठोर व्यंग्य-सा लगता है। इसमें अनिच्छापूर्ण, कठोर एवं बलात् जागरण की वास्तविकता है। अब इसमें दुःख और व्याकुलता की विदग्धता तो आ रही है, पर अविश्वास और प्रश्न की भी एक हलकी-सी रेखा कहीं-कहीं दिखाई देती है। यही इनके काव्य के लिए खतरे की चीज है।

'नवीन' भावना के कवि हैं। फल्गू की धारा के समान यह फूलों-करारों को ढहाते चलते हैं। जिधर मन आया, निकल गए। मार्ग पूर्व निश्चित नहीं। प्रवाह जिधर ले गया, चले गए। उद्दाम यौवन का स्वर इनकी कविता में है। परंतु शब्दों पर इनका अधिकार बहुत कम है। तुकों के लिए अक्सर शब्दों को बहुत तोड़ते-मरोड़ते हैं। ग्रामीण तथा विजातीय प्रयोग भी इनकी कविता में हैं। अक्सर होता यह है कि शुरू की दो-चार लाइनें अच्छी बन जाती हैं, फिर जैसे शब्द मिलते नहीं, या इनके भावों में तोड़ इतना होता है कि किस जमीन पर जा रहे हैं, इसे देखने की फुर्सत ही इन्हें नहीं मिलती। उर्दू गजल की स्पिरिट—प्रियतम से आलाप—इनकी कविता में पर्याप्त है। और, गजल की तरह ही कोई एक पद इनकी कविता का प्राण होता है। इनके काव्य में भावों का प्रबल संघर्ष भी दिखाई पड़ता है, जैसे कवि सदा अपने दिल से लड़ रहा हो और उद्वेलित यौवन के उद्दाम प्रवाह में पांव लड़खड़ाते हों। कर्त्तव्य और दिल की रुझान—श्रेय और प्रेय—का संघर्ष इनके काव्य में है। हृदय में बड़ी आसक्ति है। दिल को उपालंभ देते हैं, खरी-खोटी सुनाते हैं, माशूक से भी दो-दो हो जाती हैं। दोनों का युद्ध अभी समाप्त नहीं है। इसीलिए इनका काव्य दो किनारों से चल रहा है। पर इनमें दुस्साहसिकता—एडवेंचर—की स्पिरिट खूब है। यौवन का स्वर इनके राजनीतिक व शृंगारिक, दोनों प्रकार की कविताओं पर छाया हुआ है।

'द्विज' में आग्रह और रोदन की ध्वनि है। भगवतीप्रसाद वाजपेयी की कुछ

छोटी कविताएं अच्छी हैं। इनकी कविताओं में भी उपन्यासकार प्रधान है। इसीलिए चित्र-सा खड़ा कर देते हैं। दिनकर में राष्ट्र-भारती की जवानी बोलती है। वह जवानी, जो हर कदम पर कुछ करने, कुछ देने और कुछ लेने को बेचैन है। दिनकर में युग की चुनौती का स्वर भी है। नैपाली में मनोज्ञता है। प्रकृति परिचय भी है। नरेंद्र लालसा और भोग-शृंगार के कवि हैं। उसमें उन्हें सफलता भी मिली है। इन्होंने और पंत जी ने अपने काव्य के उत्तरकाल में जो पथ अपनाया, वह इन दोनों के लिए बिलकुल अप्राकृतिक मालूम पड़ता है। इस प्रकार की कविताओं में इनके हृदय की गहराई का स्पर्श नहीं, मस्तिष्क का विलोड़न मात्र है। इसमें कवि का ट्रेजिक रूप है। जैसे परिस्थिति से विवश और कातर उसने यह मार्ग अपनाया हो। इनमें निजत्व का स्पर्श नहीं, क्योंकि जिस वातावरण और स्थिति के चित्र इन कविताओं में हैं उनमें कवि का जीवन ओत-प्रोत नहीं है, वहां उसका आनंद नहीं है, अतः हृदय का रस भी नहीं। पंत जी ने इन कविताओं से न अपने को, न अपने काव्य को कुछ श्रेय दिया। ये उनके संस्कार और जीवन के अतल से दूर की चीजें हैं और कवि केवल उनका द्रष्टा बन कर रह गया है।

एक और धारा आधुनिक हिंदी काव्य में शुरू से रही है। यह जातीयता की भावानुभूति की धारा है। मैथिलीशरण, माखनलाल, 'नवीन', दिनकर, सोहनलाल इत्यादि प्रधानतः इसी के कवि हैं। माखनलाल में यह उत्कर्ष को प्राप्त हुई। उनमें राष्ट्र के प्राणों का स्वर, काव्य के वातावरण के बीच, व्यक्त हुआ है।

इनके अलावा और भी अनेक कवि हैं। पर आधुनिक हिंदी काव्य का पूरा परिचय तो किसी बड़ी पुस्तक में ही दिया जा सकता है। आज तो हिंदी काव्य की धारा शतधा होकर बह रही है। अवश्य ही इसमें पर्याप्त, विजातीय द्रव्य भी हैं, पर उसमें फलोत्पादकत्व और तत्त्व कुछ कम नहीं। मिलिंद, प्रेमी, केसरी, अंचल, आरसीप्रसादसिंह इत्यादि अनेक कवियों को काफी सफलता मिली है।

पुरानी शैली के कवियों में अनूप का नाम नहीं भुलाया जा सकता। वीर रस के यह एक ही कवि हैं। इनका 'सिद्धार्थ' महाकाव्य 'प्रिय-प्रवास' के बाद उस प्रकार की रचना का शायद सबसे श्रेष्ठ उदाहरण है। पुरानी शैली के कवियों में शृंगारकाव्य में पद्मधर अवस्थी ने बड़ी सफलता प्राप्त की थी। यह आशु कवि थे, बड़े सहृदय। मैंने इनके मुख से अनेक कविताएं सुनी हैं। दुःख है, वर्षों पूर्व जवानी में, एक दिन, एकाएक काशी में ही इनकी मृत्यु हो गई।

मतलब यह है कि हिंदी काव्य ने शक्ति पाई है, और वह अनेक कवियों के हृदय का अमृत पीकर पुष्ट हुआ है। उसकी सफलता का इससे दृढ़ प्रमाण और क्या हो सकता है कि जो लोग कल तक उसका उपहास करते थे, आज उसके

प्रशंसकों में हैं और कोई पत्रिका उसके बिना अपनी शोभा पूर्ण नहीं समझती। 25 वर्ष पूर्व की स्थिति का जब हम ध्यान करते हैं, तो आश्चर्य होता है। तब हिंदी कवि अछूत था, कवि सम्मेलनों में उसे कौन पूछता, पत्रिकाओं के द्वार भी शायद ही कभी उनके लिए खुलते थे। आज विश्वविद्यालयों की उच्चतम परीक्षाओं में आधुनिक हिंदी काव्य पढ़ाया जाता है। विवश होकर उसे हिंदी के समीक्षात्मक इतिहासों में स्थान देना पड़ा है। तब का बालक आज युवा हुआ है। इस यौवन में ही उसके लिए खतरे भी हैं। आज फिर हिंदी काव्य किंचित् दिग्मूढ़ हो रहा है। आरंभ में छायावाद के साथ जो आध्यात्मिकता की अंतःसलिला साहित्य में आई थी, उसका स्रोत सूख-सा रहा है। नहीं कहा जा सकता कि यौवन की प्रचंडता हिंदी काव्य को किधर ले जाएगी।

पुस्तक विवरण की तिथि नीचे अंकित है। इस तिथि सहित 30वें दिन यह पुस्तक पुस्तकालय में वापस आ जानी चाहिए। अन्यथा 50 पैसे प्रतिदिन के हिसाब से विलम्ब शुल्क लगेगा।

रामनाथ 'सुमन'

जन्म : 9 अक्तूबर 1903, ग्राम ढोलापुर वाराणसी।

प्रमुख रचनाएं : **अंग्रेजी**—फोर्सेज एण्ड पर्सनैलिटीज़ इन ब्रिटिश पालिटिक्स, ब्लीडिंग उंड।

समीक्षा : कवि प्रसाद की काव्य-साधना. ग़ालिब, मीर, जिगर, उर्दू काव्य की बुलबुलें, तुलसीदास की देन, रहिमन-चन्द्रिका।

कविता : विपंची, शतदल।

निबंध : जीवन-यज्ञ, नई ज़िन्दगी, वेदी के फूल, इकाई और दहाई, कठघरे से पुकारती वाणी।

जीवनी, संस्मरण, रेखा-चित्र : हमारे नेता, हमारे स्वर्गीय राष्ट्र-निर्माता, युगाधार गांधी, लाला लाजपत राय, सुभाषचन्द्र बोस, स्मृति के पंख।

राजनीति : गांधीवाद की रूपरेखा, गांधी की राह, गांधीवाणी, गांधीजी के सामाजिक विचार, गांधीजी के आर्थिक और नैतिक विचार, उत्तरप्रदेश में गांधीजी।

गृहस्थ साहित्य : भाई के पत्र, आनन्द-निकेतन, नारी : गृह लक्ष्मी और कल्याणी, घर की रानी, नारी-जीवन।

अनुवाद : रहस्यमयी, जीवन-सूत्र, मार्कोपोलो का यात्रा-विवरण।

संपादन : आज (दैनिक), इन्दु (मासिक), त्यागभूमि (मासिक एवं साप्ताहिक), नवराजस्थान (साप्ताहिक), सम्मेलन-पत्रिका (त्रैमासिक)।

छायावादी कवियों का सौंदर्य विधान

डा० सूर्य प्रसाद दीक्षित

'छायावादी कवियों का सौंदर्य विधान' छायावाद को नए परि-प्रेक्ष्य में परिभाषित करने, सौंदर्यबोध के नए आयाम उद्घाटित करने और 'छायावृत्ति' की सही परख-पहचान कराने को कृत संकल्प है। इसमें आंगिक रूपांकन, अतींद्रिय रसास्वादन, आघ्राण गंध-मादन, अस्पर्श छुअन एवं अमूर्त ध्वनि बिंब संयोजन का सारगर्भ विवेचन है, साथ ही वय, वर्ण, गति, प्रकृति आदि से संबंधित सौंदर्य-संभार का तथातथ्य विमर्श भी। कुल मिला कर सुदृढ़ स्वाध्याय, गहन मनन एवं निरपेक्ष निर्णय की नीयत से लिखा गया यह प्रबंध छायावाद के सर्वांग मूल्यांकन का प्रपूरक एक छायावादी काव्य कोश है। मूल्य : 40.00

निराला और मुक्त छंद

शिवमंगल सिद्धांतकर

हिंदी में मुक्तछंद के प्रवर्त्तक निराला और मुक्तछंद पर यह पहली पुस्तक है जिसमें इस विषय को इतनी गहराई और व्यापकता के साथ प्रतिपादित किया गया है। लेखक ने निरपेक्ष रूप से अंग्रेजी और फ्रांसीसी मुक्तछंद के विकास के समानांतर हिंदी मुक्तछंद के आरंभ और विकास को रख कर एक प्रामाणिक विवेचन प्रस्तुत किया है। मूल्य : 18.00

दि मैकमिलन कंपनी आफ इंडिया लिमिटेड

दिल्ली बंबई कलकत्ता मद्रास